

इकाई-1

द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय विकास

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बदलता स्वरूप
- 1.3 युद्धोत्तर विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ
 - 1.3.1 यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त
 - 1.3.2 एशिया और अफ्रीका में जागरण
 - 1.3.3 परमाणु युग का सूत्रपात
 - 1.3.4 द्वि-ध्रुवीयता का विकास
 - 1.3.5 साम्यवाद का विस्तार
 - 1.3.6 शीत युद्ध का प्रारम्भ
 - 1.3.7 सैनिक संगठनों का निर्माण
 - 1.3.8 गुटनिरपेक्षता का उदय
 - 1.3.9 साम्राज्यवाद एवं उपनियेशवाद का अल्ला
 - 1.3.10 संयुक्त राष्ट्र संघ की बढ़ती भूमिका
 - 1.3.11 तीसरी दुनिया का बढ़वा महत्व
 - 1.3.12 राष्ट्र मण्डल की शक्ति में निरन्तर हास
 - 1.3.13 उत्तर-दक्षिण संबंध
 - 1.3.14 दक्षिण-दक्षिण संबंध
 - 1.3.15 यूरोपीय एकीकरण के प्रयास
 - 1.3.16 साम्यवाद का विघटन
 - 1.3.17 शीत युद्ध का अन्त
 - 1.3.18 जर्मनी का एकीकरण
 - 1.3.19 एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था
 - 1.3.20 आर्थिक उदारीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति।
- 1.4 सारांश

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत 1945 के पश्चात् विश्व राजनीति के बदलते परिदृश्य में शक्ति सन्तुलन का वर्णन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को समझ सकेंगे,
- युद्धोत्तर विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय विकास की मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकेंगे,
- संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ का महाशक्तियों के रूप में उद्गम के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

विश्व के राजनीतिक क्षितिज पर 20वीं शताब्दी में तीन ऐसे अवसर आये जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है। पहला अवसर प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद (1919), दूसरा अवसर द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद (1945) तथा तीसरा अवसर सोवियत संघ के विघटन के बाद 1991। इनके परिणाम स्वरूप विश्व शक्ति सन्तुलन में बुनियादी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। बदलते अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कब किस तरफ परिवर्तन हो जाय, इसका अनुमान लगाना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। विश्वव्यापी राजनीतिक परिवर्तनों की तीव्रता एवं स्वरूप, समय एवं परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का स्वरूप सीमित तथा तीव्रता न्यून होती है और कभी इनका स्वरूप व्यापक एवं प्रकृति इतनी क्रांतिकारी होती है कि यह वर्तमान विश्व व्यवस्था एवं आधारभूत मान्यताओं को बदल देती है।

द्वितीय विश्व युद्ध ने भी उन प्राचीन मान्यताओं एवं परिस्थितियों को समाप्त कर दिया जिन पर 19वीं शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था आधारित थी। युद्धोपरांत की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अनेक वैचारिक एवं विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ क्रियाशील हुई और विश्व दो परस्पर विरोधी खेमों में विभाजित हो गया। शास्त्र-प्रतियोगिता, विश्व के विभिन्न भागों पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा और संयुक्त राष्ट्र संघ की उपेक्षा इस व्यवस्था के स्थाई अंग बन गए। शीत युद्ध की रोजनीति ने विश्व राजनीति को प्रभावित करना प्रारम्भ किया तो अधिकांश रूप से विश्व राजनीति का स्वरूप लगभग एकपक्षीय होकर रह गया तथा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वाशिंगटन और मास्को के इदं गिर्द केन्द्रित हो गई। इस प्रकार परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति सन्तुलन में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगा, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत से नए कारकों का उदय, नवीन परिस्थितियों का निर्माण तथा पुराने समीकरणों में बदलाव से इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे।

1.2 1945 के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बदलता स्वरूप

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति बस्तुतः सत्ता-सन्तुलन पर आधारित थी। द्वितीय महायुद्ध ने यूरोपीय शक्तियों की क्षमता का अत्यधिक हास कर दिया और इटली, जर्मनी, जापान (धुरी राष्ट्रों) की पराजय हुई। जर्मनी दो राज्यों में विभक्त हो चुका था और इटली के उपनिवेश उससे छीन लिए गये थे। ब्रिटेन और फ्रांस विजयी राष्ट्र होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक दुर्बल हो गये थे। वे स्वयं अपने आर्थिक पुनर्निर्माण एवं औद्योगिक विकास के लिए अमरीकी सहायता पर निर्भर करते थे। उनके उपनिवेशों में, राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण, स्वतन्त्रता की लहर व्याप्त थी। युद्ध के बाद वे एक के बाद, एक होकर स्वतन्त्र होने लगे थे। उपनिवेशवाद के पतन की प्रक्रिया से यूरोपीय शक्तियाँ राजनीतिक दृष्टि से कमज़ोर होने लगी और वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाने की स्थिति में नहीं थीं। यूरोप में शक्ति शून्यता की स्थिति पैदा हो गई थी। यहाँ साम्यवाद के प्रसार की सम्भावनायें बढ़ गईं। जिसके परिणाम स्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका और पूर्व सोवियत संघ अपनी सर्वोच्च स्थिति बनाने की होड़ में शीत युद्ध के अभूतपूर्व दुंदू में फंस गये। इस शीत युद्ध की वजह से विश्व दो खेमों में विभाजित हो गया। दोनों महाशक्तियाँ, संयुक्त राज्य अमरीका तथा भूतपूर्व सोवियत संघ शीतयुद्ध में उलझ गये। शीत युद्ध के कारण विश्व में हथियारों, न केवल पारम्परिक हथियारों अपितु परमाणु हथियारों के लिए भी बड़े पैमाने पर होड़ प्रारम्भ हुई। पूरब-पश्चिम के संघर्ष में विचारधारा की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई। शीत युद्ध के समय छोटे-छोटे राज्यों के बीच अनेक वास्तविक व छाया युद्ध हुए। जैसाकि, भारत-पाकिस्तान तथा ईरान-इराक के बीच होने वाले युद्ध, इनमें से कुछ युद्धों, जैसे उत्तर कोरिया व दक्षिण कोरिया के बीच होने वाला संघर्ष, मिश्र के खिलाफ ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त आक्रमण, भारत पर चीन का आक्रमण विश्व शांति के लिए खतरा बन गये। अनेक अवांछित हस्तक्षेपों तथा महाशक्तियों की संचालित कार्यवाईयों, जैसे हंगरी, चेकोस्लोवाकिया तथा अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप, वियतनाम युद्ध, क्यूबाई संकट, हेती, इराक, आदि में अमरीका के सक्रिय हस्तक्षेप से विश्व, विनाश की स्थिति में पहुँच गया। इन सभी कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप एवं सन्दर्भ में व्यापक परिवर्तन हुए।

1.3 युद्धोत्तर विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था निरन्तर परिवर्तित होती रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुरूप अनेक नवीन प्रवृत्तियों का समावेश होता रहता है तथा नये मुद्दे विकसित होते रहते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक परिवर्तन आये जिससे सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था परिवर्तित हो गई है। वर्तमान विश्व के नूतन परिवर्तनों की चर्चा करते हुए टी.वी. कालिजार्वी लिखते हैं, “आजकल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें पूर्ववर्ती राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपों में परिवर्तित हो रही है, साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्रीय राज्य एक बड़े संघ में विलीन होते जा रहे हैं।” अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले द्वितीय महायुद्धोत्तर तत्त्वों और उभरती हुई प्रवृत्तियों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जो निम्नलिखित प्रकार से है।

1.3.1 यूरोपीयन प्रभुत्व का अन्त- द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व विश्व-राजनीति पर यूरोप का वर्चस्व था। इस युग में यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति हुई। यूरोपीयन राष्ट्रों ने विश्व के सभी भागों में विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस की गणना महान् शक्तियों में की जाती थी, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध ने यूरोपीयन राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को क्षत-विक्षत कर दिया, जिससे विश्व में ‘यूरोपीय प्रभुत्व’ का अन्त हुआ। इस विश्व युद्ध ने यूरोपीय राष्ट्रों को आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से कमज़ोर बना दिया। प्राचीन काल में ‘विश्व को अनुशासित करने वाला यूरोप’ (World Dominating Europe) विश्व युद्ध के बाद ‘नवीन समस्या प्रधान यूरोप’ (New problem Creating Europe) बन गया। जर्मनी और इटली बर्बाद हो गये और ब्रिटेन तथा फ्रांस की स्थिति भी कमज़ोर हो गई तथा वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं रहे। विश्व का नेतृत्व यूरोप के हाथ से निकलकर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के हाथों में आ गया।

1.3.2 एशिया और अफ्रीका में जागरण - प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व एशिया और अफ्रीका विभिन्न यूरोपीयन देशों के साम्राज्य के अंग थे, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद इन साम्राज्यों का अंत हुआ और विश्व पटल पर कई “नए राज्य” और साथ ही साथ नई व्यवस्थाएँ उभरीं। दोनों महाद्वीपों के राष्ट्र स्वतन्त्र होते गये। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के पतन ने स्वतन्त्र तृतीय विश्व को जन्म दिया, इस कारण से विश्व में स्वतन्त्र राष्ट्रों की संख्या में बढ़ि हुई। वर्तमान में एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देश स्वतन्त्र हो चुके हैं। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 51 थी जो वर्तमान में 192 है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकी राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के सूर्य का उदय हुआ। ‘एशिया एशिया वालों के लिए’ और ‘अफ्रीका अफ्रीकियों के लिए’ जैसे नारे यह प्रदर्शित करते हैं कि विश्व के मामलों के एकमात्र कर्ता-धर्ता के रूप में यूरोप का महत्व बहुत कुछ घट गया है। अतः यह कहना समीचीन होगा कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का केन्द्र यूरोप नहीं रहा, बल्कि एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के नये राष्ट्रों का महत्व बढ़ गया है।

1.3.3 परमाणु युग का प्रादुर्भाव - द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका ही एकमात्र आणविक या परमाणु हथियारों से सम्पन्न देश था। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विश्व में परमाणु हथियारों के निर्माण की होड़ चली। सोवियत संघ, साम्यवादी चीन, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने परमाणु हथियार विकसित किए। संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच ‘शीत-युद्ध’ के समय में परमाणु हथियार विकसित करने की जबरदस्त प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई। फलस्वरूप विश्व में परमाणु हथियारों का भारी जखीरा एकत्रित हो गया। परमाणु हथियारों की विनाशकारी क्षमता ने सभी को चिंतित कर दिया। अतः इस युग में निःशस्त्रीकरण की बात अर्थहीन हो गई। परमाणु हथियारों के सर्वनाश करने की सामर्थ्य के कारण मैक्स लर्नर आज के युग को ‘अतिमारकता का युग’ (The age of overkill) कहते हैं। इंसे एच कार का मत है कि “परमाणु हथियारों की भयानकता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि में युद्ध की छाया सदैव घूमती रहती है।” वर्तमान में भारत, पाकिस्तान, उत्तरी कोरिया, इजरायल, दक्षिणी अफ्रीका, यूक्रेन, बेलारूस के पास परमाणु हथियार हैं।

1.3.4 द्विधुक्तीयता का विकास-द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। विश्व युद्ध के पूर्व-काल की परम्परागत महाशक्तियाँ ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, स्पेन और आस्ट्रिया इस महायुद्ध में धराशाही हो गयीं। और उनके स्थान पर नई महाशक्तियाँ नई मान्यताओं को लेकर विश्व मंच पर अवतरित हुईं। 1960 के दशक के प्रारम्भ से ही

महाशक्तियों के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ का अभ्युदय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में युग-प्रवर्तक घटना बन गयी। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दो प्रतिमान स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे जिन्हें 'द्वि-ध्रुवीयता' का नाम दिया गया। सारी विश्व राजनीति इन दो ध्रुवों के इर्द-गिर्द केन्द्रित हो गई।

1.3.5 साम्यवाद का विस्तार- इटली तथा जर्मनी साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे, परन्तु उनकी पराजय के पश्चात् मित्र-राष्ट्रों में इतनी क्षमता नहीं रही कि वे साम्यवाद को पूर्वी यूरोप अथवा एशिया में रोक सकें। ज्यों-ज्यों जर्मनी विश्व युद्ध में हारता गया त्यों-त्यों पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का प्रसार होता गया। बर्लिन के पतन तक सोवियत संघ की सेना ने पूर्वी यूरोप के समस्त देशों पर अधिकार कर लिया एवं वहां साम्यवादी सरकारों की स्थापना की।

चीन में साम्यवादियों ने च्यांग-काई शेक के विरुद्ध किये गये संघर्ष में उसे पराजित कर चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना की। साम्यवादी केवल इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने एशिया के पिछड़े हुए देशों में साम्यवाद का प्रचार प्रारम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप लगभग प्रत्येक देश में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ा। इस प्रकार पूर्वी एशिया के देशों में साम्यवाद और जनतन्त्र के बीच संघर्ष छिड़ा। जो कालान्तर में विश्व शान्ति के लिए भयानक चुनौती बनी। इससे शीतयुद्ध की भयानकता से बृद्धि हुई।

1.3.6 शीत युद्ध का प्रारम्भ - युद्धोत्तर विश्व में शीत-युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बनी। जहाँ द्वितीय विश्व युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ ने परस्पर कन्धे से कन्धा मिलाकर 'धुरी राष्ट्रों' (इटली जर्मनी तथा जापान) के विरुद्ध संघर्ष किया था, वहाँ युद्ध के बाद इन राष्ट्रों में सहयोग के आधार समाप्त हो गए। इस महायुद्ध के पश्चात् अमरीका की यह धारणा बन गई कि सोवियत संघ ही उसके लिए एक वास्तविक खतरा है। सोवियत साम्यवादी व्यवस्था पश्चिमी व्यवस्था के लिए एक चुनौती है तथा अपने अस्तित्व के लिए उसे साम्यवाद का अवरोध किया जाना चाहिए लेकिन इसके लिए युद्ध का सहारा नहीं लिया जा सकता था। अतः उन्होंने अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए राजनीतिक या कूटनीतिक प्रचार-युद्ध प्रारम्भ किया, जिससे दोनों महाशक्तियों में 'शीत युद्ध' का श्रीगणेश हुआ।

5 मार्च 1946 को फुल्टन नगर में भाषण देते हुए इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमंत्री विन्सटन चर्चिल ने कहा कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की संस्थापना को रोकना चाहिए। स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन स्थापित किया जाना चाहिए। साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए हर सम्भव नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन लिया जाना चाहिए।" 1946 के फुल्टन भाषण में चर्चिल ने सोवियत संघ की कड़ी आलोचना करते हुए यूरोप में पूर्व और पश्चिम के बीच एक 'लोह आवरण' नीति की बकालत की जिसके परिणाम स्वरूप दोनों महाशक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव की स्थिति तथा तृतीय विश्व युद्ध की आशंका को जन्म दिया। यह ऐसी स्थिति थी जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखते हुए परस्पर शत्रु-भाव रखते थे और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक दूसरे की स्थिति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न करते रहते।

1.3.7 सैनिक संगठनों द्वारा गठबन्धनों का निर्माण- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ही अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठनों तथा सन्धियों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में 'नाटो', 'सीएटो', 'सेन्टो' तथा 'अन्जुस' आदि प्रादेशिक संगठन बनाये गये। दूसरी ओर सोवियत संघ के नेतृत्व में 'वारसा पैक्ट' का गठन हुआ। इन संगठनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। अतः सैनिक संगठनों के निर्माण से साए था कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सैनिक प्रवृत्तियों का हास नहीं हुआ था। ये सैनिक सन्धियां शान्ति स्थापना के लिए की गयी थीं, परन्तु इनमें युद्ध की उत्तेजना छिपी हुई थी।

1.3.8 गुटनिरपेक्षता का उदय- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर गुटनिरपेक्षता का उदय द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। इसका अभ्युदय संयुक्त अमरीका एवं पूर्व सोवियत संघ के पारस्परिक संघर्ष, सन्देह और अविश्वास के बातावरण में शीत युद्ध के आगमन शक्ति शिविरों तथा सैनिक गुटों के निर्माण आदि के कारण हुआ। वस्तुतः शीत युद्ध ने गुटनिरपेक्षता की समझ तैयार करने में एक उत्प्रेरक का कार्य किया, जिससे इसका उद्देश्य नवोदित राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा करना एवं युद्ध की सम्भावनाओं को रोकना था। गुटनिरपेक्ष अवधारणा के उदय के पीछे मूल धारणा यह थी कि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से मुक्ति पाने वाले देशों को

शक्तिशाली गुटों से अलग रखकर उनकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जाए। इस अवधारणा के मुख्य प्रणेता पण्डित नेहरू, कर्नल नासिर तथा मार्शल टीटो थे जिन्होंने गुटनिरपेक्षा की आवाज बुलन्द की। आज 118 देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े हुए हैं।

1.3.9 साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का अन्त- जब ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन व हालैण्ड जैसे यूरोपीय देश एशिया अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका में अपने साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। यूरोपीय शक्तियों ने तीसरी दुनिया के देशों के संसाधनों का दोहन किया तथा वहाँ के लोगों को करीब चार सदियों तक साम्राज्यवादी नीतियों के जोर पर गुलाम बनाये रखा। और जैसा कि स्वाभाविक था, इस शोषण के अपने अंतर्विरोध भी पैदा हुए। राष्ट्रीय मुक्ति एवं लोकतान्त्रिक आन्दोलन इसी अंतर्विरोध के नतीजे थे। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि अर्थात् 1919-1939 के बीच उपनिवेशों की जनता द्वारा औपनिवेशिक सत्ता के उस अधिकार को चुनौती दी गयी जिसके जरिये वह तीसरी दुनिया के लोगों को गुलाम बनाती थी और उन पर दमन करती थी। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् एशिया का जागरण बीसवीं शताब्दी की एक प्रमुख घटना थी। इसके कारण विश्व का राजनीतिक मानचित्र बदल गया तथा अनेक देश स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों के रूप में उभरे। एशिया अफ्रीका के देशों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ जिससे साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की पराजय हुई।

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के अन्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है, जो इस प्रकार है—(1) अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति बन गयी, (2) यूरोप अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य केन्द्र नहीं रहा, शक्ति संघर्ष तथा सत्ता का केन्द्र एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की ओर बढ़ी, (3) उपनिवेशवाद के अन्त से यूरोपीय राज्य आर्थिक राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से कमज़ोर हो गये, (4) उपनिवेशवाद के अन्त से कुछ नयी महाशक्तियों के उदय की सम्भावनाएं बनी, इस दृष्टि से दो राज्यों के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं— भारत और चीन

1.3.10 संयुक्त राष्ट्र संघ की बढ़ती भूमिका- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अलग-अलग कार्यों के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन गठित किए गए। उनमें संयुक्त राष्ट्र संघ सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इसका गठन विश्वशांति और सुरक्षा के लिए किया गया था। जहाँ इसकी स्थापना के समय इसके मात्र 51 सदस्य थें, वहाँ आज यह संख्या बढ़कर 192 हो गई है। विश्व के राष्ट्रों में मित्रता, सहयोग और एकता की भावना को विकसित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की उल्लेखनीय भूमिका रही है। तृतीय विश्व युद्ध को रोकने में भी इस रांगड़न का गहत्त्वार्थी योगदान रहा है। इस रांगड़न ने विश्व शान्ति, गानवाधिकार, विश्व बन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भावना को विकसित करने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है। अतः इस संघ ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक और मानवीय समस्याओं के समाधान करने का प्रयास किया है। यह पिछले 60 वर्षों से न केवल कायम है, बल्कि भावी चुनौतियों का सामना करने के लिए इसने अपने आप में सुधार करने की दिशा में भी प्रयत्नशील है।

1.3.11 तृतीय विश्व का बढ़ता महत्व - द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ ही साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के पतन की प्रक्रिया ने 'तृतीय विश्व' का जन्म दिया। तृतीय विश्व का आशय एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिकी राष्ट्रों से लगाया जाता है। ये राष्ट्र विकासशील और अविकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं, जो सदियों तक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के अधीन थे और जो अब अपनी गरीबी और पिछड़ेपन से उबरकर आधुनिकता एवं सम्पन्नता की ओर बढ़ना चाहते हैं। आज तृतीय विश्व के नवोदित राष्ट्र अविकसित और छोटे होने के बावजूद अपनी संख्यात्मक शक्ति के कारण राष्ट्र संघ में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करते हैं। महासभा में अपनी संख्या-बल के कारण विकासशील देश इसकी निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की स्थिति में हैं।

1.3.12 राष्ट्र मण्डल की शक्ति में निरन्तर हास- राष्ट्र मण्डल (कॉमन वैल्य) संयुक्त राष्ट्र संघ और असंलग्न राष्ट्रों के संगठन के पश्चात् तीसरा बड़ा संगठन है। यह ऐसे सम्प्रभु और स्वतन्त्र राष्ट्रों का संगठन है जो कभी ग्रेट ब्रिटेन के उपनिवेश थे। इस संगठन की अध्यक्षा ग्रेट-ब्रिटेन की महारानी है। एक बहुजातीय संस्था के रूप में जिस प्रभावशाली राष्ट्र मण्डलीय संगठन का विस्तार हुआ था, वह विगत कुछ वर्षों से शिथिल पड़ता जा रहा है। ब्रिटिश राजनीतिक और आर्थिक नीतियों ने, प्रजातीय असहिष्णुता ने, अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए कुछ राष्ट्रों द्वारा राष्ट्र मण्डलीय मंच के दुरुपयोग करने, नवपृथकतावाद और कुछ अन्य समस्याओं ने राष्ट्र मण्डल की बुनियाद को खोखला कर दिया है। अब यह एक औपचारिक संगठन मात्र बनकर रह गया है। अब इसकी स्थिति तथा भूमिका के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लग गया है।

1.3.13 शीत युद्ध का अन्त- शीत युद्ध द्वितीय युद्धोतर राजनीति की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। तत्कालीन महाशक्तियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता इसका मूल आधार थी। अमरीका और पूर्व सोवियत संघ में तनाव और संघर्ष को ही शीतयुद्ध कहा जाता था। सन् 1991 के काल में साम्यवादी खेमे और पूर्व सोवियत संघ के विघटन से एक महाशक्ति विलुप्त हो गई। इस शक्ति के विलुप्त होते ही अर्थात् अमरीकी महाशक्ति की प्रतिद्वन्द्वी शक्ति के अभाव में शीतयुद्ध समाप्त हो गया। इसके साथ ही महाशक्तियों के पारस्परिक टकराव, संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता की नीति समाप्त हो गई। शीत युद्ध की समाप्ति और समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए गोबाच्चोव की पेरेस्वोइका, ग्लास्नोस्त और विस्तालीनीकरण की नीतियों की निर्णायक भूमिका रही है। इसके लिए गोबाच्चोव को अन्तर्राष्ट्रीय जगत का असाधारण व्यक्ति माना गया।

1.3.14 साम्यवाद का विघटन- विश्व राजनीति में 1989 की घटनाओं को “भूकंप” की संज्ञा दी गयी है। इन घटनाओं से समाजवादी खेमा अंततः तिर बितर हो गया, सच्चाई तो यह है कि घटनाक्रम इतनी तेजी से बदले कि सभी सकते में आ गये—वे भी जो इन घटनाओं के महज तटस्थ दृष्टा थे और वे भी जो इसमें भागीदार बने हुए थे। जिस तेजी से समाजवादी खेमे के देशों का एक के बाद एक पतन हुआ, वह अपने आप परिवर्तन की प्रक्रिया का एक निर्णायक अंग बन गया।

इस प्रक्रिया ने अंततः जनता के असंतोष में उबाल ला दिया। शासन के अधिनायकवादी चरित्र ने आग में धी का काम किया। लोग कम्युनिस्ट पार्टियों के शासन करने के अधिकार को ही चुनौती देने लगे। उन्हें शासन का निर्देश गवारा नहीं हो रहा था। आर्थिक विफलता से अधिकांश पूर्व यूरोपीय देशों में सामाजिक तनाव व विवाद न केवल और तेज हुए, अपितु पुख्ता भी हुए। अंततः इस विफलता से विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद की लहर उमड़ पड़ी। इस तरह उस पुरानी व्यवस्था एवं शासन का, जो द्वितीय संरचना पर आधारित था, अन्त हो गया। फलतः पूर्वी यूरोप में चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पौलेण्ड, रोमानिया, अलबानिया में साम्यवाद का पतन हो गया।

1.3.15 उत्तर-दक्षिण संवाद- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उत्तर-दक्षिण संवाद, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक ज्वलन्त और चर्चित प्रसंग है। उत्तर-दक्षिण वार्ता, मौटे तौर पर एक बेहतर विश्व की दिशा में बदलाव का संवाद है जिसमें पूरा विश्व समुदाय एक दूसरे के साथ बराबरी के आधार पर और एक जैसी परिस्थितियों में सहयोग और एकता से रह सकें। यह एक संवाद है जो इतिहास द्वारा निर्मित विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच खड़े किए गए अवरोधों को धराशायी करना चाहता है। यह ऐतिहासिक गलतियों को सुधारना चाहता है और विकास में तमाम देशों के लिए बराबरी की हिस्सेदारी का समर्थक है। परन्तु यह किसी दूसरे के मूल्य पर ऐसा नहीं करना चाहता। बल्कि, यह संवाद उच्चतर आकाशों द्वारा प्रेरित है। यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक नई विश्व व्यवस्था को बढ़ावा देने की बात करता है। यह तभी किया जा सकता है जब संवाद में शामिल दोनों पक्ष, उत्तर और दक्षिण, इस मूल तथ्य को समझें। समय-समय पर उत्तर-दक्षिण संवाद के प्रख्यल भी किये गये हैं। इन प्रयत्नों के माध्यम से इनके बीच विवाद के विविध प्रसंगों पर खुलकर चर्चा हुई और दोनों पक्षों को एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने का अवसर प्राप्त हुआ। दोनों पक्षों में सहयोग और विश्वास का बातावरण विभिन्न सम्मेलनों के प्राच्यम से बना। ऐसे उदाहरणों में पेरिस सम्मेलन, (1975), ब्रान्ट आयोग (1977), केनकुन सम्मेलन (1981) तथा उरुग्वे वार्ता (1986-94) को प्रमुख रूप से गिनाया जा सकता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उत्तर-दक्षिण संवाद की सार्थकता का प्रश्न आज भी एक मुख्य प्रश्न बना हुआ है।

1.3.16 दक्षिण-दक्षिण संवाद- दक्षिण-दक्षिण संवाद से आशय है विकासशील, अल्पविकसित और पिछड़े हुए देशों के बीच सभी क्षेत्रों में सहयोग की भावना विकसित करना। 1945 के पश्चात् एशिया, अफ्रीका, और लैटिन अमेरिका अर्थात् तृतीय विश्व के राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना विकसित हुई। इस संवाद का वास्तविक रूप से सूत्रपात 1968 में नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय अंकटाड सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग की आवश्यकता पर जोर देने के साथ प्रारम्भ हुआ था। इसके पश्चात् समय-समय पर दक्षिण-दक्षिण सहयोग अंसलग्न राष्ट्रों के शिखर सम्मेलनों, ग्रुप-7 की बैठकों तथा जी-15 सम्मेलन इत्यादि मंचों से सार्थक संवाद प्रारम्भ हुए।

दक्षिण और दक्षिण के राज्यों के सहयोग और संवाद को जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने प्रभावित किया उनमें तेल उत्पादक देशों के सामूहिक निर्णय और उसके दबाव, विकसित राष्ट्रों की सहायता राशि में कमी, अफ्रीका में खाद्य पदार्थों की कमी तथा तृतीय

विश्व के देशों में ऋणग्रस्तता प्रमुख थी। इन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिणामस्वरूप दक्षिण-दक्षिण के राज्यों के बीच आवश्यक सहयोग के क्षेत्रों की खोज आरम्भ हुई।

1.3.17 यूरोपीय एकीकरण के प्रयास- द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व और पश्चात् यूरोपीय देशों के बीच संस्थागत आधार पर एकता स्थापित करने के अनेक प्रयास किए गए थे। यूरोपियन यूनियन का प्रार्द्धभाव 1952 में होता है जब 6 देशों ने मिलकर यूरोपीय कोयला और स्टील समुदाय बनाने का निर्णय किया। तब किया गया कि वे अपने कोयला और स्टील संसाधनों के लिए साझा बाजार का निर्माण करेंगे जिसका नियन्त्रण स्वतन्त्र राष्ट्रीयेतर सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा किया जायेगा। ये देश थे- बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली तथा नीदरलैण्ड। तथापि महत्वपूर्ण उपलब्धि 1958 में ही प्राप्त हो सकी यानी जब रोम सन्धि (1957) प्रभावी हुई। रोम सन्धि की वजह से यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा यूरोपीय परमाणु ऊर्जा समुदाय (यूकेटॉम) अस्तित्व में आये। नतीजतन साझा बाजार की परिधि का विस्तार कोयला और स्टील से लेकर प्रायः सभी महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियों तक हो गया। इन सन्धियों का मूलभूत उद्देश्य एक ऐसे यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना करना था जहाँ यूरोपीय समुदाय के देशों के बीच वस्तुओं, व्यक्तियों, सेवाओं व पूँजी का मुक्त आवागमन हो सके।

1973 में तीन अन्य देश- इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड तथा डेनमार्क- यूरोपीय समुदाय के सदस्य बने। 1973 में जहाँ इसकी सदस्य संख्या 9 थी, वह 1 जनवरी 1995 तक बढ़कर 15 हो गयी। 1958 से 1992 के बीच कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिनकी वजह से यूरोपीय समुदाय का रूप परिवर्तन हुआ और आज वह यूरोपीय यूनियन के रूप में स्थापित है। 9 दिसम्बर 1991 को नीरदलैण्ड के नगर मेस्ट्रिच नामक स्थान पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यों का सम्मेलन हुआ जिसमें इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार 1 जनवरी, 1994 को स्वतन्त्र यूरोपीय मुद्रा संस्थान की स्थापना हुई। 1999 में संयुक्त यूरोपीय मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ तथा यूरोपीय राष्ट्रों की पृथक-पृथक मुद्राएँ समाप्त हो गईं। इसके अतिरिक्त राजनीति संघ, संघीय ढांचे, विदेशी मामले, प्रतिरक्षा, यूरोपीय संसद तथा एक सुरक्षा व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। परिणामस्वरूप चार दशकों में यूरोपीय संघ विश्व के सबसे बड़े व्यापारिक खण्ड तथा आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है। यह आर्थिक सत्ता के मुख्य केन्द्र के रूप में उभर कर सामने आई।

1.3.18 जर्मनी का एकीकरण- द्वितीय विश्व युद्धोन्तर विश्व राजनीति जर्मनी के विभाजन से आच्छादित रही। बस्तुतः तत्कालीन महाशक्तियों के शीत युद्ध में तीव्रता लाने में जर्मनी और बर्लिन के विभाजन का मुख्य हाथ था। जब तक ये विभाजित रहे तब तक वातावरण तनावपूर्ण रहा। किन्तु 3 अक्टूबर, 1990 को 45 वर्षों के बाद जर्मनी का एक बार पुनः एकीकरण हो गया। अगस्त, 1961 में बर्लिन की दीवार खड़ी करके दो भागों में बांट दिया था। इस दीवार को गिराने का कार्य 9 नवम्बर, 1989 को प्रारम्भ हुआ तथा 4 अक्टूबर 1990 को हेल्मुट कोल के नेतृत्व में एकीकृत जर्मनी की नई सरकार पदासीन हुई। इसके साथ ही जर्मनी यूरोप का एक शक्तिशाली देश बन गया। इस प्रक्रिया में सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्चोव की मुख्य भूमिका रही।

1.3.19 आर्थिक उदारीकरण का बढ़ता वर्चस्व- 1990 के दशक में विश्व रंग मंच पर विश्व अर्थव्यवस्था के निर्माण का एक स्वागत योग्य परिवर्तन परिलिखित हुआ है। सोवियत संघ का विघटन, शीत युद्ध की समाप्ति, जर्मनी का एकीकरण, पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी देशों का अवसान तथा अमरीका व पश्चिम यूरोप के देशों द्वारा अपनाई गई आर्थिक उदारीकरण की नीतियों की सफलता से विश्व की आर्थिक स्थितियों में बदलाव आये हैं। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की प्रवृत्ति ने इस बात को निश्चित किया है कि बदली हुई विश्व व्यवस्था में राजनीति की अपेक्षा आर्थिक पहलू कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए विश्व के अधिकांश देश शक्ति निर्माण के स्थान पर आर्थिक व्यवस्था को मजबूत बनाने में संलग्न हैं। साम्यवादी व्यवस्थाओं के विघटन के बाद निजीकरण का विश्व अर्थव्यवस्थाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रसार, तकनीकी-हस्तान्तरण, व्यापार में अभिवृद्धि आदि बातों ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को बाह्य प्रभावों के लिए खुला रखना अनिवार्य बना दिया है। इन्हीं सब बातों से विश्व की अर्थव्यवस्थाओं का भू-मण्डलीकरण सम्भव हो सका है।

1.3.20 एक-धूम्रीय विश्व व्यवस्था- द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व दो शक्ति गुटों में विभाजित हो गया जिनमें एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरे गुट का नेता पूर्व सोवियत संघ था। किन्तु 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में अर्थात् 1991 हूँ में सोवियत संघ के विघटन के बाद विश्व में एकमात्र महानतम शक्ति है और वह है संयुक्त राज्य अमेरिका। अब विश्व राजनीति

दो भीमाकार दैत्यों के बीच का संघर्ष नहीं रह गया। साम्यवाद के अवसान के साथ ही दूसरे भीमाकार दैत्य की अकाल मृत्यु हो गयी। वस्तुतः खाड़ी युद्ध में अमरीकी विजय ने उसकी शक्ति, प्रभाव एवं वर्चस्व में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी। यही कारण है कि आज अमरीका का संयुक्त राष्ट्र संघ पर वर्चस्व स्थापित हो गया है। विश्व राजनीति भी उससे नियन्त्रित होने लगी है।

आज अमरीका विश्व की एकमात्र महाशक्ति है। वह विश्व का एकमात्र पुलिसमैन, दादा या महानायक है। उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता, उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, उसे कोई ललकार या चुनौती नहीं दे सकता। रूस, साम्यवादी चीन भी उसे चुनौती देने की स्थिति में नहीं हैं।

1.4 सारांश

संक्षेप में, द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अनेक नवीन प्रवृत्तियों घटनाओं तथा नये विकासों के लिए बहुचर्चित हैं। शीत-युद्ध, द्विगुटीय विश्व राजनीति, वैचारिक संघर्ष, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय, एशिया और अफ्रीका का नवजागरण, तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की बढ़ती हुई संख्या संयुक्त राष्ट्र संघ का विश्व संस्था के रूप में अभ्युदय आदि ऐसे विकास हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों ने विश्व का सम्पूर्ण परिदृश्य बदल डाला है। अब विश्व राजनीति का केन्द्र-बिन्दु यूरोप न रहकर एशिया और अफ्रीका बन गये। वर्तमान में द्विध्रुवीय संरचना के स्थान पर एकध्रुवीय विश्व की अवधारणा प्रचलन में है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धनात्मक प्रश्न

1. द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय विकास की विवेचना कीजिए?
2. द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का यांत्रिकण कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप बताइये?
2. विश्व युद्धोत्तर महाशक्तियों के उदय के कारणों को लिखो?
3. द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित हुई?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दो प्रवृत्तियाँ बताइये?
2. द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित हुई?

इकाई-2

शीत युद्ध

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 शीत युद्ध का अर्थ एवं परिभाषा
- 2.3 शीत युद्ध की प्रकृति
- 2.4 शीत युद्ध के कारण
 - 2.4.1 ऐतिहासिक कारण
 - 2.4.2 पारस्परिक सन्देह एवं अविश्वास
 - 2.4.3 युद्धोत्तर उद्देश्यों में अन्तर
 - 2.4.4 सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना
 - 2.4.5 सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण
 - 2.4.6 ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना
 - 2.4.7 यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप
 - 2.4.8 टर्की पर सोवियत संघ का दबाव
 - 2.4.9 अणुबम का आविष्कार
 - 2.4.10 सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान
 - 2.4.11 पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूस विरोधी अभियान
 - 2.4.12 सोवियत संघ द्वारा बीटो का बार-बार प्रयोग
 - 2.4.13 सोवियत संघ क्रोलैण्ड-लीज सहायता बन्द करना
 - 2.4.14 शक्ति-संघर्ष
- 2.5 शीत युद्ध : विकास एवं विस्तार के चरण
 - 2.5.1 शीत युद्ध के विस्तार का प्रथम चरण (1946-1953)
 - 2.5.2 शीत युद्ध के विस्तार का द्वितीय चरण (1953-1958)
 - 2.5.3 शीत युद्ध के विस्तार का तृतीय चरण (1959-1962)
 - 2.5.4 शीत युद्ध के विस्तार का चतुर्थ चरण (1963-1979)
 - 2.5.5 शीत युद्ध के विस्तार का पंचम चरण (1980-1989)
- 2.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत युद्ध के प्रभाव
 - 2.6.1 विश्व दो गुटों में विभाजित होना
 - 2.6.2 भय और सन्देह का वातावरण
 - 2.6.3 आणविक युद्ध का भय
 - 2.6.4 सैनिक गठबन्धन

- 2.6.5 संयुक्त राष्ट्र संघ को पंगु बनाना
 - 2.6.6 निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधा
 - 2.6.7 सुरक्षा परिषद् को लकवा लगा जाना
 - 2.6.8 तृतीय विश्व युद्ध का खतरा बढ़ना
 - 2.6.9 मानव कल्याण के कार्यक्रमों की उपेक्षा
- 2.7 सारांश

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत शीत युद्ध का अभिप्राय, उत्पत्ति, विकास के विभिन्न चरण एवं आयामों के विषय में उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- शीत युद्ध की परिभाषा के विषय में जान सकेंगे,
- शीत युद्ध की प्रकृति को समझ सकेंगे,
- शीतयुद्ध की प्रकृति के कारणों को समझ सकेंगे।
- शीत युद्ध के प्रतिमानों तथा आयामों को समझ सकेंगे,
- शीत युद्ध के प्रभाव एवं परिणाम का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

‘तोपों से भी अधिक उच्च स्वर से विश्व में विचारों का गर्जन था’ – पैकटन

विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में शीत युद्ध की प्रगति का इतिहास सन् 1917 की उस ‘रूसी बोल्शेविक क्रांति’ से माना जाता है, जिसने एक नई व्यवस्था को जन्म दिया और कार्लमार्क्स के विचारों को मूर्ति रूप प्रदान किया। इस व्यवस्था को एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था के रूप में जाना गया जो शोषणात्मक पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करती थी। सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था के अभ्युदय से सम्पूर्ण पूँजीवादी विश्व भयभीत हो दहो तथा सोवियत संघ के नये राज्य को नष्ट करने के लिए एकजुट हो गया। परिणामस्वरूप दो वैचारिक पक्ष अस्तित्व में आये। एक ओर साम्यवादी सोवियत संघ था तो दूसरी ओर अपने मित्र राष्ट्रों सहित पूँजीवादी अमरीका। इन दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति जो दृष्टिकोण था, उससे स्पष्ट परिलक्षित होने लगा कि भविष्य में इन दोनों के मध्य आपसी मतभेद तथा तनाव बढ़ते ही रहेंगे। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर इस काल में ‘शीत युद्ध’ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था तथापि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में पूँजीवाद बनाम साम्यवाद का वैचारिक संघर्षशील समीकरण विश्व के राजनीतिक क्षितिज पर स्थापित हो गया।

1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध, मित्र राष्ट्रों तथा धुरी राष्ट्रों के नाम से बने दो गुटों के बीच लड़ा गया। इसी दौरान जर्मनी तथा सोवियत संघ के बीच गैर आक्रामक सन्धि हुई। परन्तु शांति सन्धि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप युद्ध में सोवियत संघ मित्र राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया। इससे मित्र राष्ट्रों की शक्ति दुगनी हो गई और मित्र राष्ट्रों ने युद्ध में विजय प्राप्त की। इस युद्ध में पुरानी पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था का अन्त हुआ जिसका विश्व घर छापक प्रभाव था। युद्ध के अंत में, विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया— पश्चिमी या पूँजीवादी गुट, जिसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका करता था तथा दूसरा समाजवादी गुट जो सोवियत संघ के नेतृत्व में था। इस तरह से संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ जैसी दो महाशक्तियों के रूप में अभ्युदय हुआ। ये दोनों गुट दो वैचारिक रूप से विरोधी राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते थे इसलिए उनके बीच टकराव का होना स्वाभाविक था। यह टकराव या संघर्षशील अवस्था शीतयुद्ध में परिवर्तित हो गयी क्योंकि दोनों महाशक्तियों में कटुता, तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य में अनवरत वृद्धि हुई और समूचे विश्व में एक प्रकार का भय, अविश्वास और तनाव का वातावरण बना। एक नये संघर्ष के युग का आविर्भाव हुआ जिसे ‘सशस्त्र शान्ति का युग’ कहा गया। यह युद्ध वैचारिक युद्ध के रूप में भी जाना गया।

2.2 शीत युद्ध का अर्थ एवं परिभाषा

“शीत युद्ध” शब्द की उत्पत्ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुई है। इस शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य अमरीका तथा भूतपूर्व सेवियत संघ की गैर-सैनिक शत्रुता को दर्शाने के लिए किया गया जो द्वितीय विश्व युद्ध से ही चली आ रही थी। समय व्यतीत होने के साथ इसका प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक अवधारणा के रूप में होने लगा। “शीत युद्ध” शब्द का अर्थ यह है कि राष्ट्रों के बीच वास्तविक युद्ध (अर्थात् सैनिक शत्रुता) के बगैर ही शत्रुता की स्थिति का बने रहना है। इस शीत युद्ध में वैचारिक घृणा, राजनीतिक अविश्वास, कूटनीतिक जोड़-तोड़, सैनिक प्रतिस्पर्द्धा, जासूसी, मनोवैज्ञानिक युद्ध और कटुतापूर्ण सम्बन्ध प्रमुख रहे।

शीत युद्ध वस्तुतः युद्ध के नर-संहारक दुष्परिणामों से बचते हुए युद्ध द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त उद्देश्यों को प्राप्त करने की एक नूतन अवधारणा थी। शीत युद्ध एक प्रकार का वाक्-युद्ध था, जिसे कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रचार साधनों से लड़ा गया। इसमें प्रचार द्वारा विरोधी गुट के देशों की जनता के विचारों को प्रभावित करके उसके मनोबल को क्षीण करने का प्रयत्न किया गया और अपनी श्रेष्ठता, शक्ति एवं न्यायप्रियता का तार्किक दावा किया गया। वस्तुतः ‘शीत युद्ध’ एक प्रचारात्मक युद्ध था जिसमें एक महाशक्ति दूसरे के खिलाफ घृणित प्रचार का सहारा लेती थी। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध भी था, जिसमें शत्रु को अकेला करने और मित्रों की खोज करने की चतुराई का प्रयोग किया जाता रहा है, यही युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ‘शीत युद्ध’ के नाम से विख्यात है। इसे मनोवैज्ञानिक युद्ध की भी संज्ञा दी गई।

डॉ. एम. एस. राजन के शब्दों में, “‘शीत-युद्ध शक्ति-संघर्ष की राजनीति का मिला-जुला परिणाम है, दो विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है, दो प्रकार की परस्पर पद्धतियों का परिणाम है, विरोधी चिन्तन पद्धतियों और संघर्ष पूर्ण राष्ट्रीय हितों की अभिव्यक्ति है जिनका अनुपात समय और परिस्थितियों के अनुसार एक-दूसरे के पूरक के रूप में बदलता रहा है।”

जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, “‘शीत युद्ध पुरातन शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का नया रूप है। यह दो विचारधाराओं का संघर्ष न होकर दो भीमाकार शक्तियों का आपसी संघर्ष है।’”

के. पी. एस. मेनन के अनुसार, “‘शीत युद्ध जैसा कि विश्व ने अनुभव किया, दो विचारधाराओं, दो पद्धतियों, दो गुटों, दो राज्यों और जब वह अपनी पराक्रान्ति पर था तो दो व्यक्तियों के मध्य उप्र संघर्ष था, दो विचारधाराएँ थीं—पूँजीवाद और साम्यवाद। दो पद्धतियाँ थीं—संसदीय लोकतन्त्र और जनवादी जनतन्त्र-बुजुआ जनतन्त्र और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। दो गुट थे—नाटो और वारसा पैकट। दो राज्य थे—संयुक्त राज्य अमेरिका और सेवियत संघ। दो व्यक्ति थे—जोसेफ स्टालिन और जॉन फास्टर डलेस।’”

जॉन फॉस्टर डलेस के शब्दों में, “‘शीत युद्ध नैतिक दृष्टि से धर्म-युद्ध था, ‘अच्छाइयों के लिए बुराइयों के विरुद्ध, सत्य के लिए गलतियों के विरुद्ध और धर्म-प्राण लौंगों के लिए नास्तिकों के विरुद्ध संघर्ष था।’”

लुई हाले ने अपनी पुस्तक दी कोल्ड वार एज हिस्ट्री 1967 (The Cold war as History 1967) में लिखा है, “‘शीत युद्ध परमाणु युग में एक ऐसी तनावपूर्ण स्थिति है जो शस्त्र-युद्ध से एकदम भिन्न किन्तु उससे अधिक भयानक युद्ध है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के स्थान उन्हें उलझा दिया। विश्व के सभी देश और सभी समस्याएँ चाहे वह वियतनाम हो, चाहे कश्मीर या कोरिया हो अथवा अरब-इजरायल संघर्ष हो— सभी शीत युद्ध में मोहरों की तरह प्रयुक्त किये गये।’”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शीत युद्ध वास्तविक युद्ध नहीं था अपितु युद्ध का बातावरण था, जिसमें प्रत्येक महाशक्ति स्वयं को शक्तिशाली और दूसरे को कमज़ोर बनाने के उग्र एवं नरम कूटनीतिक दाव-पेंचों का सहारा लेता रहा। दोनों पक्ष आपस में शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखते हुए भी एक दूसरे के प्रति शत्रुभाव रखते थे और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को कमज़ोर तथा शक्तिहीन बनाने का प्रयास करते थे। इसे उष्ण शान्ति का भी नाम दिया गया।

2.3 शीत युद्ध की प्रकृति

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीतयुद्ध की प्रकृति के सम्बन्ध में हम यही कहना चाहेंगे कि यह द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही विकसित हुई। वैसे भी 5 वें दशक में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से इसकी प्रकृति दो परस्पर विरोधी विचारधारा के रूप में ही

उभर कर आयी थी। इस शीत युद्ध के दौरान ही दोनों विचारधाराओं वाली महाशक्तियों पूर्व सोवियत संघ ने नव स्वतंत्र राष्ट्रों को अपने-अपने प्रभाव में या खेमें में शामिल करने के लिए हथियार, अर्थिक सहायता, सैनिक सहायता और शस्त्र-सप्लाई खुले रूप से उपलब्ध कराई थी। यही नहीं, सामूहिक सुरक्षा प्रणाली को अपनाते हुए सैनिक संधियां तथा क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण भी तीव्र गति से किया गया था।

इसमें अप्रत्यक्ष रूप से शस्त्रीकरण, हस्तक्षेप, जासूसी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सर्वोच्चता का निरन्तर प्रयोग होता रहा। यदा-कदा कुछ स्थानों पर सैनिक हस्तक्षेप तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही, नाकाबंदी एवं चुनौती इसके अनिवार्य अंग बन गये थे। यह वास्तव में युद्ध न होकर ऐसी स्थिति का निर्माण करता है जिसमें अशान्ति, तनाव और संघर्ष राजनीतिक रूप से चलते रहे हैं। शीत युद्ध एक ऐसी स्थिति थी जिसे मूलतः ‘उष्ण शान्ति’ कहा जाना चाहिए। इस में न तो ‘पूर्ण रूप से शान्ति’ रहती है और न ही ‘वास्तविक युद्ध’ होता है, बल्कि शान्ति एवं युद्ध के बीच की अस्थिर, स्थिति बनी रहती है। हालांकि वास्तविक युद्ध नहीं होता, किन्तु यह स्थिति युद्ध को प्रथम सीढ़ी होती है जिसमें युद्ध के वातावरण का निर्माण होता रहता था। प्रसिद्ध विद्वान इसाक डोयशर ने लिखा है, ‘शीत युद्ध को प्रकृति ट्रॉट्स्की की ब्रेस्ट लिटोस्क में की गयी प्रसिद्ध घोषणा की याद दिलाने वाली थी जहाँ उन्होंने कहा था- न युद्ध और न शान्ति।’

2.4 शीत युद्ध के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तथा पूर्व सोवियत संघ के विघटन तक अर्थात् चार दशक से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण विश्व की राजनीति पर शीत युद्ध छाया रहा। यह विश्व युद्ध दो विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर लड़ा गया और सम्पूर्ण युद्ध दो विरोधी गुटों में बंटकर रह गया था। एक गुट का नेतृत्व पूँजीवादी देश अमरीका कर रहा था और दूसरे गुट का संचालन समाजवादी देश पूर्व सोवियत संघ कर रहा था। महायुद्ध की समाप्ति के बाद दोनों महाशक्तियाँ युद्ध से प्राप्त लाभ की स्थिति को बनाये रखना चाहती थीं और अपने प्रभाव के विस्तार के लिए उत्सुक थीं। उनकी आकंक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक शक्ति दूसरे के लिए बाधक थीं। दोनों ही पक्षों को एक दूसरे से कुछ शिकायतें थीं। वे शिकायतें ही मूल रूप में शीत-युद्ध की उत्पत्ति का कारण थीं। यहां शीत युद्ध की उत्पत्ति के निम्नलिखित कारण इस प्रकार हैं-

2.4.1 ऐतिहासिक कारण- सोवियत संघ में 1917 को बोल्शेविक क्रान्ति होना पश्चिमी विचारधारा के राष्ट्रों के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन गयी थी। पश्चिमी राष्ट्रों ने इसका विरोध भी किया था, ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस जैसे राष्ट्र साम्यवाद का प्रसार रोकने का अथक प्रयास भी कर रहे थे। इसी दृष्टि का विरोध करने रूपरूप ब्रिटेन ने 1923 तक, अमेरिका ने 1933 तक मान्यता नहीं दिये जाने से रूस पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति नाराजगी रखता था। जर्मनी जैसे राष्ट्रों को आशंका की दृष्टि से देखने के बजाए रूस पर अधिक नजर रखने की जरूरत समझ रहे थे। ब्रिटेन ने तुष्टिकरण की नीति इसी दृष्टिकोण से अपनायी कि जर्मनी को मदद देकर रूस के साम्यवाद को रोका जा सकता है। इसे हम शीत-युद्ध की उत्पत्ति का ऐतिहासिक कारण भी मान सकते हैं।

2.4.2 पारस्परिक सन्देह एवं अविश्वास- द्वितीय महायुद्ध के दौरान पारस्परिक सहयोग करते हुए भी दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे को सन्देह, आशंका एवं अविश्वास की दृष्टि से देखती थीं। वस्तुतः पश्चिम के देशों के लिए जर्मनी और पूर्व सोवियत संघ दोनों ही सिर दर्द थे। अतः वे दोनों से छुटकारा पाना चाहते थे या कम-से-कम उनकी शक्ति का हास चाहते थे। यही कारण है कि युद्ध के दौरान जब पूर्ववर्ती सोवियत संघ ने पश्चिम में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने के लिए अनुरोध किया तो ब्रिटेन व अमरीका ने उसे टालने की कोशश की। पश्चिम पूर्ववर्ती सोवियत संघ को पूर्णतः ‘आहत एवं शक्तिहीन’ होते देखना चाहता था। पश्चिम को इसमें कुछ सफलता भी मिली क्योंकि युद्ध में पूर्व सोवियत संघ को सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी थी। परन्तु इसने पारस्परिक अविश्वास को जड़ों को गहरा कर दिया।

2.4.3 युद्धोन्तर उद्देश्यों में अन्तर- अमरीका और सोवियत संघ के युद्धोन्तर उद्देश्यों में भी स्पष्ट भिन्नता थी। भविष्य में जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षित रहने के लिए सोवियत संघ, यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहता था, तो पश्चिमी देशों के मत में जर्मनी की पराजय से सोवियत संघ के अत्यन्त शक्तिशाली हो जाने का भय था। यह देश सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव-क्षेत्र को सीमित रखने के लिए कटिबद्ध थे। इसके लिए आवश्यक था कि पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतान्त्रिक शासनों की स्थापना हो जिसके लिए स्वतंत्र निर्वाचन कराने आवश्यक थे। स्टालिन के मत में इन देशों में स्थापित साम्यवादी सरकारें ही वास्तविक जनतान्त्रिक सरकारें थीं।

2.4.4 सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान याल्टा सम्मेलन (1945) को रूस के याल्टा नामक स्थान पर आयोजित हुआ । जिसमें रूस, ब्रिटेन, अमेरिका के शासनाध्यक्ष-स्टालिन, चर्चिल, रूजवेल्ट आदि इकट्ठे हुए और कुछ समझौते किये थे । पोलैण्ड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित 'लुबनिन शासन' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लन्दन शासन' के स्थान पर स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक शासन स्थापित करने का निर्णय लिया । लेकिन जैसे ही युद्ध का अन्त निकट दिखायी देने लगा स्टालिन ने अपने वचनों से मुकरना प्रारम्भ कर दिया । उसने अमरीकी और ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलैण्ड में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी तथा पोलैण्ड की जनतन्त्रवादी पार्टियों को मिलाने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी । उसने पोलैण्ड में अपनी संरक्षित लुबनिन सरकार को लादने का प्रयत्न किया । हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया में भी सोवियत संघ द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडाम सन्धियों का उल्लंघन किया गया । सोवियत संघ ने इन सभी देशों में लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया और सोवियत संघ समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं । सोवियत संघ की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्र-राष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया । मंचुरिया स्थित सोवियत फौजों ने 1946 के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहां प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान की और उनको सम्पूर्ण युद्ध सामग्री सौंप दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गयी थी । याल्टा समझौतों के विरुद्ध की गयी सोवियत कार्यवाहियों से पश्चिमी राष्ट्रों के हृदय में सोवियत संघ के प्रति सन्देह उत्पन्न होने लगा ।

2.4.5. सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण- सोवियत संघ ने अक्टूबर 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के सुझाव को स्वीकार कर लिया था । इसके अन्तर्गत यह निश्चित हुआ था कि सोवियत संघ का बल्गारिया तथा रूमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाय और यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाये । हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव माना जाय, किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद इन देशों में बाल्कन समझौते की उपेक्षा करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी दलों को खुलकर सहायता दी और वहां 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करा दी गयी । इससे पश्चिमी देशों का नाराज हो जाना स्वाभाविक था ।

2.4.6 ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर अधिकार जमा लिया था । यद्यपि युद्ध की समाप्ति के बाद अँगूल-अमरीकी सेना तो दक्षिण ईरान से हटा ली गयी, पर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इन्कार कर दिया । संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप ही सोवियत संघ ने बाद में वहां से अपनी सेनाएं हटायी । इससे भी पश्चिमी देश सोवियत संघ से नाराज हो गये और उसके प्रति अविश्वास की भावना का विकास हुआ ।

2.4.7 यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप- द्वितीय विश्व युद्ध के समय यूनान पर जर्मनी का आधिपत्य था । 1944 में उसके आधिपत्य की समाप्ति पर ब्रिटेन ने जर्मनी का स्थान ले लिया । लेकिन वहां गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसमें साम्यवादी छापामारों को यूगोस्लाविया, बुल्गारिया तथा रूमानिया द्वारा सहायता दी जा रही थी अतः यूनान के साम्यवादी बन जाने की पूरी सम्भावना उत्पन्न हो गयी थी यद्यपि अमेरिका के हस्तक्षेप के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाया, किन्तु फिर भी इस प्रश्न को लेकर सोवियत संघ तथा अमेरिका के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई ।

2.4.8 टर्की पर सोवियत संघ का दबाव- युद्ध के तुरन्त बाद सोवियत संघ ने टर्की पर कुछ भू-प्रदेश प्राप्त करने और वास्फोरस में नाविक अड्डा बनाने का अधिकार देने के लिए दबाव डालना शुरू किया । परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे । जब टर्की पर सोवियत संघ का हस्तक्षेप बढ़ने लगा तो अमरीका ने उसे चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जायेगा और मास्ता सुरक्षा परिषद् में रखा जायेगा ।

2.4.9 अणु बम का आविष्कार- शीत युद्ध के सूत्रपात का एक अन्य कारण अणु बम का आविष्कार था । यह कहा जाता है कि अणु बम ने हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्र-राष्ट्रों की मित्रता का भी अन्त कर दिया । संयुक्त राज्य अमरीका में अणुबम पर अनुसन्धान कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था । अमरीका ने इस अनुसन्धान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा, लेकिन सोवियत संघ से इसका रहस्य जान-बूझकर गुप्त रखा गया । सोवियत संघ को इससे जबर्दस्त आघात पहुंचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना । उधर अमरीका और ब्रिटेन को अणुबम के कारण यह अभिमान हो गया कि

अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस कारण भी दोनों पक्षों में मन-मुटाव बढ़ा। इस तरह से सोवियत संघ द्वारा अपनी उपेक्षा करने के कारण भी संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रति अविश्वास व्यक्त किया गया।

2.4.10 सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान- द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पक्षों में अमरीका की नीतियों के विरुद्ध घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमरीका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षेप तथा अन्सेटोप फैला और अमरीका ने अपने यहाँ बढ़ती हुई साम्यवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना प्रारम्भ कर दिया ताकि अमरीका में साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ने से रोका जा सके। सोवियत संघ ने अमरीका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। 1945 के आरम्भ में 'स्ट्रॉटजिक सर्विस' के अधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि उनकी संस्था के गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले पत्र अमेरिशया के हाथों में पहुंच गये हैं। 1946 में 'कैनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा गया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। ऐसी स्थिति में अमरीकी प्रशासन साम्यवादी सोवियत संघ के प्रति जागरूक हो गया और उन्होंने साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। सोवियत संघ ने अमरीका की इस कार्यवाही को अपने विरुद्ध समझा और उसने भी अमरीका की कटु आलोचना करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप शीतयुद्ध में वृद्धि हुई।

2.4.11 पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूस विरोधी अभियान शुरू करना- पश्चिमी राष्ट्रों की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान ने जलती आहुति में थी का काम किया। 18 अगस्त, 1945 को बर्नेज (अमरीकी राज्य सचिव) तथा बेविन (ब्रिटिश विदेश मन्त्री) ने अपनी संयुक्त विज़सि में सोवियत नीति के सन्दर्भ में कहा कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" 5 मार्च, 1946 को अपने फुल्टन भाषण में चर्चिल ने कहा कि "बाल्टिक में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक में ट्रीस्टे तक, महाद्वीप (यूरोप) में एक 'लौह आवरण' छा गया है। ये सभी प्रसिद्ध नगर और सोवियत क्षेत्र में बसने वाली जनता न केवल सोवियत प्रभाव में है बरन् सोवियत नियन्त्रण में है।" उसने आगे कहा कि "स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक अँग्ल-अमरीकी गठबन्धन की आवश्यकता है। चर्चिल के फुल्टन भाषण के दूरगामी परिणाम हुए। अप्रैल 1946 के उपरान्त दोनों पक्षों ने अपने मतभेदों को खुले आम प्रकट करना शुरू कर दिया जिसमें दोनों पक्षों का एक-दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण एक यथार्थ सत्य बन गया।

2.4.12 सोवियत संघ द्वारा 'वीटो' का बार-धार प्रयोग-सोवियत- संघ ने अपने 'वीटो' के अनियन्त्रित प्रयोगों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में अवरोध डालना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वह संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने वाली एक विश्व-संस्था न मानकर अमरीका के विदेश विभाग का एक अंग समझता था। इसलिए 'वीटो' के बल पर उसने अमरीका और पश्चिमी देशों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। सोवियत संघ द्वारा वीटो के इस प्रकार दुरुपयोग करने से पश्चिमी राष्ट्रों की यह मान्यता बन गयी कि वह इस संगठन को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इस कारण पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ की कटु आलोचना करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर विरोध और तनाव का बातावरण और अधिक बढ़ गया।

2.4.13 सोवियत संघ की लैण्ड-लीज सहायता बन्द करना- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत संघ को लैण्डलीज बोजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा था उससे वह असनुष्ट तो था ही क्योंकि यह सहायता अत्यन्त अल्प थी, किन्तु इस राशि को भी राष्ट्रपति टूमैन ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एकाएक बन्द कर दिया जिससे सोवियत संघ का नाराज होना स्वाभाविक था।

2.4.14 शक्ति-संघर्ष- शीत युद्ध का मुख्य कारण महाशक्तियों का पारस्परिक 'शक्ति संघर्ष' था। जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "शीत युद्ध शक्ति सन्तुलन के प्राचीन विचार की नवीन अभिव्यक्ति है।" द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीका और पूर्ववर्ती सोवियत संघ विश्व में दो महाशक्तियाँ रह गयी थीं। अन्य शक्तियाँ या तो लुप्त हो गई थीं या वे आर्थिक दृष्टि से इतनी निर्बल हो गई थीं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निर्णायक भूमिका अदा करने की स्थिति में नहीं थीं। अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों आदेश देने की स्थिति में थे। अतः इनमें विश्व-प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आपसी संघर्ष अनिवार्य अंग बन गया। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध को बढ़ाने में अनेक तत्वों की भूमिका रही है।

2.5 शीत युद्ध : विकास एवं विस्तार के चरण

“दो भीमकाय दैत्यों के मध्य संघर्ष समकालीन विश्व राजनीति की बड़ी विशेषता है।” -अज्ञात

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् दो महाशक्तियों संयुक्त-राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ का आविर्भाव हुआ। इस महायुद्ध के पश्चात् अमरीका की यह धारणा बन गई कि सोवियत संघ पश्चिमी राष्ट्रों के लिए वास्तविक सैनिक खतरा है। सोवियत साम्यवादी व्यवस्था पश्चिमी व्यवस्था के लिए एक चुनौती है तथा अपने अस्तित्व के लिए साम्यवाद का अवरोध किया जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए युद्ध का सहारा नहीं लिया जा सकता था। अतः उन्होंने अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए राजनीतिक प्रचार का मार्ग पकड़ा जिससे दोनों महाशक्तियों में ‘शीत युद्ध’ का आधुनिक रूप से श्रीगणेश हुआ। शीतयुद्ध के विभिन्न चरणों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है -

2.5.1 शीत युद्ध के विस्तार का प्रथम चरण (1946-1953)

1945 से 1953 तक पश्चिमी देशों और सोवियत संघ में संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियन्त्रण एवं नियमन, निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति रास्थियों, जर्मनी, बर्लिन, यूरोप की सुरक्षा रामरसाइओं, ऐशिया एवं अफ्रीका के अल्प-विकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष चलता रहा। सोवियत संघ द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्टूबर 1947 में यूरोप के नौ साम्यवादी देशों के ‘कोमिनफार्म’ की स्थापना के बाद शीत युद्ध की उग्रता बढ़ती गई। सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियन्त्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। इस तरह से शक्ति के दो गुट या शिविर बन गए और उनमें अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार के लिए जी-तोड़ स्पर्धा होने लगी। अतः इस काल में शीत युद्ध का वास्तविक रूप सामने आ जाता है। इस काल में अमरीका ने सोवियत संघ को घेरकर उसके विस्तार का प्रत्येक स्तर पर प्रतिरोध करने की नीति अपनायी। इस काल में शीतयुद्ध में वृद्धि के लिए कई घटनाएं प्रमुख थीं, जिन्हें निम्नलिखित रूप से गिनाया जा सकता है -

(1) चर्चिल का फुल्टन भाषण - 5 मार्च, 1946 को अमेरीका के फुल्टन स्थान पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल द्वारा दिये गये भाषण ने शीत युद्ध का शंखनाद कर दिया। फुल्टन नगर में भाषण करते हुए चर्चिल ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नयी विचारधारा का सूत्रपात किया। उसने कहा, “हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की संस्थापना को रोकना चाहिए।” उसने “स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए” एक ऑंगल-अमरीकी गठबन्धन की मांग की। उसका सुझाव था कि साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के हर सम्भव एवं नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाये। इसके बाद समूचे अमरीका में सोवियत विरोधी भावना का तूकान फूट पड़ा।

(2) टूमैन सिद्धान्त - 12 मार्च, 1947 को राष्ट्रपति टूमैन ने अमरीका की यह नीति घोषित की कि वह साम्यवाद के प्रसार को रोकेगा। इसका उद्देश्य था साम्यवाद के विस्तार को उसके तत्कालीन स्तर पर ही रोक देना। इसी बीच यूनान एवं टर्की में साम्यवादियों के नेतृत्व में लड़े जा रहे गृहयुद्ध का दमन करने के लिए इन देशों को वित्तीय सहायता देने की नीति को उचित ठहराते हुए तर्क दिया कि साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका को कहीं भी हस्तक्षेप करने का अधिकार है। टूमैन सिद्धान्त शीतयुद्ध को फैलाने के लिए एक नया दस्तावेज था जिसमें यह स्पष्ट अभिव्यक्ति की गई थी। वस्तुतः आर्थिक सहायता के माध्यम से साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने की अमेरीका ने जो नीति अपनायी उसे ‘टूमैन सिद्धान्त’ के नाम से पुकारा जाता है।

(3) मार्शल योजना - 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में शीत युद्ध और गहरा हो गया। अमरीका ने दिसम्बर, 1951 में यूरोप के पुनर्विकास का कार्यक्रम बनाया, जिसको मार्शल योजना के नाम से जाना जाता है। और यह टूमैन के सिद्धान्त का आर्थिक प्रतिपक्ष था क्योंकि टूमैन का सिद्धान्त मौलिक तौर पर एक राजनीतिक योजना थी। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका ने घोषणा की थी कि इस योजना का लक्ष्य केवल युद्ध द्वारा बर्बाद किये गए यूरोप का पुनर्निर्माण करना है, लेकिन सामान्यतः यह साम्यवादियों के बढ़ते प्रभाव से यूरोप को सुरक्षित करने का एक-मात्र प्रबल प्रयास था। इस प्रकार इस योजना ने अमरीका की ‘साम्यवाद के अवरोध की नीति’ को सफल बनाने में सहायता दी।

(4) बर्लिन की नाकेबन्दी - 1948 में सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी करके शीत युद्ध को चरम सीमा पर पहुँच

दिया। बर्लिन की नाकेबन्दी के अवसर पर दोनों ही पक्षों को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने का मौका मिला। इससे पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल, सड़क और जलीय यातायात बन्द कर दिया गया। बर्लिन शेष विश्व से अलग-थलग पड़ गया। सोवियत संघ इस कार्यवाही से पश्चिम बर्लिन के लोगों को अपनी ओर आने के लिए विवश कर देना चाहता था किन्तु पश्चिम के दशों ने लगभग एक वर्ष तक अनिवार्य आवश्यकता की सभी वस्तुएँ हवाई मार्ग द्वारा पश्चिम बर्लिन में पहुँचायी। अन्ततः विवश होकर सोवियत संघ को बर्लिन की नाकेबन्दी समाप्त करनी पड़ी।

(5) जर्मनी का विभाजन- 1948 में क्षत-विक्षत जर्मनी 'शीत युद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बन गया। ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया। इस तरह 21 सितम्बर, 1949 को संघीय जर्मन गणराज्य जिसे 'पश्चिमी जर्मनी' भी कहते थे, का उदय हुआ। मित्र-राष्ट्रों के इस कार्य के प्रत्युत्तर में 7 अक्टूबर, 1949 को जर्मनी के सोवियत संघ प्रभुत्व वाले क्षेत्र में जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य जिसे 'पूर्वी जर्मनी' भी कहते थे, की स्थापना कर दी गयी। इस प्रकार जर्मनी-पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी- में विभाजित हो गया। इसने शीतयुद्ध को तीव्र कर दिया।

(6) नाटो की स्थापना- सम्पूर्ण यूरोप में साम्यवादी आन्दोलन के उभार के कारण जहाँ सोवियत संघ तथा अमरीका के मध्य तनाव में वृद्धि हुई वहीं अमेरिका ने पश्चिमी शक्तियों के साथ सुरक्षात्मक गठबंधन करने का प्रस्ताव किया। इस प्रकार अप्रैल, 1949 में नार्थ अटलांटिक सन्धि पर हस्ताक्षर कर नॉर्ट अटलांटिक ट्रिटी आर्गेनाइजेशन (नाटो) की स्थापना की। प्रारम्भ में इसमें 12 देश सम्मिलित हुए, बाद में यूनान, तुर्की तथा पश्चिमी जर्मनी भी इसमें सम्मिलित हो गए।

(7) साम्यवादी चीन की क्रान्ति- यद्यपि शीतयुद्ध का अविर्भाव यूरोप में हुआ था किन्तु यह वहीं तक सीमित न रहकर उसके बाहर भी फैल गया था। यूरोप के तुरन्त बाद इसका प्रचार-प्रसार सुदूर पूर्व में भी हुआ। चीन में साम्यवादी क्रान्ति 1949 में सफल हुई। हालांकि वहाँ के च्यांग काई शेक ने संयुक्त राज्य अमरीका का पूरा समर्थन प्राप्त किया था लेकिन वह साम्यवादी क्रान्ति को रोकने में बिल्कुल असफल रहा। माओ के नेतृत्व में साम्यवादी क्रान्ति की सफलता के बाद जब च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार भागकर फारमोसा चली गयी तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासंघ एवं सुरक्षा परिषद् में अपनी सदस्यता प्राप्त करने की मांग की। संयुक्त राज्य अमरीका ने उसका विरोध किया। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाय। साम्यवादी चीन की सदस्यता को मांग को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अस्वीकार किये जाने की सोवियत संघ में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अतः चीन की सदस्यता के प्रश्न को लेकर सोवियत संघ और अमरीका के मध्य शीत-युद्ध में भयंकर कटुता और वैमनस्य पैदा हो गया।

(8) कोरिया युद्ध- कोरिया का युद्ध वास्तव में पश्चिमी गुट और साम्यवादी गुट के बीच युद्ध था। 1950 ई. में साम्यवादी उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। जिससे 'शीत युद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष में यह युद्ध सोवियत संघ एवं अमेरिका का युद्ध बन गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झाएंड के नीचे अनेक देशों की, विशेषतः अमेरिका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की, परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और 8 जून, 1953 को अन्ततः कोरिया में युद्ध-विराम हो गया, किन्तु दोनों गुटों के बीच शीत-युद्ध जारी रहा।

(9) जापान के साथ मित्र देशों की शान्ति-सन्धि- 1951 में अमेरिका द्वारा जापान के साथ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। सोवियत संघ के लिए यह बात असहनीय थी। उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुलकर आलोचना की। इससे शीतयुद्ध के वातावरण में वृद्धि हुई।

वस्तुतः इस चरण में शीत-युद्ध में काफी तीव्रता देखी गयी। इससे विश्व में अशान्ति का वातावरण बना।

2.5.2 शीत युद्ध के विस्तार का द्वितीय चरण (1953-1958)

टूमैन-स्टालिन युग के पश्चात् 1952 में अमरीका और सोवियत संघ के नेतृत्व में परिवर्तन आया और यह आशा की जाने

लगी कि शीत-युद्ध की उष्णता में ठण्डापन आयेगा। 1952 में हैरी एस ट्रॉमैन के स्थान पर आइजहॉवर सत्ता में आये। उधर सोवियत संघ में स्टालिन के स्थान पर उदारवादी एवं युवा नेता खुशचेव सत्ता में आये। इस युग में शीत युद्ध केवल यूरोप और सुदूर पूर्व तक सीमित नहीं रहा बल्कि पश्चिमी एशिया (मध्य पूर्व) और दक्षिण-पूर्व एशिया भी इसकी परिधि में आ गए। शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा दिया गया और सैनिक अड्डों के जाल का विस्तार किया गया। इस चरण में शीत युद्ध को बनाये रखने वाली प्रमुख घटनायें ये थीं-

(1) सोवियत संघ द्वारा आणविक परीक्षण- अगस्त, 1953 ई. में सोवियत संघ द्वारा प्रथम आणविक परीक्षण किया गया। यह बम हिरोशिमा पर डाले गये अणुबम से लगभग 800 गुणा ताकतवर था। इस तरह से हाइड्रोजन बम बनाने की क्षमता को प्राप्त करने से सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमरीका की बराबरी प्राप्त कर ली, इससे अमरीका संशक्ति हुआ ओर निःशास्त्रीकरण को दोनों पक्ष आवश्यक समझने लगे।

(2) हिन्द-चीन का प्रश्न- एक बार जब शीत युद्ध शुरू हो गया तो उसमें कोई कमी आयेगी इसकी परवाह किसी को भी न रही और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संघर्ष का अखाड़ा बन गई। इसी शीत युद्ध के चलते रहने से हिन्द-चीन का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का विषय बना। जिसमें फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हिन्द-चीन के संघर्ष में दोनों महाशक्तियों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया। अमरीका ने इस संघर्ष में फ्रांस का सहयोग किया तो सोवियत संघ ने हिन्द-चीन के लोगों का समर्थन किया। इस प्रकार हिन्द-चीन की समस्या शीत युद्ध का कारण बन गयी।

(3) सीटो का निर्माण- कोरिया का संकट समाप्त होते ही हिन्द-चीन शीत युद्ध का एक नया क्षेत्र बन गया। 1953 में चर्चिल ने संयुक्त राज्य अमेरिका के आगे यह प्रस्ताव रखा था कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए नाटो जैसे एक संगठन का निर्माण किया जाय। 8 सितम्बर, 1954 को सीटो सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि का प्रमुख उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन के प्रसार का विरोध करना था इस संधि पर अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, थाईलैण्ड और फिलिपीन्स ने हस्ताक्षर किए।

(4) वारसा पैक्ट का निर्माण- 14 मई, 1955 को सोवियत संघ और उसके पूर्वी यूरोप के साथी आठ देशों ने वारसा पैक्ट का निर्माण किया। इसके अनुसार यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। अतः वारसा पैक्ट की स्थापना के साथ ही शीत युद्ध ने संस्थागत रूप ले लिया। यह संगठन 'नाटो' के विरोध में अस्तित्व में आया।

(5) हंगरी की समस्या- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से हंगरी में कट्टरपंथी साम्यवादी नेता रकोसी का शासन था। वह स्टालिन द्वारा नामांकित नेता था। रकोसी का शासन स्टालिन के शासन से भी अधिक कठोर और अत्याचारी था। 23 अक्टूबर, 1956 को हंगरी के लोगों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह में जनता ने मांग की कि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना, सोवियत सैनिकों को हंगरी से हटाने और हंगरी में बहुलीय व्यवस्था लागू की जाए। इन माँगों से सोवियत संघ का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था अतः उसने 4 नवम्बर, 1956 को हंगरी के इस जन-विद्रोह को कुरतापूर्वक कुचल दिया। सोवियत सेनाओं को हंगरी से बापस बुलाने के एक प्रस्ताव को सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ ने 'निषेधाधिकार' का प्रयोग करके रद्द कर दिया। इस प्रकार हंगरी संकट में सोवियत संघ ने अपनी मनमानी की, अमरीका की विफलता उजागर हुई और गुटनिरपेक्ष देशों की साहस्रान्तरा प्रकट हुई और महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध में अभिवृद्धि हुई।

(6) आइजनहॉवर सिद्धान्त- 5 जनवरी, 1957 को अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर को अमरीकी कांग्रेस ने यह अधिकार दिया कि वह स्विवेक से अमरीकी सेना को मध्य-पूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए भेज सकता है। इससे शीत-युद्ध में भारी उग्रता आ गयी। 1955 से 1958 तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का भयंकर अखाड़ा बन गया। इसने इस प्रदेश में अमरीका वर्चस्व को बढ़ावा दिया।

2.5.3 शीत युद्ध के विस्तार का तृतीय चरण (1959-1962)

इस चरण में शीतयुद्ध 'पिंगलाव' और 'गरम युद्ध' के दो परस्पर विरोधी तत्त्वों में उलझता रहा। इसमें जहाँ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को कुछ प्रारम्भिक सफलतायें मिलीं वहाँ अक्टूबर, 1962 में क्यूबा संकट ने अत्यन्त विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी। इस काल की कतिपय महत्वपूर्ण घटनाएँ निम्नलिखित रूप से हैं-

(1) खुश्चेव की अमरीका यात्रा- 15 सितम्बर, 1959 को सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव ने अमरीका की यात्रा की। इस यात्रा से सोवियत संघ और अमरीका के मध्य सौहार्द और प्रेम का बातावरण बना। खुश्चेव ने आइजनहॉवर को सोवियत संघ आने का निमन्त्रण दिया। इस सौहार्द को 'कैम्प डेविड भावना' का नाम दिया गया और कहा गया था कि इस भावना से प्रेरित होकर दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने का सम्मिलित प्रयास करेंगे जिससे शीत-युद्ध की बर्फ़ पिछलेगी और विश्व शान्ति की नींबू ढूढ़ होगी। दोनों देशों के सम्बन्ध सुधर रहे थे। पर इसी बीच यू-2 घटना से शीत-युद्ध पुनः तीव्र हो गया, तथा इस भावना को भारी ठेस लगी।

(2) यू-2 विमान काण्ड- 1 मई, 1960 को अमरीका का जासूसी विमान यू-2 सोवियत संघ सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। इस विमान में जासूसी के अनेक उपकरण और यन्त्र पकड़ गये। यह विमान सोवियत सैनिक प्रदेश पर उड़ते-उड़ते विभिन्न स्थानों के फोटो ले रहा था। रूस ने यू-2 विमान को मार गिराया चालक पॉवर्स को पकड़ लिया तथा इसके चालक ने जासूसी की सब बाते स्वीकार कर लीं। इस घटना को लेकर सुरक्षा परिषद् में अमेरीकन प्रतिनिधि और सोवियत प्रतिनिधि में बाद-विवाद छिड़ गया। बात तब बहुत बढ़ गयी जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि सोवियत संघ में सामरिक गतिविधियाँ बढ़ी गुप्त रहती हैं। अतः अमरीका ऐसी जासूसी कार्यवाहियाँ करता रहेगा। खुश्चेव ने इस जासूसी उड़ान को अत्यन्त उत्तेजनात्मक कार्य और सोवियत संघ की प्रभुता का घोर अपमान माना। इस प्रकरण ने शीत-युद्ध में तूफान ला दिया।

(3) कैनेडी का राष्ट्रपति निर्वाचित होना- 8 नवम्बर, 1960 को अमरीकी राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में जॉन कैनेडी विजयी हुए। खुश्चेव ने कैनेडी को बधाई भेजते समय यह आशा व्यक्त की कि उनके निर्वाचन से सोवियत संघ और अमरीका के सम्बन्ध सुधरेंगे और शीत-युद्ध की उग्रता में कमी आयेगी। कैनेडी ने बधाई का उत्तर भेजते हुए लिखा कि उनका मुख्य कार्य 'न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति' की स्थापना के लिए प्रयास करना होगा। कैनेडी की नीतियों एवं दृष्टिकोण से ऐसा आभास होने लगा कि शीत-युद्ध में कमी आयेगी, अमरीका-सोवियत संघ निकट आ सकेंगे। कैनेडी ने अपने पूर्वाधिकारी के विपरीत सोवियत संघ के प्रति सहयोग की नीति अपनाने का नारा बुलन्द किया।

(4) क्यूबा की घटना- क्यूबा अमरीका के निकट एक टापू है, जहाँ 1958 में डॉ. फिडेल कास्त्रों के नेतृत्व में साम्यवादी शासन सत्ता में था। अमरीका के लिए यह चिन्ता का विषय था कि उसकी सीमा पर सोवियत संघ का क्यूबा के माध्यम से प्रभाव बढ़ रहा है। कास्त्रों की सरकार को सोवियत संघ से बड़ी सीमा में अर्थिक और सैनिक सहायता मिलाने लगी। 1962 के आस-पास तो सोवियत संघ ने क्यूबा में नये-नये मिसाइल अड्डे कायम कर दिये। इन अड्डों में रॉकेट-प्रक्षेपण-अस्त्र रखे जाने लगे। इससे संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया और वह कहा जाने लगा कि "स्वस्थ अमेरिकी शरीर में क्यूबा एक कोहड़ है।" इसलिए अमरीका इस शिशु साम्यवादी राज्य का दमन करना चाहता था। अतः 22 अक्टूबर 1962 को अमरीका ने क्यूबा की नाकेबंदी की घोषणा की। किन्तु सोवियत संघ के नरम रूख ने विश्वयुद्ध की आशंका को टाल दिया और अपने सैनिक अड्डों को हटा लिया। परिणामस्वरूप क्यूबा के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका के दृष्टिकोण में नम्रता आयी। इस प्रकार क्यूबा शीतयुद्ध का चरमोत्कर्ष था।

2.5.4 शीत युद्ध के विस्तार का चतुर्थ चरण (1963-1979)

इस चरण को हम 'तनाव में शिथिलता' या तनाव शैथिल्य या देतान्त का युग कह सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सोवियत संघ के खुश्चेव की शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की धारणा के अनुकूल ही अमेरिका के राष्ट्रपति जॉन कैनेडी भी तनाव को कम कर एक नई दिशा में बढ़ना चाहते थे। वास्तविकता यह थी कि इस काल में जहाँ एक और शीत युद्ध में शिथिलता आयी वहाँ दूसरी ओर महाशक्तियों में प्रतिद्रुतिता भी बनी रही। इस चरण की प्रमुख घटनाएं इस प्रकार हैं-

(1) परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि- 25 जुलाई, 1963 ई. को ब्रिटेन सहित दोनों देशों ने मास्को में वायुमण्डल, बाह्य अन्तरिक्ष और समुद्र में अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। 26 जुलाई, 1963 को अमरीकी जनता के नाम अपने एक भाषण में कैनेडी ने इस सन्धि को शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा और युगों से विश्व शान्ति की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों के मार्ग में एक ऐतिहासिक सीमा चिह्न बताया। यद्यपि यह सन्धि महाशक्तियों के विवादों का हल नहीं करती थी, फिर भी इसने शीत युद्ध में शिथिलता ला दी। यह दोनों महाशक्तियों के सहयोग और शान्ति की इच्छा का प्रतीक थी। इससे दोनों देश एक दूसरे के समीप आये।

(2) हॉट लाइन समझौता- इस सन्धि के साथ ही वाशिंगटन और क्रेमलिन में टेलीफोन और रेडियो का सीधा सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ। इस सम्पर्क का उद्देश्य महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों महाशक्तियों में सीधा सम्पर्क स्थापित करके भूल अथवा आकस्मक दुर्घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था। इससे गुरुनारपेक्षता के महत्व में कमी आई।

(3) परमाणु अप्रसार सन्धि 1968- 12 जून, 1968 को अमरीका सोवियत संघ और ब्रिटेन ने मिलकर अन्य देशों के साथ 'परमाणु अप्रसार सन्धि' पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि का मुख्य उद्देश्य अणु अस्त्रों के प्रसार को रोकना था। इसके अन्तर्गत अणु अस्त्र सम्पन्न देशों ने उन देशों को अणु अस्त्र तथा उनकी तकनीक न देने पर सहमति व्यक्त की जिनके पास यह तकनीक नहीं थी।

(4) मास्को-बोन समझौता 1970- यह समझौता जर्मन संघीय गणराज्य और पूर्व सोवियत संघ के बीच 10 अगस्त, 1970 को हुआ था। इसकी पुष्टि 17 मई, 1970 को की गई। यह समझौता यूरोपीय इतिहास में युग प्रवर्तक रहा है। इसने शीत युद्ध को एक मूल जड़ को समाप्त कर दिया। इस समझौते द्वारा मास्को और बोन ने शक्ति के प्रयोग का त्याग करने और वस्तुस्थिति अर्थात् यूरोप में युद्धोत्तर वास्तविक सीमाओं को स्वीकार करने का आश्वासन दिया। इसने पश्चिमी जर्मनी को जर्मन एकीकरण के प्रयासों को जारी रखने का अधिकार दिया।

(5) बर्लिन समझौता 1971- यह समझौता अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और पूर्व सोवियत संघ के बीच 3 सितम्बर, 1971 को सम्पन्न हुआ। इसने बर्लिन समस्या का समाधान कर दिया और यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन के मार्ग और प्रशस्त कर दिया। इसने पश्चिम बर्लिन को पश्चिम जर्मनी का एक अंग नहीं माना परन्तु इसने पश्चिम जर्मनी एवं पश्चिम बर्लिन के बीच पूर्वी जर्मनी के क्षेत्र से होकर माल व यात्रियों के आने जाने की सुविधा देने का मार्ग प्रशस्त किया। बर्लिन समझौता शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

(6) यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन- 3 से 6 जुलाई, 1973 तक फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में यूरोप के 35 राज्यों के विदेश मन्त्रियों ने भाग लिया। यूरोपीय राज्यों के इस सुरक्षा सम्मेलन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को समाप्त करके शीत-युद्ध का अन्त करना तथा सुरक्षा की नयी भावना को प्रोत्साहित करना था।

(7) द्वितीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन- नवम्बर 1974 का ब्लाडीवास्तोक शिखर सम्मेलन अमरीका और सोवियत संघ द्वारा तनाव कम करने के ही प्रयत्नों का परिणाम था। ब्लाडीवास्तोक में राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेजेनेव की यह मूलाकाल तथा उसमें सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते की रूपरेखा तैयार करना शीत-युद्ध को समाप्त करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

(8) तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन- तृतीय यूरोपीय सहयोग और सुरक्षा सम्मेलन बेलग्रेड में जून 1977 में हुआ। सम्मेलन में लगभग 50 यूरोपीय देशों ने भाग लिया। सम्मेलन में पूर्व और पश्चिम के बीच सुरक्षा तथा सद्भाव स्थापित करने के लिए यूरोपीय सहयोग को और अधिक दृढ़ बनाने के प्रयत्न पर विचार हुआ। यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत करने के लिए भी अनेक सुझाव दिये गये। इस यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन से तनाव शैथिल्य में उल्लेखनीय सहायता मिली।

2.5.5 शीत युद्ध के विस्तार का पंचम चरण (1980-1989)

यह शीत युद्ध का अन्तिम चरण माना जाता है। इस चरण में महाशक्तियों में सहयोग के साथ-साथ प्रतिद्वन्द्विता भी चलती रही। इसे दूसरे शीतयुद्ध के नाम से भी जाना जाता है। वैसे तो इस 'नये शीत युद्ध' का प्रारम्भ राष्ट्रपति रीगन के सत्ता में आते ही 'अमरीका को पुनः कार्य पर लगाने, अस्त्र शस्त्र उद्योग को बढ़ावा देने, गित्र राष्ट्रों का पुनः शस्त्रीकरण करने, शस्त्रों की होड़ को तेज करने और सोवियत संघ के प्रति कठोर नीति अपनाने की घोषणा' से माना जाता है। तथापि इससे पूर्व अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों और समस्याओं पर अमरीका और सोवियत संघ ने पृथक-पृथक पक्षों का साथ दिया। उदाहरणार्थ, 1971 में बंगलादेश के स्वाधीनता संघर्ष में अमरीका ने पाकिस्तान का साथ दिया तो सोवियत संघ ने भारत का पक्ष लिया। पश्चिमी एशिया के संघर्ष में अमरीका ने इजरायल की पीठ थपथपायी तो सोवियत संघ ने अरबों का पक्ष लिया तो पश्चिम और पूर्व में पुनः गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया। 1977 में इथोपिया-सोमालिया विवाद में सोवियत संघ ने सोमालिया के विरुद्ध इथोपिया को हथियार दिये और अमरीका ने सोमालिया की सहायता की। 1979 के अन्त में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप पर अमरीका ने बहुत हल्ला मचाया। राष्ट्रपति कार्टर ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को विश्व-शान्ति के लिए एक गम्भीर खतरे की संज्ञा दी। राष्ट्रपति कार्टर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध के दिनों में "सोवियत संघ

के साथ सम्बन्धों में निरन्तर बिगाड़ के कारण जिस तरह की राजनीतिक स्थिति पैदा हो गयी उससे अमरीका और सोवियत संघ में एक प्रकार के शीत-युद्ध का नवीनीकरण हो गया।”

1 सितम्बर, 1983 को दक्षिण कोरिया के यात्री विमान को सोवियत संघ द्वारा मार गिराये जाने की अमरीका में सबसे तीखी प्रतिक्रिया हुई, परिणामस्वरूप महाशक्तियों के बीच शीत-युद्ध में तेजी आई। अमेरिका ने इस घटना को अत्यन्त गंभीरता से लिया। इस विमान-काण्ड से शीत युद्ध का एक नाजुक दौर शुरू हो गया। सन् 1986 में अमरीकी ‘स्टारवार कार्यक्रम’ के विरुद्ध सोवियत संघ ने भी जवाबी कार्यवाही आरम्भ कर दी। फरवरी 1987 में सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध को समाप्त करते हुए परमाणु परीक्षण किया और अमरीका को चेतावनी दी कि यदि 1987 में अमरीका ने परमाणु परीक्षण किया तो वह भी इसे पुनः शुरू कर देगा। सन् 1988 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति रीगन द्वारा कांग्रेस को प्रस्तुत दस्तावेज यह संकेत करते थे कि सोवियत संघ के प्रति अविश्वास अब भी अमरीका की राष्ट्रीय नीति का आधार बना हुआ था।

यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्तन से लेकर सोवियत संघ के विखंडन तक के समय को शीतयुद्ध का युग कहा गया है, लेकिन वह एक सतत विशेषता नहीं थी और न ही समस्याएँ समान थी। शीत युद्ध ने विश्व शांति को अनेक चरणों में भंग किया, जो सामयिक रूप से चलती रही है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि पूरे शीत युद्ध के दौरान न समस्याएँ ही समान थी और न ही समय और काल समान था। प्रथम जर्मन संकट एक समस्या थी, फिर कोरिया का युद्ध अफगान संकट सामने आया, स्टार युद्ध एक भयानक कार्यक्रम था जो इस दिशा में संयुक्त राज्य अमरीका का निर्णय आदि ने शीत युद्ध की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने एवं उसको गति देने में विशेषरूप से सहायता की थी। इस प्रकार शीत युद्ध का ढाँचा एवं आयाम विभिन्न प्रकार के थे जिनके प्रभाव बहुमुखी थे। सन् 1991 ई. में सोवियत संघ के विघटन के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है। फलतः एकधूमीय विश्व में शीतयुद्ध की भीषणता समाप्त हो गई। अब विश्व के राष्ट्रों में आर्थिक स्पर्धा का दौर चल रहा है।

2.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत युद्ध के प्रभाव

शीत युद्ध के दौरान विश्व मूल रूप से वैचारिक आधारों पर दो गुटों में विभाजित हो गया था। 1917 में रूसी क्रान्ति ने विश्व में एक नयी व्यवस्था को जन्म दिया था। पूँजीवादी एवं साम्राज्यवादी शक्तियों ने सोवियत संघ के नए राज्य और शासन के विरुद्ध अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध घोषित कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद शीत युद्ध का जन्म यूरोप तथा विश्व के अन्य भागों में हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को सेक्ना था। साम्यवादी आंदोलन तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष, दोनों ने एक दूसरे को सहयोग करके एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों में चल रहे पुराने साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध कई क्षेत्रों में मिलकर संघर्ष किया। संयुक्त राज्य अमरीका तथा दूसरे साम्राज्यवादी देश सोवियत संघ के विस्तार को रोकने के लिए असमर्थ नजर आ रहे थे। क्योंकि साम्यवादी आंदोलन को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन समर्थन प्राप्त था इसलिए पाश्चात्य राष्ट्रों के लिए इस उभरते मुक्ति संघर्ष के उफान का दमन करना मुश्किल ही गया था। इसलिए उन्होंने विश्वभर में साम्यवादी राष्ट्रों की घेरेबंदी एवं गठबंधनों को विकसित करना आरम्भ कर दिया था। लेकिन शीत युद्ध के लिए साम्यवाद एकमात्र मुहान था। संघर्षरत राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों ने भी शीत युद्ध को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। चीन तथा सोवियत संघ के टकराव में राष्ट्रीय हितों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। शीतयुद्ध में धर्म भी एक मुहान था। शिया और सुनी के झगड़ों, हिन्दू, मुस्लिम धार्मिक मुद्दों ने क्रमशः ईरान-इराक तथा भारत-पाकिस्तान के बीच तनाव पैदा करके शीत युद्ध में वृद्धि की।

इस प्रकार शीत युद्ध ही एक ऐसा बिन्दु था जिसने विश्व राजनीति एवं राष्ट्रों को प्रभावित किया था, एशिया, अफ्रीका, लैटिन अफ्रीका के नव स्वतन्त्र राष्ट्र भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इसके साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व संस्थाओं को भी शीत युद्ध ने प्रभावित किया और विश्व को दो गुटों में विभक्त कर दिया। अतः शीत युद्ध के प्रभाव निम्नलिखित प्रकार हैं-

2.6.1 विश्व का दो गुटों में विभाजित होना- शीत युद्ध के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप द्विधूमीय बन गया। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ दो पृथक-पृथक गुटों का नेतृत्व करने लग गये। अब विश्व की समस्याओं को इसी गुटबन्दी के आधार पर आंका जाने लगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उलझनपूर्ण बन गयीं। चाहे कश्मीर समस्या हो अथवा कोरिया समस्या, अफगानिस्तान समस्या हो या अरब-इजरायल संघर्ष, उस पर गुटीय स्वार्थों के परिप्रेक्ष्य में सोचने की प्रवृत्ति बढ़ी। इस द्वि-धूमीय अवधारणा ने विश्व राजनीति में शक्ति-स्पर्धा को जन्म दिया।

2.6.2 भय और सन्देह का वातावरण- शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'भय' और 'सन्देह' के वातावरण को अनवरत रूप से बनाये रखा। राष्ट्र एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते रहे। इसने महाशक्तियों में वास्तविक युद्ध को जन्म नहीं दिया परन्तु 'प्रति युद्ध' तो होते ही रहे। इसने 'युद्ध के वातावरण' को बनाये रखा। नेहरू ने ठीक ही कहा था कि हम लोग 'निलम्बित मृत्यु दण्ड' के वातावरण में रह रहे हैं। शीत युद्ध, गरम युद्ध से भी भयानक युद्ध है क्योंकि यह 'चिन्तन', 'भावनाओं' एवं 'मनोवेगों' पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है जो अन्तः अपमानजनक, अशिष्ट एवं असभ्य व्यवहार को जन्म देता है। शीत युद्ध ने युद्धकालीन मित्रता को शत्रुता में, सहयोग को असहयोग में, विश्वास को अविश्वास में और मेल-मिलाप को विरोध में परिवर्तित किया।

2.6.3 आणविक युद्ध का भय- शीत युद्ध ने आणविक हथियारों के विकास को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। जिन राष्ट्रों के पास ये हथियार नहीं थे वे राष्ट्र भी इन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयासरत होने लगे। वैज्ञानिक अनुसंधान में तीव्रता लाइ जाने लगी। एक से बढ़कर एक आणविक हथियारों का निर्माण होने से यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि द्वितीय विश्व युद्ध के बजाए तीसरे विश्व युद्ध में आणविक हथियारों का प्रयोग भरपूर मात्रा में किया जायेगा। आणविक शस्त्रों के निर्माण की होड़ में वृद्धि हुई। आणविक शस्त्रों के परिप्रेक्ष्य में परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना ही बदल गयी। वर्तमान में अनेक राष्ट्रों के पास आणविक हथियारों का जखीरा है।

2.6.4 सैनिक गठबन्धन- शीत युद्ध ने विश्व में सैनिक सन्धियों एवं सैनिक गठबन्धनों का जन्म दिया। नाटो, सीटो, सेण्टो तथा वारसा पैकट जैसे सैनिक गठबन्धनों का प्रादुर्भाव शीत युद्ध का ही परिणाम था। इसके कारण शीत युद्ध में उग्रता आयी, इन्होंने निःशस्त्रीकरण की समस्या को और अधिक जटिल बना दिया एवं शस्त्रीकरण को बढ़ावा दिया।

2.6.5 संयुक्त राष्ट्र संघ को पंगु बनाना- द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व शक्ति, युद्ध, सहयोग, सुरक्षा की स्थापना के लिए स्थापित किया गया था। शीत युद्ध के कारण इसकी स्थिति, कार्य, शक्तियाँ कम होती गई। सुरक्षा परिषद् में वीटों का प्रयोग निरन्तर होने से यह नाममात्र की संस्था बन कर रह गयी। यहाँ तक कि कई बार तो संघ की स्थिति केवल एक मूकदर्शक से बढ़कर नहीं रही। संयुक्त राष्ट्र का मंच महाशक्तियों की राजनीति का अखाड़ा बन गया और इसे शीत-युद्ध के वातावरण में राजनीतिक प्रचार का साधन बना दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसके अस्तित्व को ही संकट उत्पन्न हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को भारी ध्वनि लगा।

2.6.6 निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधा- शीत युद्ध ने शस्त्रीकरण की होड़ को बढ़ावा दिया जिसके कारण विश्व शान्ति और निःशस्त्रीकरण की योजनाएं धूमिल हो गयीं। संसार के प्रत्येक राष्ट्र ने हथियारों की दौड़ में शामिल होकर समूची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ही हथियारों, प्रक्षेपास्त्रों, बमों से लैस कर दिया। सेनाओं को आधुनिकतम हथियार उपलब्ध कराये गये। सभी राष्ट्रों ने सैनिक व्यय में भारी वृद्धि कर दी थी। इसके साथ-साथ दीर्घकाल तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति शिखर वार्ता, निःशस्त्रीकरण वार्ता भी राजनीति का शिकार होती रही। इससे शीत युद्ध ने इसके मार्ग में अनेक कठिनाईयाँ खड़ी कर दी थी। आणविक परीक्षणों में निरन्तर वृद्धि होते रहने से विश्व शान्ति खतरे में पड़ गई।

2.6.7 सुरक्षा परिषद् को लकवा लग जाना- शीत युद्ध के कारण सुरक्षा परिषद् को लकवा लग गया। सुरक्षा परिषद् जैसी संस्था, जिसके कान्धों पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का त्वरित निर्णय लेने का भार था सोचियत संघ और अमरीका के संघर्ष का अखाड़ा बन गयी। इसमें महाशक्तियाँ अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण विभिन्न शान्ति प्रस्तावों को वीटो द्वारा बेहिचक रद्द करती रहती थी, वस्तुतः यहाँ इतना अधिक विरोध और वीटो का प्रयोग दिखायी देता था कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर विभक्त और विरोधी दलों में बंटा हुआ राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त है।

2.6.8 तृतीय विश्व युद्ध का खतरा बढ़ना- मानव जाति दूसरे विश्व युद्ध के भयानक परिणामों से उबर भी नहीं पाई थी कि शीत युद्ध के कारण तृतीय विश्व युद्ध के बादल मंडराने प्रारम्भ हुए चारों तरफ आतंक, संघर्ष, क्षेत्रीय युद्ध, प्रतिस्पर्धा, अविश्वास के बादल छाने लगे। एक छोटी से छोटी घटना से तृतीय विश्व युद्ध लड़ने की धमकी दी जाने लगी थी। कोरिया, क्यूबा, वियतनाम, बर्लिन भारत-पाक युद्ध आदि में तृतीय विश्व युद्ध की आशंका व्यक्त की जाने लगी थी।

2.6.9 मानवीय कल्याण के कार्यक्रमों की अपेक्षा- शीतयुद्ध के कारण विश्व राजनीति का केन्द्र बिन्दु सुरक्षा की समस्या तक ही सीमित रह गया और मानव कल्याण से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण कार्यों का स्वरूप गौण हो गया। शीत युद्ध के कारण ही तृतीय विश्व के विकासशील देशों की भुखमरी, बीमारी, बेरोजगारी, अशिक्षा, आर्थिक, पिछड़ापन, राजनीतिक अस्थिरता आदि अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का उचित निदान यथासमय सम्भव नहीं हो सका। क्योंकि महाशक्तियों का दृष्टिकोण मुख्यतः ‘शक्ति की राजनीति’ तक ही सीमित रहा।

2.7 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जिस भव, अविश्वास, सन्देह, तनाव और शक्ति-स्पर्धा के बातावरण को जन्म दिया उसके कारण विश्व में सीमित मुद्दों की एक लम्बी श्रृंखला का अभ्युदय हुआ। कोरिया, कांगो, हिन्द-चीन, अरब-इजरायल, भारत-पाक, ईरान-इराक युद्ध को इसी श्रृंखला में गिनाया जा सकता है। सन् 1989 में विश्व इतिहास में चमत्कारी मोड़ आया। शीत युद्ध के मूल कारणों की समाप्ति हो गयी। बर्लिन की दीवार का फत्तन हो गया, जर्मनी का एकीकरण हो गया, वारसा पैकट भंग कर दिया गया और दोनों महाशक्तियों के बीच सहयोग के मधुर सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। यह शीत-युद्ध की समाप्ति का ही परिणाम था कि खाड़ी संकट (1989-90) के समय सोवियत संघ और अमरीका ने मिलकर सुरक्षा परिषद् प्रस्तावों का समर्थन किया। इस प्रकार उस पुरानी व्यवस्था एवं शासन का, जो द्वितीय संरचना घर आधारित थी, अंत हो गया। आज ‘शीत युद्ध’ की भीषणता अतीत की वस्तु बन चुका है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध के उदय और विस्तार के मुख्य चरणों की विवेचना कीजिए ?
2. शीत युद्ध का प्रारम्भ करने वाली परिस्थितियों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए ?
3. “शीत युद्ध, युद्ध से भी भयानक युद्ध है।” इस कथन को ध्यान में रखते हुए शीत युद्ध के विश्व राजनीति पर प्रभावों की विवेचना कीजिए ?
4. शीत युद्ध वे बारणों वाले व्याख्या कीजिए ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध शब्द से आप क्या समझते हैं ?
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखें ?
 - ट्रूमैन सिद्धान्त
 - मार्शल योजना
 - नाटो
3. शीत युद्ध के ढाँचे एवं आयामों की विवेचना कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध का प्रारम्भ कब से माना जाता है ?
2. यू-2 विमान काण्ड का वर्णन कीजिए।
3. वारसा संघ का निर्माण कब हुआ ?
4. शीत युद्ध के कारण विश्व के कितने गुट बन गये ?

इकाई-3

देतान्त

संरचना

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 देतान्त का अर्थ एवं परिभाषा
- 3.3 देतान्त व्यवहार के निर्धारक तत्त्व
 - 3.3.1 महाशक्तियों में सहयोग की आवश्यकता
 - 3.3.2 सोवियत संघ की आर्थिक आवश्यकताएँ
 - 3.3.3 अमरीकी उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकताएँ
 - 3.3.4 आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में सन्तुलन
 - 3.3.5 चीन-सोवियत संघर्ष
 - 3.3.6 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति
 - 3.3.7 प्राथमिकताओं में बुनियादी परिवर्तन
 - 3.3.8 मित्रों से निराशा
 - 3.3.9 द्विं-गुटीय विश्व राजनीति का बहुकद्रवाद में परिवर्तन
 - 3.3.10 गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की भूमिका
 - 3.3.11 यूरोपीय राष्ट्र युद्ध की परिकल्पना से भयभीत
- 3.4 देतान्त व्यवहार में प्रगति (1979-89)
 - 3.4.1 मास्को बौन समझौता, 1970
 - 3.4.2 बर्लिन समझौता, 1971
 - 3.4.3 पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972
 - 3.4.4 कोरिया का समझौता, 1972
 - 3.4.5 मास्को शिखर वार्ता, 1972
 - 3.4.6 सामरिक शस्त्र परिसीमन समझौता, 1972
 - 3.4.7 सोवियत संघ-अमरीकी आर्थिक सहयोग
 - 3.4.8 ब्रेज्नेव की अमरीका यात्रा, 1973
 - 3.4.9 हेलसिंकी सम्मेलन, 1973
 - 3.4.10 साल्ट समझौता, 1979

3.5 देतान्त व्यवहार के प्रभाव

- 3.5.1 महाशक्तियों के मध्य सहयोग का विकास
- 3.5.2 तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति
- 3.5.3 परमाणु शस्त्रों के नियन्त्रण के लिए प्रयत्न
- 3.5.4 सभ्य एवं शालीन व्यवहार
- 3.5.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर शालीन व्यवहार की प्रवृत्ति
- 3.5.6 गुटबन्दी में लिप राष्ट्रों के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता
- 3.5.7 गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के लिए खुला क्षेत्र
- 3.5.8 विश्व शान्ति में सहायक

3.6 सारांश

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत देतान्त (तनाव-शैथिल्य) का अर्थ, उत्पत्ति के कारक एवं देतान्त व्यवहार के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

- देतान्त का अर्थ समझ सकेंगे,
- देतान्त (तनाव शैथिल्य) का जिन कारणों से इसका उद्भव हुआ, उनका विश्लेषण कर सकेंगे,
- देतान्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते समीकरण में सोनियत संघ-अमरीकी सम्बन्धों में 1962 के क्रूबा संकट के उपरान्त एक नगा मोड़ आया। चूंकि 1960 के यू-2 विमान काण्ड तथा 1962 के क्रूबा काण्ड ने विश्व को तृतीय विश्व युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया था। किन्तु इस समय तक आते-आते दोनों ही महाशक्तियों ने यह अनुभव कर लिया था कि आणविक अस्त्रों के युग में किसी भी पक्ष की युद्ध में विजय नहीं होगी। इसी का परिणाम था कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के तात्कालिक नेतृत्व के चिन्तन और कार्य-शैली में परिवर्तन हुआ और शीत युद्ध के वैषमस्यपूर्ण सम्बन्ध सौहार्द और सहयोग की दिशा में बढ़ने लगे। अमरीका और सोवियत संघ के सम्बन्धों में इस नवीन परिवर्तन को तनाव शैथिल्य या देतान्त के नाम से जाना गया।

3.2 देतान्त का अर्थ एवं परिधाषा

‘देतान्त’ फ्रेन्च भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है ‘तनाव में शिथिलता’ लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देतान्त से अभिप्राय सोचियत अमरीकी तनाव में कमी और उनमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई मित्रता, सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना से है।

ऑक्सफोर्ड इंगलिश शब्दकोश के अनुसार, “देतान्त दो राज्यों के तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति है।”

डॉ. हेनरी ए. कीसिंगर के अनुसार, “देतान्त सैनिक शक्ति व राजनीतिक दृष्टि से उत्पन्न व्यावहारिक शक्ति का अन्तर है।”

डॉ. जफर इमाम के अनुसार, “परिचमी दुनिया में जो अर्थ देतान्त का है, उसे ‘शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व’ शब्द में अभिव्यक्त किया जा सकता है।”

डॉ. ए.पी. राणा के अनुसार, “देतान्त ऐसी प्रक्रिया या प्रकृति है जिसमें एक समय पर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां- सहयोग और प्रतिद्रुनिता-पायी जाती हैं। महाशक्तियों की इस सहयोगी-प्रतिद्रुन्दी व्यवहार को उन्होंने ‘कालूपीटिव’ (Collupetive) शब्दावली

में अभिव्यक्त किया है। उनके अभिमत में इस सहयोगी-प्रतिद्वन्द्वी व्यवहार को चार प्रकार की परिस्थितियों में अभिव्यक्त किया जा सकता है-

किसी संकट की घड़ी में, विश्व में यथास्थिति बनाये रखने की आवश्यकता, आर्थिक सहयोग और परमाणु अस्त्रों के परिसीमन की आवश्यकता के समय।”

वस्तुतः देतान्त का अर्थ शीत युद्ध की समाप्ति नहीं है। इसका यह अर्थ भी नहीं कि महाशक्तियाँ अपना वर्चस्व अथवा सर्वोपरिता बनाये रखने में अधिरूचि नहीं रखती। देतान्त का सीधा-सादा अर्थ यह है कि महाशक्तियों (अमरीका और पूर्व सोवियत संघ) ने न्यूनाधिक रूप से आपसी प्रतिस्पर्द्ध के मानदण्डों को आंशिक रूप से संहिताबद्ध करने का प्रयत्न किया था। देतान्त किसी सुनिश्चित विश्व व्यवस्था या विश्व शान्ति का द्योत नहीं था। इसका केवल इतना ही आशय था कि शीत युद्ध के काल में महाशक्तियों में जो शक्ति-संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता, स्पष्ट एवं उग्र थी वह देतान्त काल में गुप्त, सहज एवं सतर्क थी।

3.3 देतान्त व्यवहार के निर्धारक तत्त्व

देतान्त या तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया कोई आकस्मिक संयोग या घटना का परिणाम नहीं थी इसके पीछे आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक, व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक कारण रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों अथवा सामेक्षकों के अनुसार देतान्त अथवा सोवियत-अमेरिकी सहयोग, का प्रारम्भ कैनेडी-खुश्चेव के समय में हुआ। बाद में सोवियत नेता खुश्चेव के अकस्मात् सत्ता से हटने के कारण कुछ समय तक मैत्री और सहयोग का यह मार्ग अवरुद्ध हो गया किन्तु निक्सन और ब्रेझेनेव ने सहयोग के इन सुत्रों का पुनः विकास किया जिसमें अमेरिका के विदेश सचिव डॉ. कीसिंजर को भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। यद्यपि निक्सन के पद-त्याग के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने भी सोवियत संघ से मित्रता की नीति का अनुकरण किया तथापि दोनों महाशक्तियों के बीच मैत्री और सहयोग के विकास की गति उतनी तीव्र नहीं रही जितनी निक्सन के समय थी, फिर भी तनाव शैथिल्य के प्रयत्न जारी रहे और ‘अन्तरिक्ष में सहयोग’ का एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ। जिम्मी कार्टर के शासन में शीत युद्ध और देतान्त का मिला-जुला रूप रहा और साल्ट-2 वार्ताएं तथा समझौता सम्पन्न हुआ। रीगन-काल के दौरान दोनों महाशक्तियों में परस्पर तनाव बढ़ा, परन्तु देतान्त (तनाव-शैथिल्य) की प्रक्रिया जारी रही। जार्ज बुश और मिखाइल गोबाच्योव के काल में देतान्त प्रक्रिया चरम सीमा पर पहुँची। विश्व में एक नये वातावरण का विकास हुआ। शीतयुद्ध की समाप्ति तथा एकध्रुवीय विश्व में भी देतान्त की भावना अनवरत् जानी है।

देतान्त (सोवियत-अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग) काल की भावना के विकास में निम्नलिखित तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही-

3.3.1 महाशक्तियों में सहयोग की आवश्यकता- परमाणु-शस्त्रों पर संयुक्त राज्य अमेरिका के एकाधिकार के समाप्त हो जाने के कारण सोवियत संघ और अमेरिका के बीच एक शक्ति सन्तुलन की स्थिति बन गई। इसके फलस्वरूप अमेरिकी विदेश सचिव डलेस की वह अवधारणा उपयोगी नहीं रही जिसमें साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशक्त संघर्ष पर बल दिया जाता था। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया का युद्ध, क्यूबा काण्ड आदि ने स्पष्ट कर दिया कि महाशक्तियों के बीच ‘सहयोग’ की आवश्यकता है, ‘टकराव’ की नहीं।

3.3.2 सोवियत संघ की आर्थिक आवश्यकताएँ- देतान्त का एक कारण सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ भी थी। सैनिक व्यय पर अधिक ध्यान देने से सोवियत संघ कृषि के क्षेत्र में आत्म निर्भर नहीं हो पाया, साइबेरिया में उपलब्ध विशाल गैस भण्डारों का दोहन नहीं कर पाया। सोवियत संघ को अतिरिक्त खाद्य पदार्थों की अनवरत आवश्यकता थी जिसे वह अमरीका से सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के वातावरण में आसानी से प्राप्त कर सकता था। चूंकि अमरीका के पास हमेशा अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध रहे हैं। निश्चित ही अमरीकी तकनीकी ज्ञान और सहायता के आधार पर सोवियत विकास को नया आयाम प्राप्त हो सकता था, किन्तु इसके लिए शीत युद्ध की वैमनस्यता को समाप्त करना आवश्यक था। यह अमरीका के प्रति सह-अस्तित्व एवं मधुर नीति अपनाकर ही सम्भव था। अतः स्टालिनोत्तर युग में सोवियत नेताओं ने पूँजीवादी देशों के साथ सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का अनुसरण किया और इस तरह दोनों महाशक्तियों में सहयोग के द्वार खुल गया।

3.3.3 अमरीकी उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकताएं – अमरीकी नेताओं ने यह अनुभव किया कि सोवियत संघ के पास कच्चे माल के विशाल भण्डार हैं और अमरीकी उद्योगों के लिए उन्हें आसान शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है। निक्सन प्रशासन का यह विश्वास था कि अमरीका और सोवियत संघ की अर्थव्यवस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के परिप्रेक्ष्य में एक दूसरे की प्रतियोगी न होकर, पूरक हैं। सोवियत संघ के पास गैस, पेट्रोलियम के विशाल भण्डार हैं जिन्हें व्यापारिक आधार पर प्राप्त किया जाय तो अन्य देशों पर अमरीकी निर्भरता कम होगी। इस भावना ने भी देतान्त की भावना का विकास किया।

3.3.4 आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में सन्तुलन- आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में असंतुलन का परिणाम था शीत-युद्ध और इस क्षेत्र में स्थापित सन्तुलन ने देतान्त की भावना को विकसित करने में योगदान दिया। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका आणविक शस्त्रों से सम्पन्न राष्ट्र था और जब सोवियत संघ ने अपु विस्फोट कर लिया तो सोवियत संघ और अमरीका के बीच जो सैनिक असंतुलन था वह समाप्त हो गया एवं दोनों सन्तुलन की स्थिति में आ गये। अमरीका अब यह अनुभव करने लगा कि साम्यवाद के विस्तार का रोकने के लिए सशस्त्र संघर्ष की नीति घातक रहेगी। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया युद्ध और क्यूबा संकट के समय आणविक शस्त्रों के घातक परिणाम किसी की भी कल्पना के बाहर नहीं थे। आणविक विनाश से भविष्य में बचने के लिए दोनों महाशक्तियों में ‘संवाद’ प्रारम्भ किये जाने की आवश्यकता थी। देतान्त युग के संवादों का ही परिणाम था कि दोनों महाशक्तियों में साल्ट बातीएं चलती रहीं और साल्ट-1 तथा साल्ट-2 के समझौते हुए।

3.3.5 चीन-सोवियत संघर्ष- साम्यवादी चीन के साथ संघर्ष उत्पन्न होने के कारण सोवियत संघ के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह उसके मुकाबले में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पश्चिमी देशों और मुख्यतः अमेरिका से शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे।

3.3.6 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति- खुश्चेत्र और उसके उत्तराधिकारियों ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करके पश्चिमी जगत को यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि शासन पद्धतियों, सिद्धान्तों और अर्थव्यवस्थाओं की भिन्नताओं के बावजूद दोनों महाशक्तियाँ पारस्परिक सहयोग कर सकती थी। इस नीति ने देतान्त प्रक्रिया में सहयोग दिया।

3.3.7 प्राथमिकताओं में बुनियादी परिवर्तन- शीत-युद्ध काल में संचुह राज्य अमरीका ची राष्ट्रीय नीति और प्राथमिक आवश्यकता थी- ‘साम्यवाद का अवरोध’, ‘साम्यवाद का समूलोमूलन’ और सोवियत संघ की सर्वोच्च प्राथमिकता थी- ‘साम्यवाद का विस्तार’ और ‘पूँजीवाद का अन्त करना।’ इसके लिए दोनों देशों ने लोक-कल्याणकारी योजनाओं, गरीबी उन्मूलन, जीवन-स्तर ऊँचा करने जैसे अपरिहार्य कार्यक्रमों के मूल्य पर अस्त्रों की शक्ति, परमाणु शस्त्रों के निर्माण तथा सैनिक गठबन्धनों पर बल दिया था। धीरे-धीरे दोनों महाशक्तियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें अपने संसाधन और तकनीकी ज्ञान का प्रयोग अपने नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए करना चाहिए। इसके लिए तनाव-शैथिल्य का वातावरण अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण माना गया।

3.3.8 मित्रों से निराशा- दोनों महाशक्तियों को अपने-अपने मित्रों से घोर निराशा हुई। दोनों ने अनुभव किया कि मित्र राज्यों ने उनकी मित्रता एवं उदारता, सैनिक, आर्थिक एवं तकनीकी सहायता का भरपूर शोषण किया है। दोनों मित्रों को ‘बोझ’ मानने लगे। फ्रांस, वियतनाम और फारमोसा, अमरीका के लिए बोझ बन गये, चीन और पूर्वी जर्मनी पूर्ववर्ती सोवियत संघ के लिए बोझ बन गये। अपु क्षेत्र में ही नहीं, आर्थिक क्षेत्र में भी फ्रांस अमरीका से विरोधी दृष्टिकोण अपनाने लगा। अतः दोनों महाशक्तियाँ अपने पारस्परिक सम्बन्धों में देतान्त को अधिक विश्वसनीय, लाभकारी एवं कम खर्चीला समझने लगी।

3.3.9 द्वि-गुटीय विश्व राजनीति का बहुकेन्द्रवाद में परिवर्तन-द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद विश्व द्वि-ध्रुवीयता की ओर बढ़ा और 1950 के आते-आते इस द्वि-ध्रुवीयता के बन्धन शैथिल पड़ने लगे और विश्व शनैः शनैः बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर होने लगा 1963-79 की कालावधि में शक्ति के केवल दो ही केन्द्र नहीं, अपितु बहुत सारे केन्द्र हो गये। अमरीका और सोवियत संघ के साथ-साथ ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अपु-शक्ति के स्वामी बन चुके थे। जापान, पश्चिमी जर्मनी, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, भारत और गुटनिरपेक्ष मंच भी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र थे। ये शक्ति केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्र आचरण करने लगे। इस बहु-केन्द्रवाद में महाशक्तियों के सम्बन्धों में देतान्त की प्रवृत्ति को जन्म दिया।

3.3.10 गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की भूमिका-शीत-युद्ध को देतान्त अर्थात् तनाव-शैथिल्य की स्थिति में लाने का श्रेय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को ही है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने शीत-युद्ध को बढ़ावा देने वाली गुटबन्दी को तोड़ने में सहयोग दिया। गुटनिरपेक्षता का क्षेत्र इतना बढ़ता गया कि दोनों ही गुटों में दरारें पड़ने लगी, गुटों में संलग्न राष्ट्र भी धीरे-धीरे गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने लगे। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने धीरे-धीरे स्वतन्त्र विदेश नीति पर ही नहीं, बल्कि शान्ति और सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। इससे महाशक्तियों में प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग को बल मिला।

3.3.11 यूरोपीय राष्ट्र युद्ध की परिकल्पना से भयभीत थे- क्यूबा - संकट (1962) का एक दोहरा और विचित्र प्रभाव पड़ा। एक ओर जहाँ इसने शीत युद्ध की पराकाष्ठा की अनुभूति करवायी, दूसरी ओर इसने शिथिलता की आवश्यकता को भी उग्र रूप से रेखांकित किया। इस घटना के बाद यूरोपीय राष्ट्र विशेषतः युद्ध की कल्पना से भयभीत रहे। दूसरा विश्व युद्ध उनकी धरती पर लड़ा गया था, अतः इसकी विभीषिका का उन्हें अत्यधिक कटु अनुभव था अतः किसी भी प्रकार से वे विश्व-स्तरीय तनाव को झेलने के लिए तैयार नहीं थे। यूरोपीय राष्ट्रों की इस उग्र अनुभूति का अमरीकी विदेश नीति पर सीधा दबाव पड़ा और वह शिथिलता की नीति को और अधिक तत्परता से लागू करने को बाध्य हुई।

3.4 देतान्त भावना की व्यवहार में प्रगति- (1970-89) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों का मत है कि शीत-युद्ध के उत्तापकों में स्टालिन और ट्रूमैन प्रधान थे तो देतान्त या सोवियत-अमरीकी मैत्री के सूत्रधार कैनेडी और खुश्चेव थे। लेकिन उनके अचानक सत्ता से हटने के कारण देतान्त की प्रगति धीमी हो गयी। अतः देतान्त सम्बन्धों को नये सिरे से प्रारम्भ करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नया मोड़ लाने का श्रेय अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन तथा सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेजेनेव को जाता है। 20 जनवरी, 1969 को रिचर्ड निक्सन ने अमरीका के राष्ट्रपति बनने के बाद अपने उद्घाटन भाषण में विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए अन्य देशों के साथ सहयोग करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने स्पष्ट किया कि “हम प्रत्येक को अपना मित्र बनाने की आशा नहीं कर सकते, किन्तु यह प्रयत्न कर सकते हैं कि कोई हमारा शत्रु न बने।” निक्सन ने शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता और साझेदारी के सिद्धान्त पर जोर देते हुए कहा कि “हम साम्यवादी विश्व का अमरीका के साथ एक शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के लिए आह्वान करते हैं— यह प्रतियोगिता प्रदेशों की विजय अथवा स्वामित्व के विस्तार के लिए नहीं अपितु मनुष्य के जीवन को अधिक सम्पन्न बनाने के लिए होगी।” निक्सन प्रशासन ने साम्यवादी विश्व के प्रति अमरीका की नीति को एक नयी दिशा प्रदान की। इसी का परिणाम था कि सोवियत संघ-अमरीकी देतान्त सम्बन्धों में सक्रियता आ गयी। 1970 के बाद देतान्त व्यवहार में तोड़ प्रगति हुई, जिसके प्रमुख उदाहरण इस प्रकार हैं—

3.4.1 मास्को-बोन समझौता, 1970- द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से यूरोप में शीत युद्ध के मूल में जर्मनी की समस्या रही है। पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के सम्बन्ध सदैव कटु रहे और अमरीका हमेशा पश्चिमी जर्मनी का समर्थन करता रहा। इस तनावपूर्ण परिस्थिति का अन्त करने के लिए 10 अगस्त, 1970 को पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि में कहा गया कि (1) सोवियत संघ और पश्चिमी जर्मनी एक दूसरे के खिलाफ शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे, (2) पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी की सीमाओं सहित यूरोप में जो वर्तमान राष्ट्रीय सीमाएँ हैं उन्हें दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। इस सन्धि को फ्रांस के प्रसिद्ध समाचार-पत्र ‘लामो’ ने यूरोपीय इतिहास का एक नूतन मोड़ कहा। इस समझौते से यूरोप में आशा और उत्साह का नया बातावरण पैदा हुआ। पूरे विश्व में इस समझौते का स्वागत किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि अब यूरोप में युद्ध नहीं होगा।

3.4.2 बर्लिन समझौता, 1971- शीत-युद्ध के काल में दूसरी ज्वलन्त समस्या बर्लिन की थी। 24 जून, 1948 को सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी थी जिससे दोनों महाशक्तियों के सम्बन्ध तनावमुक्त हो गये थे। अठारह माह तक बातचीत करने के बाद अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के प्रतिनिधियों के बीच पश्चिम बर्लिन के बारे में अगस्त 1971 में एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार पश्चिम बर्लिन के लोगों के जाने की व्यवस्था की। बर्लिन समझौता शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद बर्लिन के प्रश्न ने सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध सुधार में बड़ा अवरोध उपस्थित किया। बर्लिन सम्बन्धी इस समझौते से अमरीका-सोवियत सम्बन्ध सामान्य होने लगे।

3.4.3 पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972- सितम्बर 1971 का बर्लिन समझौता पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच सामान्य सम्बन्ध कायम करने की आधार भूमि बन गया। 8 नवम्बर, 1972 को पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के मध्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के फलस्वरूप इन दोनों जर्मन राज्यों के बीच द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से चली आ रही तनातनी

समाप्त हो गयी। दोनों जर्मन राज्यों ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया और अनेक मानवीय क्षेत्रों में सहयोग करने का आश्वासन किया। सन्धि की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि जर्मन समस्या के समाधान के लिए दोनों जर्मन राज्यों ने एक-दूसरे के विरुद्ध धर्मकी अथवा बल प्रयोग के उपायों को हमेशा के लिए तिलाजंली दे दी। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों जर्मन राज्यों के पिछले 22 वर्षों से चले आ रहे तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति हो गयी।

3.4.4 कोरिया का समझौता, 1972- एशिया में उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भूतकाल में शीत-युद्ध को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था। 20 अगस्त, 1971 को उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया की रेडन्क्रॉस सोसाइटी की एक बैठक हुई जिसमें तब हुआ कि कोरिया युद्ध के दौरान जो एक करोड़ कोरियाई रिश्तेदार, सम्बन्धी और मित्र बिछुड़ गये थे, उनकी अदला-बदली की जाये। 4 जुलाई, 1972 को दोनों कोरियाई देशों के बीच एक समझौता हुआ, तदनुसार दोनों ने वादा किया कि वे एक-दूसरे को कमज़ोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे।

3.4.5 मास्को शिखर वार्ता, 1972- 22 मई से 29 मई, 1972 में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत संघ की सद्भावना यात्रा करने का निश्चय किया। मास्को में एक सप्ताह तक उन्होंने सोवियत संघ के प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तथा सामयिकी दल के महामंत्री ब्रेझेनेव से शिखर वार्ता की और यह घोषणा की कि वे अपने विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय युद्ध से नहीं, किन्तु शान्तिपूर्ण वार्ता के माध्यम से करेंगे। इस ऐतिहासिक वार्ता का सबसे महत्वपूर्ण भाग सम्भवतः सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच सम्बन्धों के मौलिक सिद्धान्तों की घोषणा थी।

3.4.6 सामरिक शास्त्र परिसीमन समझौता, 1972 (SALT-1)- अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन की सोवियत संघ की यात्रा (1972) का सबसे महत्वपूर्ण समझौता हथियारों के परिसीमन से सम्बन्धित था। 26 मई, 1972 को दोनों देशों के बीच सामरिक शास्त्र परिसीमन सन्धि (SALT-1) पर हस्ताक्षर हुए। यह देतान्त भावना की दिशा में बड़ा कदम था।

3.4.7 सोवियत संघ- अमरीकी आर्थिक सहयोग- मास्को शिखर सम्मेलन में समयाभाव के कारण आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में कोई बुनियादी समझौता नहीं हो पाया था। लेकिन इस बात पर सहमति अवश्य हुई थी कि सोवियत 'अमरीकी आर्थिक आयोग' (U.S. - U. S. S. Economic Commission) बनाया जावेगा जो MFN दर्जा (Most Favoured Nation Status) दिलाने और व्यापार के विस्तार के लिए सरकारी ऋण दिलाने का प्रयत्न करेगा। 14 अक्टूबर, 1972 को दोनों देशों ने एक तीन-वर्षीय समुद्री समझौते पर हस्ताक्षर किये जो अमरीकन जहाजों के लिए सस्ती दरों पर सोवियत संघ के लिए अनाज की दुलाई का प्रावधान करता था। 18 अक्टूबर, 1972 को दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसमें अमरीका ने सोवियत आयातों पर तटकर कम करने की बात मान ली, जिससे सोवियत संघ को एम. एफ. एफ. दर्जा (MFN Status) मिल गया।

3.4.8 ब्रेझेनेव की अमरीका यात्रा, 1973- 17 जून, 1973 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझेनेव ने अमरीका की यात्रा प्रारम्भ की। इस यात्रा के दौरान सोवियत संघ और अमरीका में तकनीकी सहयोग से सम्बन्धित विचार-विमर्श हुए और अनेक व्यापारिक प्रश्नों पर भी आदान-प्रदान हेतु सहमति हुई। इसी दौरान सबसे महत्वपूर्ण निर्णय सोवियत संघ और अमरीका के बीच संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम प्रारम्भ करने के बारे में हुआ।

3.4.9 हेलसिंकी सम्मेलन, 1973- यूरोप सुरक्षा एवं सहयोग का सम्मेलन फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में 3 जुलाई, 1973 को शुरू हुआ। जेनेवा में यह सम्मेलन 17 जुलाई, 1973 से 21 जुलाई, 1975 तक जारी रहा और 1 अगस्त, 1975 को हेलसिंकी में समाप्त हुआ। इस सम्मेलन में यूरोप और अमरीका के 35 देशों ने भाग लिया। यूरोपीय राज्यों के इस सुरक्षा सम्मेलन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को समाप्त करके शीत युद्ध का अन्त करना तथा सुरक्षा की नयी भावना उत्पन्न करना था। इस प्रकार हेलसिंकी सम्मेलन यूरोप में देतान्त को सुदृढ़ करने के लिए एक महत्वपूर्ण कदम था।

3.4.10 साल्ट-2 समझौता, 1979- प्रथम साल्ट सन्धि (SALT-1) 1972 सोवियत संघ और अमरीका के मध्य हुई थी। इस सन्धि की अवधि पांच वर्षों की थी जो 3 अक्टूबर, 1977 को समाप्त हो गयी। 1979 में दोनों देशों ने साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर

किये इसके बाद इस सन्धि पर दोनों देशों की संसद को अनुमोदन करना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का सैनिक हस्तक्षेप हो गया। सोवियत हस्तक्षेप के विरोध में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया था। सोवियत संघ के नेता मिखाइल गोर्बाच्चोव तथा अमरीकी राष्ट्रपति सीनियर जार्ज बुश के कार्यकाल में देतान्त भावना और भी विकसित हुई। दोनों देशों के बीच अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। इससे भी दोनों देशों के बीच सहयोग तथा मैत्री के युग का प्रार्द्धभाव हुआ। वर्तमान में, देतान्त की स्थिति ही है। खाड़ी युद्ध के समय भी विश्व शान्ति को कोई खतरा नहीं हुआ।

3.5 देतान्त व्यवहार के प्रभाव

महाशक्तियों में अर्थात् वाशिंगटन-मास्को तथा वाशिंगटन-पीकिंग में देतान्त व्यवहार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी आई, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की सम्भावनाओं में वृद्धि हुई, द्वि-ध्रुवीकरण, बहु-केन्द्रवाद में परिवर्तित हो गया, संलग्न अर्थात् किसी गुट से सम्बद्ध राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों का अनुसरण करने का अवसर मिला, परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्रों पर रोक लगाने एवं उन्हें नियन्त्रित एवं सीमित करने में सहायता मिली, परस्पर विरोधी गुटों के राष्ट्रों में सम्पर्क बढ़ाने, मेल-मिलाप करने तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी आदि क्षेत्रों में सहयोग करने की सम्भावनाओं का विकास हुआ। अतः सोवियत संघ-अमरीकी सिद्धान्त व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवहार में निम्नलिखित प्रभाव देखे जा सकते हैं-

3.5.1 महाशक्तियों के मध्य सहयोग का विकास- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व राजनीति में गुटीय विभाजन स्पष्ट रूप से दिखायी देता था। देतान्त व्यवहार के प्रारम्भ होने के बाद महाशक्तियों में सहयोग की भावना का विकास हुआ। कभी निक्सन मास्को गये, जो कभी ब्रेझेनेव वाशिंगटन, कभी ग्रोमिको अमरीका की यात्रा पर गये तो कभी कीसिंजर सोवियत संघ की। ऐसा नहीं लगता था कि अमरीका और सोवियत संघ के अलग-अलग गुट हैं और यह गुट एक दूसरे के विरोधी और दुश्मन हैं। यूरोपीय सुरक्षा और सहयोग से सम्बन्धित 1975 का हेलसिंकी सम्मेलन यूरोपीय देशों में सहयोग का प्रतीक है। जार्ज बुश तथा मिखाइल गोर्बाच्चोव के समय यह भावना चरम स्थिति में पहुँच गई।

3.5.2 तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति- 1950-60 के दशक में सोवियत संघ अमरीका शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा को देखते हुए ऐसा लगता था कि विश्व पर तृतीय महायुद्ध का संकट मंडरा रहा है। देतान्त व्यवहार ने इस खतरे को लगभग समाप्त कर दिया। किसी भी संकट के समय सोवियत रूस-अमरीकी नेता 'हाट लाइन' से बात कर सकते थे।

3.5.3 परमाणु शस्त्रों के नियन्त्रण के लिए प्रयत्न- शीत-युद्ध काल में महाशक्तियों की शक्ति परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर लगी हुई थी। दितान्त व्यवहार के बाद परमाणु शस्त्रों के बारे में महाशक्तियों के रूज्जान में परिवर्तन आया। 1963 की सीमित परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1968 की परमाणु अस्त्र अप्रसार सन्धि और साल्ट (SALT) वार्ताएँ परमाणु शस्त्रों पर रोक एवं नियन्त्रण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे।

3.5.4 सभ्य एवं शालीन व्यवहार- देतान्त ने शीत युद्ध कालीन दोनों महाशक्तियों के अश्लील एवं असभ्य व्यवहार को समाप्त कर दिया। दोनों ने एक दूसरे की भर्त्सना करने के लिए खण्डन, मण्डन या घृणित प्रचार का सहारा नहीं लिया। वे एक दूसरे के साथ सभ्य व्यवहार करने की ओर अग्रसर हुए।

3.5.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर शालीन व्यवहार की प्रवृत्ति- शीत-युद्ध काल में संयुक्त राष्ट्र संघ प्रचार, आलोचना और छींटाकशी का मंच बन गया था। महाशक्तियों में देतान्त आचरण की शुरूआत के बाद एक बार पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ शालीन और गरिमामय अन्तर्राष्ट्रीय मंच के रूप में उभरने लगा। अब महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही में अड़ंगा नहीं डालती, इसकी विभिन्न एजेन्सियों की कार्यवाही में सहजता और शालीनता देखने को मिलने लगी। संयुक्त राष्ट्र संघ में समस्याओं पर विचार विश्व शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से किया जाने लगा, गुटीय दृष्टि से नहीं।

3.5.6 गुटबन्दी में लिस राष्ट्रों के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता- शीतयुद्ध काल में गुटबन्दी में लिस राष्ट्रों की स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति धूमिल हो गयी थी। उन्हें किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने-अपने गुटीय नेता की दृष्टि से सोचना पड़ता था। देतान्त व्यवहार से जहाँ

एक ओर पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रांस, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान जैसे अमरीकी गुट से सम्बद्ध देशों के दृष्टिकोण में पर्याप्त लचीलापन एवं स्वतन्त्रता दिखायी देने लगी वहाँ दूसरी तरफ रूमानिया, पूर्वी-जर्मनी, वियतनाम, क्यूबा जैसे सोवियत गुट से सम्बद्ध राष्ट्र भी स्वतन्त्र दृष्टि से सोचने-विचारने लगे थे। देतान्त व्यवहार का ही परिणाम था कि जापान ने अपने राष्ट्रीय हितों के कारण फरवरी, 1972 में मंगोलिया गणराज्य को मान्यता दी, मई, 1973 में उत्तरी वियतनाम के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए।

3.5.7 गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के लिए खुला क्षेत्र- देतान्त के कारण गुट-निरपेक्ष राष्ट्र महाशक्तियों के सन्देश और शंका के शिकार नहीं हुए। उन्होंने अपने आपको दबे हुए या विवश नहीं समझा। उनकी स्वतन्त्र नीति किसी महाशक्ति को नहीं खटकी। लेकिन यह भी वास्तविकता है कि इस स्थिति से उनका महत्व भी कम हो गया। इसके बाद दोनों ही महाशक्तियां हाटलाइन पर सीधे ही बात करने लगीं।

3.5.8 विश्व शान्ति में सहायता- देतान्त ने महाशक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव को कम करके विश्व शान्ति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देतान्त ने वस्तुः शान्ति के हितों की रक्षा की। इस भावना ने विश्व में शान्ति, सद्भावना तथा पारस्परिक सहयोग की भावना को जन्म दिया।

3.6 सारांश

देतान्त के कारण शीत-युद्ध के स्थान पर सह-अस्तित्व की भावना का विकास हुआ। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से शत्रुतापूर्ण युद्धरत स्थिति का अन्त हुआ। रचनात्मक पुनर्निर्माण और सहयोग के नूतन युग का सूत्रपात हुआ। दितान्त की उभरती हुई प्रवृत्तियों के कारण विश्व युद्ध के सम्भाव्य कारणों का अन्त होने लगा और महाशक्तियों के नागरिक शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आशान्वित हुए। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में सहयोग की वृद्धि हुई, सैनिक संघर्ष और आणविक युद्ध के खतरे कम होने लगे।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- ‘शीत-युद्ध की शिथिलता’ से आपका क्या तात्पर्य है? यूरोप में शान्ति एवं सहयोग की अभिवृद्धि के लिए संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के प्रधासों की व्याख्या कीजिए?
- देतान्त व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा? स्पष्ट कीजिए?
- “देतान्त ने शीत-युद्ध के बाद के काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति में नये आयाम प्रस्तुत किये हैं।” इस कथन का मूल्यांकन कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- देतान्त व्यवहार के प्रगति काल का वर्णन कीजिए?
- देतान्त से आप क्या समझते हैं?
- देतान्त व्यवहार का परिचय देने वाले दो समझौतों के नाम बताइए?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

- देतान्त किस भाषा का शब्द है?
- सोवियत संघ-अमरीकी दितान्त सम्बन्धों में सक्रियता लाने का श्रेय किसको है?
- हेलसिंकी सम्मेलन का क्या परिणाम रहा?

इकाई-4

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन

संरचना

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का उदय एवं विकास
- 4.3 गुट-निरपेक्षता की अवधारणा
- 4.4 गुट-निरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले कारक
 - 4.4.1 शीत युद्ध
 - 4.4.2 राष्ट्रबाद की भावना
 - 4.4.3 उपनिवेशवाद का विरोध
 - 4.4.4 आर्थिक कारक
 - 4.4.5 विश्व शान्ति की इच्छा
 - 4.4.6 संयुक्त राष्ट्र संघ का अस्तित्व
 - 4.4.7 नेतृत्व की भूमिका
 - 4.4.8 स्वतन्त्र विदेश नीति के संचालन की अभिलाषा
- 4.5 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की संस्थायें
 - 4.5.1 समन्वय ब्यूरो
 - 4.5.2 मन्त्री स्तर (विदेश मन्त्रियों) का सम्मेलन
 - 4.5.3 शिखर सम्मेलन
- 4.6 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन : उपलब्धियाँ
 - 4.6.1 विश्व शान्ति में सहायक
 - 4.6.2 उपनिवेशवाद विरोधी मंच
 - 4.6.3 रंग भेद का विरोध
 - 4.6.4 निःशास्त्रीकरण की दिशा में प्रगति
 - 4.6.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को रूपान्तरित करना
 - 4.6.6 शीत युद्ध को शस्त्र युद्ध में परिणत होने से रोकना
 - 4.6.7 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग
 - 4.6.8 विश्व समाज के लिए उन्मुक्त वातावरण का निर्माण
 - 4.6.9 विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की बुनियाद
- 4.7 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष चुनौतियाँ
 - 4.7.1 महाशक्तियों का दबाव
 - 4.7.2 गुटनिरपेक्ष देशों में पारस्परिक तनाव एवं वैमनस्य
 - 4.7.3 परिभाषा विहिन आन्दोलन
 - 4.7.4 आर्थिक पिछ़ड़ापन

- 4.7.5 यह एक नैतिक आन्दोलन है
- 4.7.6 संकल्प, सहमति और क्षमता का अभाव
- 4.7.7 गुट सापेक्ष राष्ट्रों की बढ़ती संख्या
- 4.8 गुट निरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य : प्रासंगिकता
- 4.9 सारांश

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय, विकास एवं वर्तमान परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप :

- गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अवधारणा तथा जिन कारणों से इसका उद्भव हुआ उनका विश्लेषण कर सकेंगे,
- गुट निरपेक्ष आन्दोलन के विकास एवं कार्यशैली को जान सकेंगे,
- गुट निरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष शीत युद्ध काल की चुनौतियों को समझ सकेंगे,
- उत्तर शीतयुद्ध के विश्व में गुटनिरपेक्षता एवं गुटनिरपेक्ष आन्दोलन दोनों की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

20 वीं शताब्दी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किये। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नया रूप विकसित हुआ। द्वितीय युद्धोत्तर बाद विश्व में इतने अधिक तथा इतनी तीव्र गति से परिवर्तन हुए कि इसका राजनीतिक नक्शा ही बदल गया तथा पुरानी व्यवस्था का स्थान नयी व्यवस्था ने ले लिया। शक्ति सन्तुलन के स्थान पर विश्व दो ध्रुवों में बंट गया—साम्यवादी तथा पूर्जीवाद। इन दोनों गुटों के मध्य शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व की शान्ति भंग हो गयी, किन्तु इस शीत युद्ध का प्रकारात्मक परिणाम गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के रूप में सामने आया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उत्पत्ति का कारण कोई संयोगमात्र नहीं था, अपितु यह सुविचारित अवधारणा थी। इसका उद्देश्य नवोदित राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा करना एवं युद्ध की सम्भावनाओं को रोकना था। इसने एक देश के दूसरे देश के साथ संबंधों की प्रकृति को परिवर्तित किया और नवीन स्वतन्त्र विकसित देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के लिए सक्षम बनाया। आज एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अधिकांश देश गुटनिरपेक्ष होने का दावा करने लगे हैं। 1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या 25 थी, वहां वर्तमान में निर्गुण आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 118 हो गई है।

4.2 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय एवं विकास

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका एवं पूर्व सोवियत संघ के पारस्परिक संघर्ष, संदेह और अविश्वास के वातावरण में शीत युद्ध के आगमन शक्ति शिविरों तथा सैनिक गुटों के निर्माण आदि के ज्ञारण हुआ। वस्तुतः शीत-युद्ध के राजनीतिक ध्रुवीकरण ने गुटनिरपेक्षता की समझ तैयार करने में एक उत्प्रेरक का कार्य किया। लम्बे औपनिवेशिक आधिपत्य से स्वतन्त्र होने के लम्बे संघर्ष के बाद किसी दूसरे आधिपत्य को स्वीकार कर लेना नवोदित राष्ट्रों के लिए एक असुविधाजनक स्थिति थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे एक ऐसी भूमिका की खोज में थे जो उनके आत्मसम्मान और क्षमता के अनुरूप हो। अतः आत्मसम्मान की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के लिए सामूहिक पहल न सिर्फ वांछित थी, अपितु आवश्यक थी। स्वतन्त्रता और सामूहिकता की इस मानसिकता ने गुटनिरपेक्षता की वैचारिक और राजनीतिक नींव रखी।

भारत से पण्डित जवाहरलाल नेहरू, मिस्र से कर्नल नासिर तथा यूगोस्लोवाकिया से जोसिप ब्रॉज टीटो ने इस आन्दोलन को संगठित करने की पहल की। इन प्रथम निर्माताओं में नेहरू को विशेष रूप से याद किया जाता है क्योंकि वे इसके प्रमुख एवं प्रथम प्रतिपादक थे। उन्होंने सुसंगत तर्कसंगत एवं प्रभावपूर्व ढंग से इस आन्दोलन के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

4.3 गुटनिरपेक्षता की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषा

गुट निरपेक्षता का अभिप्राय है कि शीत-युद्ध के दौर में दो महाशक्तियों के विद्यमान दो मुख्य विरोधी गुटों में से किसी एक में भी सम्मिलित होने से इंकार करना। गुट निरपेक्षता को इस प्रकार भी परिभाषित किया जा सकता है कि किसी भी देश के साथ सैनिक गठबंधन में शामिल न होना फिर चाहे यह संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व वाला पश्चिमी देशों का गुट हो या पूर्व सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी गुट। गुट-निरपेक्षता का सरल अर्थ है, “विभिन्न शक्ति-गुटों से तटस्थ या अलग रहते हुए स्वतन्त्र विदेश नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार न्याय का समर्थन करना।” इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में ‘तटस्थता’ नहीं है। गुट-निरपेक्ष देश विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रहते बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति का अनुसरण करते हैं जो विश्व शान्ति की स्थापना में सहायक हो। भारत सरकार की विदेश नीति के अनुसार “गुट निरपेक्षता का अर्थ है” अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। एक गुट के साथ जुड़कर उचित-अनुचित का विचार किए बिना आँख मुँदकर पीछे-पीछे चलना गुट निरपेक्षता नहीं है। “‘तटस्थता’ और ‘गुट निरपेक्षता’ पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। इनमें केवल यह समानता है कि दोनों के अन्तर्गत शीत-युद्ध के समय संघर्ष से पृथक रहा जाता है, लेकिन आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ वास्तविक युद्ध छिड़ने पर तटस्थ राष्ट्र युद्ध से पृथक रहता है, वहाँ गुट-निरपेक्ष देश युद्ध में किसी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। न्याय का समर्थन करते हुए इसकी विदेश नीति सकारात्मक रूप से संचालित होती है।

गुटनिरपेक्षता के अग्रदूत पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, “मैं ‘तटस्थ’ शब्द का प्रयोग नहीं करता क्योंकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल में होता है। शान्तिकाल में भी इससे एक प्रकार की युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।” जार्ज लिस्का ने लिखा है कि, “किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है, किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किन्तु असंलग्नता या गुट-निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत में भेद करना तथा सहेज सही नीति का समर्थन करना।”

शीत-युद्ध से पृथक्करण ही गुटनिरपेक्षता का सार तत्त्व है। यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से सन्यास लेने की नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न्यायपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। 1961ई. में गुटनिरपेक्षता के तीन कर्णधारों- पण्डित नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके निम्नलिखित पांच आधार स्वीकार किए थे-

1. सदस्य देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो,
2. सदस्य देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो,
3. सदस्य देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो,
4. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो, एवं
5. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दी हो।

संक्षेप में, गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय है, अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। विदेश नीति में यह एक स्वतंत्र निश्चित घोषणा है।

4.4 गुट-निरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले कारक

गुट-निरपेक्षता की नीति सैद्धान्तिक रूप में बहुत पहले से विद्यमान थी, लेकिन इसे व्यावहारिक रूप से साकार करने में भारत को उल्लेखनीय भूमिका रही। इसके पश्चात् कुछ और राष्ट्रों ने गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाया, जैसे- इण्डोनेशिया, यूगोस्लाविया तथा संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र)। लेकिन छठे और सातवें दशक में एशिया और अफ्रीका के अनेक देश स्वतन्त्र हुए जिनमें से अधिकांश ने गुट-निरपेक्षता को राष्ट्रीय विदेश नीति के रूप में स्वीकार किया। वर्तमान में विश्व के अधिकांश देश इस नीति को स्वीकार कर चुके हैं। गुटनिरपेक्षता के विकास तथा लोकप्रियता के पीछे निम्नलिखित कारणों का योगदान रहा है।

4.4.1 शीत-युद्ध - द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हुए। दोनों पक्षों में तीव्र तनाव, वैमनस्य और मतभेदों की इतनी विषम स्थिति उत्पन्न हो गयी कि वे परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध कटुवागामी और आरोपों की वर्षा करने लगे। यह कहना उचित होगा कि बारूद के गोले व गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी कागज के गोलों और अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल युद्ध छिड़ गया। अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति में इसी युद्ध को शीत-युद्ध की संज्ञा दी जाती है। शीत युद्ध के इस वातावरण में नवस्वतन्त्र राष्ट्रों ने किसी भी पक्ष का समर्थन न करके पृथक् रहने का निर्णय किया। शीत युद्ध से पृथक् रहने की नीति ही आगे चलकर गुटनिरपेक्षता के नाम से जानी जाने लगी।

4.4.2 राष्ट्रवाद की भावना- राष्ट्रीयता की भावना एशियाई, तथा अफ्रीकी देशों के स्वतन्त्रता आन्दोलन की मुख्य प्रेरणा थी। इन देशों के नागरिकों ने लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, अतः वे किसी भी स्थिति में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को खोना नहीं चाहते थे। गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से उनका विश्वास था कि वे बड़ी ताकतों के हाथों में खिलौना बनने से स्वयं को बचा सकेंगे।

4.4.3 उपनिवेशवाद का विरोध- नवोदित अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों में यह भय विद्यमान रहा है कि बड़े राष्ट्रों के साथ सैनिक सम्झियों में बँध जाने पर वे फिर उनके दबाव में आ जाएँगे। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का कटु अनुभव होने के कारण राष्ट्रों में यह धारणा बन गई कि गुटों से निरपेक्ष रहकर ही वे अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गरिमा को अक्षुण्ण रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरोध की मनोवृत्ति ने भी उन्हें ऐसा करने को प्रेरित किया।

4.4.4 आर्थिक कारक- गुटनिरपेक्षता का एक अन्य आधार आर्थिक है। प्रायः सभी गुट निरपेक्ष देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे और उनके रहन-सहन का स्तर नीचा था। अतः उनकी विदेश नीति का एक प्रमुख व्येय त्वरित आर्थिक विकास को बढ़ावा देना था, परन्तु इसके लिए न तो इनके पास पूँजी थी, न तकनीकी कौशल था। अतः उन्होंने अपनी विदेश नीति को ऐसा मोड़ दिया कि उन्हें जो चीजें 'कोई शर्त रखे बगैर' जहाँ से भी मिल सकती हों मिल जाएं क्योंकि उन्हें इनकी नितान्त आवश्यकता थी। यहाँ भी इन्हें किसी भी गुट में सम्मिलित न होने का मार्ग सबसे अच्छा लगा। उन्हें साफ लगा कि अगर वे किसी एक गुट में शामिल हो गए तो उन्हें एक से अधिक स्त्रोतों से सहायता मांगने की अपेक्षित स्वतन्त्रता से वंचित होना पड़ेगा। सारांश में दोनों ही गुटों से सहायता प्राप्त करने की ललक ने भी उन्हें गुट-निरपेक्षता को अपनाया।

4.4.5 विश्व शान्ति की इच्छा- ये सभी देश यह अनुभव कर चुके थे कि जब तक विश्व में शान्ति स्थापित नहीं होती, तब तक उनका स्वयं का विकास नहीं हो सकेगा, अतः विश्व को तृतीय विश्व युद्ध की विभीषिका से बचाने तथा विश्व-शान्ति को अक्षुण्ण रखने की अद्यता इच्छा ने अनेक राष्ट्रों को गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

4.4.6 संयुक्त राष्ट्र संघ का अस्तित्व- इन देशों की गुट निरपेक्षता अपनाने हेतु प्रोत्साहन संयुक्त राष्ट्र संघ के अस्तित्व से भी मिला। यह ऐसी संस्था थी जिसके माध्यम से वे अन्य सहा-शक्तियों के समकक्ष स्तर से अपनी स्वतन्त्र विचारधारा विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते थे।

4.4.7 नेतृत्व- द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में गुट-निरपेक्ष देशों को विश्व स्तर के नेताओं का नेतृत्व प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जोसिफ ब्रॉज टीटो, अब्दुल गामेल नासिर और डॉ. सुकर्ण ये सभी विश्व स्तर के नेता थे और इनके नेतृत्व में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन तौत्र गति से आगे बढ़ा। इनके नेतृत्व ने भी तृतीय विश्व युद्ध के राष्ट्रों को गुट निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया।

4.4.8 स्वतन्त्र विदेश नीति के संचालन की अभिलाषा- नवोदित एशिया और अफ्रीका के राष्ट्र गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से अपने को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति के फलस्वरूप आज ये किसी बड़ी शक्ति के उपग्रह मात्र की स्थिति में नहीं रहेंगे और न ही दूसरों के संकेत पर नाचने के लिए बाध्य होंगे। उपर्युक्त कारणों के कारण गुट निरपेक्षता की अवधारणा का अभ्युदय हुआ।

4.5 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की संस्थायें

गुट-निरपेक्षता एक आन्दोलन है। यह एक मनोदशा है। अतः इसके लिए किन्हीं स्थायी संस्थाओं का विकास नहीं किया गया। फिर भी गुटनिरपेक्ष देशों में समन्वय स्थापित करने के लिए, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संयुक्त कार्यवाही करने के लिए तथा आन्दोलन की प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों एवं समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए तीन संस्थाओं का विकास हुआ है: (1) समन्वय ब्यूरो, (2) विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन, तथा (3) शिखर सम्मेलन।

4.5.1 समन्वय ब्यूरो- गुटनिरपेक्ष देशों में निरन्तर विचार-विमर्श करने और कार्य में समन्वय स्थापित करने के लिए यह एक उपयोगी एवं सक्रिय केन्द्र है। इसे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की कार्यकारी भुजा कहा जाता है। इसका स्वरूप एक 'तैयारी समिति' की भाँति है जो गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए मसाविदे तैयार करता है, संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संयुक्त कार्यवाही एवं अगुआई करता है। समन्वय ब्यूरों में पहले 17 सदस्यों को सर्वसम्मति से नामजद किया जाता था। मार्च 1983 के नई दिल्ली शिखर सम्मेलन ने इसके सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 66 कर दी है। इसमें 31 अफ्रीका के, 23 एशिया के, 10 लैटिन अमेरिका के और 2 यूरोप के सदस्य हैं। इसके सदस्यों का निर्वाचन होता है।

4.5.2 मन्त्री स्तर (विदेश मन्त्रियों) का सम्मेलन- इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेशमन्त्री भाग लेते हैं। सम्मेलन जहाँ गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए कार्यसूची तैयार करता है वहाँ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक देशों के आवदेन-पत्रों पर विचार-विमर्श एवं निर्णय भी लेता है। सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर भी विचार-विमर्श करता है। तथा गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का भी प्रयास करता है। इस प्रकार के सम्मेलन समय-समान घर होते रहते हैं। जैसे- कार्टागेना में 18-20 मई, 1998 तक आयोजित मन्त्री स्तरीय गुट निरपेक्ष आन्दोलन के समन्वय ब्यूरो की बैठक डरबन में होने वाले 12 वें शिखर सम्मेलन की तैयारी में की गई थी। विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन की असाधारण बैठक भी बुलाई जा सकती है। उदाहरण के लिए, नामीबिया के प्रश्न पर इस प्रकार की एक असाधारण बैठक नई दिल्ली में 19 से 21 अप्रैल, 1985 तक बुलायी गयी थी। विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन, गुट निरपेक्ष आन्दोलन में महत्ती भूमिका का निर्वाह करता है।

4.5.3 शिखर सम्मेलन- शिखर सम्मेलन गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की सबसे बड़ी सभा है। यह सम्मेलन प्रति तीन वर्ष बाद होता है जिसमें गुटनिरपेक्ष देशों के प्रधान या शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं। शिखर सम्मेलन में प्रायः चार प्रकार के सदस्य भाग लेते हैं- पूर्ण सदस्य, पर्यवेक्षक सदस्य, पर्यवेक्षक गैर राज्य सदस्य और अतिथि। शिखर सम्मेलन में निष्पत्ति सर्वसम्मति से होते हैं। इसमें मतदान नहीं होता है। पूर्ण सदस्य एवं पर्यवेक्षक सदस्य सम्मेलन की कार्यवाही में भाग लेते हैं। अतिथि सदस्यों को सम्मेलन की गुप्त बैठकों में उपस्थित होने की आज्ञा नहीं होती है वे केवल औपचारिक समारोह में ही अर्थात् उद्घाटन और समापन समारोहों में ही भाग ले सकते हैं।

शिखर सम्मेलन गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के विकास का सर्वक्षण करता है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करता है तथा घोषणाओं द्वारा राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम की योजनाये निर्धारित करता है। अब तक कुल 13 शिखर सम्मेलन हुए हैं। पहला शिखर सम्मेलन सन् 1961 में यूगोस्लाविया को राजधानी बेलग्रेड में तथा 13 वां शिखर सम्मेलन 2001 में बांग्लादेश की राजधानी ढाका में सम्पन्न हुआ। इन शिखर सम्मेलनों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित प्रकार से है-

प्रथम शिखर सम्मेलन : बेलग्रेड (1961)

1 से 6 सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन राष्ट्रपति टीटो के सुझाव से आमन्त्रित किया गया। इसमें 25 देशों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन में मुख्य रूप से अग्र विषयों पर विचार-विमर्श किया गया :

1. इस सम्मेलन द्वारा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया गया जिनसे विश्व-युद्ध आरम्भ हो सकता था। ये समस्याएँ थीं- बर्लिन की समस्या, संयुक्त राष्ट्र में साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न तथा कांगो की समस्या।
2. इस सम्मेलन द्वारा यह मांग की गयी कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार अपने शासन का स्वरूप निर्धारण और संचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।
3. सम्मेलन द्वारा हर प्रकार के साम्राज्यवाद को विश्व-शान्ति के लिए हानिकारक घोषित किया गया।
4. सम्मेलन द्वारा यह घोषणा की गयी कि बिना किसी भेदभाव के सभी देशों की प्रभुसत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए और एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप की नीति का समर्थन करना चाहिए।
5. दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की भर्त्सना की गयी।

बेलग्रेड सम्मेलन के निर्णयों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बड़ा सकारात्मक प्रभाव पड़ा। सम्मेलन में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया। इस सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया तथा उनकी राय को भावी महत्व दिया गया।

द्वितीय शिखर सम्मेलन : काहिरा (1964)

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का द्वितीय शिखर सम्मेलन 5 अक्टूबर से 11 अक्टूबर, 1964 ई. के मध्य काहिरा में आयोजित किया गया, जिसमें 47 देशों के प्रतिनिधि एवं 10 पर्यवेक्षक देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य गुटनिरपेक्षता के क्षेत्र को विस्तृत करना और इसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना था। सम्मेलन विश्व की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किए गए : -

1. राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने में शान्तिपूर्ण वार्ता का मार्ग ही अपनाना चाहिए।
2. सम्मेलन के द्वारा पूर्ण निःशास्त्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया और मांग की गयी कि परमाणु परीक्षणों पर रोक लगायी जाए।
3. दक्षिण रोडेशिया की अल्पमत गोरी सरकार को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए।
4. सम्मेलन ने दक्षिणी अफ्रीका सरकार की रंगभेद की नीति की घोर निन्दा की और विश्व के सभी राष्ट्रों का इस बात के लिए आह्वान किया कि वे दक्षिण अफ्रीका से कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लें।
5. सभी प्रकार के उपनिवेशवाद का अन्त किया जाए। कम्बोडिया और वियतनाम में विदेशी हस्तक्षेप का अन्त किया जाना चाहिये।
6. चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया जाए।

तृतीय शिखर सम्मेलन : लुसाका (1970)

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का तीसरा शिखर सम्मेलन अफ्रीकी देश जाम्बिया की राजधानी लुसाका में 6 से 10 सितम्बर, 1970 में हुआ। इस सम्मेलन में 54 राष्ट्रों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त 9 राष्ट्रों ने पर्यवेक्षक के रूप में भाग लिया। सम्मेलन की प्रमुख घोषणाएँ निम्नलिखित थीं -

1. अमीर-गरीब देशों में खाई को पाटा जाय।
2. सुरक्षात्मक आवश्यकताओं का विस्तार किया जाय।
3. पुराने उपनिवेशवाद के साथ-साथ नव-उपनिवेशवाद की भी आलोचना की गई।
4. गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का स्थायी सचिवालय को स्थापना करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

चतुर्थ शिखर सम्मेलन : अल्जीयर्स (1973)

गुटनिरपेक्ष देशों का चौथा शिखर सम्मेलन अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 9-10 सितम्बर, 1973 में हुआ। इस सम्मेलन में 75 देशों के पूर्ण सदस्य और 8 ने पर्यवेक्षक के रूप में भाग लिया था। इसमें निम्नलिखित विषयों पर विचार किया गया :

1. सम्मेलन में महात्मा रुद्रों के मध्य तनाव-शैथिल्य का स्वागत किया गया।
2. साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातीय विद्रोह के उन्मूलन पर जोर दिया गया।
3. यह निश्चय किया गया कि गुटनिरपेक्ष देशों को अपने आर्थिक साधनों का पूर्ण उपभोग करने का अधिकार है।
4. गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को विश्व की राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियों के निर्माण में सक्रिय भाग लेने के लिए संगठित होकर विकसित राष्ट्रों पर दबाव बनाये रखना चाहिए।

पांचवां शिखर सम्मेलन : कोलम्बो (1976)

16 से 20 अगस्त, 1976 तक कोलम्बो में गुटनिरपेक्ष देशों का पांचवां शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 88 देशों ने पूर्ण सदस्यों के रूप में, 16 ने पर्यवेक्षक गैर-राज्य तथा 7 ने अतिथि सदस्यों के रूप में भाग लिया। इस सम्मेलन में नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था विकसित करने का संकल्प व्यक्त करते हुए, जो आर्थिक घोषणा पत्र जारी किया गया उसमें निम्नलिखित बातें कही गयीं :

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या को इस तरह से पुनर्गठित किया जाए जिसके बहावशील देशों को बेहतर शर्तों पर व्यापार करने का मौका मिले और उनको अपने निर्यात का उचित मूल्य प्राप्त हो।
2. श्रम के नए अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार पर उत्पादन को नए सिरे से पुनर्गठित किया जाए।

3. विश्व मुद्रा प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाए और मुद्रा सम्बन्धी सुधारों में विकासशील देशों की राय को वही प्रतिष्ठा आदर मिले जो विकसित देशों को मिलता है।
4. यह भी प्रस्ताव किया कि हिन्द महासागर को एक शान्ति क्षेत्र घोषित किया जाये।
कोलम्बो में भारत ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया और इसमें पारित प्रस्तावों में उसकी महत्ती भूमिका रही।

छठा शिखर सम्मेलन : हवाना (1979)

छठा शिखर सम्मेलन हवाना (क्यूबा) में 3 सितम्बर, 1979 को क्यूबा के राष्ट्रपति डॉ. फिदेल कास्त्रो के साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद और अमरीका विरोधी भाषण के साथ शुरू हुआ। 94 देशों के राष्ट्राध्यक्षों अथवा विदेश मन्त्रियों ने भाग लिया। सम्मेलन के घोषणा पत्र में कहा गया कि :

1. गुटनिरपेक्षता का साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, नस्लवाद विदेशी प्रभुत्व, विदेशी कब्जे और हस्तक्षेप एवं चौधराहट के विरुद्ध संघर्ष से स्वाभाविक सम्बन्ध है।
2. गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों से अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति एवं एकता के लिए एकजुट रहने को कहा गया।
3. सभी गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों से अपील की गयी कि वे दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत छापामार युद्ध का समर्थन करें।
4. तेल निर्यातक देशों से अपील की गयी कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल की सप्लाई कर्तव्य न करें।
5. मिस्र इजराइल के साथ अपने मतभेदों को दूर कर चुका था इसलिए कुछ इजराइल विरोधी देशों ने मिस्र को सम्मेलन से निकालने की मांग की। लेकिन इस प्रस्ताव पर मात्र बहस ही हुई।

सातवां शिखर सम्मेलन : नई दिल्ली (1983)

गुटनिरपेक्ष देशों के राष्ट्राध्यक्षों का सातवां शिखर सम्मेलन 6 से 12 मार्च 1983 को नई दिल्ली में प्रधानमंत्री श्रीमति इन्दिरा गांधी की इस अपील के साथ आरम्भ हुआ कि विश्व की महाशक्तियाँ आणविक हथियारों के प्रयोग की धमकी देना बन्द करें और केवल अपने स्वार्थ की चिन्ता छोड़कर सम्पूर्ण मानवता के भले की बात सोचें। तृतीय विश्व के इस सभसे विशाल सम्मेलन की सभसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि अनेक द्विपक्षीय मसलों पर पारस्परिक मतभेद होते हुए भी चुने हुए महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर आम राय कायम हो पायी। सम्मेलन के 101 सदस्य देशों में स 93 देशों ने इसमें हिस्सा लिया।

सम्मेलन में एक आर्थिक घोषणा-पत्र को स्वीकार किया गया जिसमें सदस्य देशों के विकास के लिए आर्थिक सहायता जुटाने एवं पूँजी लगाने के कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय योगदान के उपायों पर विचार किया जा सके। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं वित्तीय प्रणाली के व्यापक पुनर्गठन की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। इसके अलावा विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग के कार्यक्रम चलाने का सुझाव भी दिया गया।

राजनीतिक प्रस्ताव में दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत लोगों के शोषण, उनके प्रति असमानता के व्यवहार व उनके अधिकारों के हनन की भर्त्यना करते हुए तथा उनके संघर्ष में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा पूरा सहयोग दिए जाने की बात कही गयी। अफगानिस्तान समस्या का राजनीतिक हल खोजने और वहां से विदेशी सेनाओं की वापसी की मांग करते हुए राजनीतिक घोषणा में उस देश की स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता के प्रति पूरा सम्मान व्यक्त किया गया। कम्पूचिया के बारे वहां के नागरिकों को अपने देश की सरकार के बारे में निर्णय लेने व विदेशी हस्तक्षेप समाप्त करने की बात पर पुनः बल दिया गया।

आठवां शिखर सम्मेलन : हरारे (1986)

गुटनिरपेक्ष देशों का सात दिन का आठवां शिखर सम्मेलन 1-7 सितम्बर, 1986 को हरारे (जिम्बाब्वे) में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन के समाप्ति पर एक घोषणा-पत्र जारी किया गया। जिसमें सभी सदस्य देशों के बीच अधिक आर्थिक सहयोग तथा दक्षिण में अधिक तेज गति से विकास के लिए उत्तर दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया। इस सम्मेलन ने समाचारों के वितरण पर पश्चिमी

एकाधिकार को समाप्त करने के लिए नयी अन्तर्राष्ट्रीय सूचना तथा सम्पर्क व्यवस्था को कायम करने के लिए आह्वान किया। यह समझते हुए कि दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद शासक उन अधिग्राम पंक्ति के देशों के विरुद्ध जवाबी कार्यवाही करें जो उसके विरुद्ध प्रतिबंधों को लागू कर रहे थे, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा रंगभेद के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक कार्यवाही करने के लिए एक कोष की स्थापना का निर्णय किया। इसको संक्षेप में अफ्रीकी फण्ड (Action for Resistance Against Imperialism Colonialism and Apartheid) कहा गया। इस कोष को न केवल गुटनिरपेक्ष देश धन देंगे बल्कि अन्य देशों से भी धन देने को कहा जाएगा। सम्मेलन ने नामीबिया की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाए जाने की माँग की।

नवां शिखर सम्मेलन : बेलग्रेड (1989)

4 से 7 सितम्बर, 1989 को यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में नवां गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में इस आन्दोलन के 102 सदस्य देशों में से 98 ने भाग लिया। सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि भारत की अध्यक्षता में स्थापित अफ्रीकी कोष जैसे का तैसा बना रहेगा। नामीबिया के प्रश्न पर सम्मेलन ने अपनी 18 सदस्यीय समिति को अनुदेश दिया कि वह नामीबिया में स्वतन्त्रता के पश्चात हो रहे प्रथम चुनावों के समय वहाँ जाये और इस बात को देखे कि दक्षिणी अफ्रीका की नस्लवादी गोरी सरकार उसको असफल बनाने का प्रयत्न न करे।

सम्मेलन में विकासशील देशों के बीच सहयोग को बढ़ावा देने पर बल देते हुए 'उत्तर-दक्षिण सहयोग' (North-South Co-operation) की आवश्यकता पर बल दिया गया। बेलग्रेड घोषणा-पत्र में राष्ट्रों के आत्मविनियोग के अधिकार तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति के आह्वान को दोहराया गया तथा भारत के 'धरती रक्षा कोष' की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुमोदन किया गया। इसके अतिरिक्त मादक पदार्थों के प्रसार को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए परमाणु शक्ति के विकास की छूट, परमाणु कचरे को सुरक्षित रूप से दफनाने तथा दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद और जातीय पृथक्करण की समाप्ति की माँग की गयी।

दसवां शिखर सम्मेलन : जकार्ता (1992)

इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में 1 से 6 सितम्बर, 1992 तक गुटनिरपेक्ष देशों का दसवां शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में 108 राष्ट्रों ने भाग लिया। सोवियत संघ के पतन तथा शीत युद्ध के अंत के बाद इस सम्मेलन में यह आम सहमति रही कि द्वारा आन्दोलन की आगी भी प्रारंगिकता है। सागेलन की सामाजिक बाद 6 रितावर जो घोषणा पत्र जारी किया गया उसे 'जकार्ता घोषणा पत्र' के नाम से जाना जाता है। इसमें आतंकवाद की निन्दा करने, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने, सदस्य राष्ट्रों से आर्थिक मुद्रों को प्राथमिकता देने, अल्प विकास के विरुद्ध जेहाद छेड़ने तथा बोसनिया-हर्जेगोविना में हो रहे नरसंहार को रोकने का संकल्प व्यक्त किया गया। अन्तिम घोषणा में गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया। दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव परित किए गए— इसमें से एक का सम्बन्ध विकसित और विकासशील देशों के बीच बातचीत के महायुद्ध से विकासशील देशों के लिए बेहतर व्यापार और सहायता शर्तों की माँग से था। साथ ही विकासशील देशों के बीच आपसी सम्बन्धों को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। अन्य प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापक पुनर्गठन, विशेषकर इसके महत्वपूर्ण अंग, सुरक्षा परिषद के विस्तार के बारे में था।

ग्यारहवां शिखर सम्मेलन : कार्टागेना (1995)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 11 वां सम्मेलन अक्टूबर, 1995 में कार्टागेना (कोलोम्बिया) में आयोजित किया गया। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इस सम्मेलन ने गुट रहित विश्व की परिवर्तित परिस्थितियों में अपनी उपयुक्त भूमिका तलाश करने का प्रयास किया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र का सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशास्त्रीकरण, विकास, मानवाधिकार, सामाजिक मुद्रों और दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रश्न पर व्यापक विचार विमर्श हुआ। शिखर सम्मेलन की समाप्ति के बाद चार पृष्ठ का 'कोलम्बिया आह्वान' जारी किया गया, जिसमें सदस्य देशों ने माँग की कि कम आय वाले विकासशील देशों पर जो ऋण चढ़ा हुआ है उसे समाप्त किया जाए। इसके साथ ही गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने यह आह्वान किया कि विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में सुधार किया जाए क्योंकि इन वित्तीय संस्थाओं में विकासशील देशों को मतदान के व्यापक अधिकार नहीं है। निर्गुट देशों ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग बढ़ाने एवं पूर्ण निःशास्त्रीकरण का लक्ष्य पाने का प्रयास शुरू करने का भी आह्वान किया। इस सम्मेलन का अधिकांश समय विश्व की ज्वलन्त आर्थिक समस्याओं पर विचार करने में व्यतीत हुआ। इसमें 113 सदस्य देशों में से 108 देशों ने भाग लिया।

बारहवां शिखर सम्मेलन : डरबन (1998)

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन देशों का 12 वां शिखर सम्मेलन 2-3 सितम्बर, 1998 को डरबन (दक्षिण अफ्रीका) में सम्पन्न हुआ। शिखर सम्मेलन में संकेत दिया कि भविष्य में तृतीय विश्व का नेतृत्व अफ्रीका महाद्वीप के हाथों में होगा। ऐसे संकेत दिखाई दिये कि इस आन्दोलन की कमान दक्षिण अफ्रीका अपने हाथ में लेना चाहता है। उपनिवेशवाद तथा रंगभेद की नीति की कड़वाहट लम्बे समय तक झेल चुके दक्षिण अफ्रीका की मुखराता देखकर इस शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी राष्ट्र हैरान थे। दक्षिण अफ्रीका ने राजनीति से अधिक इस सम्मेलन में आर्थिक मुद्दों पर जोर देने का प्रयत्न किया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष नेल्सन मण्डेला ने कश्मीर समस्या पर टिप्पणी करके द्विपक्षीय मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर लाने का प्रयत्न किया, परन्तु भारतीय दबाव को देखते हुए मण्डेला को क्षमायाचना करनी पड़ी। इस शिखर सम्मेलन में जारी घोषणा-पत्र में इस बात पर जोर दिया गया कि परमाणु हथियारों का पूरी तरह उन्मूलन करके अनुमुक्त विश्व की रचना की जानी चाहिए।

तेरहवां शिखर सम्मेलन : कुआलालम्पुर (2003)

116 सदस्यीय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 13वां शिखर सम्मेलन 24-25 फरवरी, 2003 को कुआलालम्पुर (मलेशिया) में सम्पन्न हुआ। 24 फरवरी को तिमोर लेरन्टे (पूर्वी तिमोर) तथा सेंट विसेंट व ग्रेनाडा द्वीप समूह को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में विधिवत शामिल कर लिया गया, जिससे अब गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य देशों की संख्या 114 से बढ़कर 116 हो गयी। इस अवसर पर स्वीकृत कुआलालम्पुर घोषणा-पत्र में बहुधुवीय विश्व को बढ़ावा देने तथा बातचीत व राजनियक तरीकों से विश्व में शान्ति बनाए रखने पर जोर दिया गया। घोषणा पत्र में आन्दोलन में फिर से प्राण फूकने का कार्यक्रम भी घोषित किया गया। आन्दोलन ने इराक संकट के संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से तत्काल हल किए जाने पर जोर दिया तथा इराक पर खाड़ी युद्ध के समय से लागू प्रतिबन्ध हटाने की मांग की। घोषणा पत्र में सदस्य देशों से आतंकवादी गुटों व संगठनों के आर्थिक व कार्यक्रांतिक तन्त्र को ध्वस्त करने की अपील की गई।

घोषणा पत्र में कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र के साथ-साथ आन्दोलन के सदस्यों के बीच बहुपक्षीय प्रक्रिया अनिवार्य तौर पर अपनानी चाहिए। आन्दोलन के नेताओं ने संयुक्त राष्ट्र को सुदृढ़ करने तथा बहुधुवीय विश्व को बढ़ावा देने का संकल्प व्यक्त किया ताकि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती का सामना किया जा सके।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन

क्रम संख्या	स्थान	वर्ष	सदस्य देशों की संख्या
1.	बेलग्येड (यूगोस्लाविया)	1961	25
2.	काहिरा (मिस्र)	1964	47
3.	लुसाका (जाम्बिया)	1970	54
4.	अल्जीयर्स (अल्जीरीया)	1973	75
5.	कोलम्बो (श्रीलंका)	1976	88
6.	हवाना (क्यूबा)	1979	94
7.	नई दिल्ली (भारत)	1983	101
8.	हरारे (जिम्बाब्वे)	1986	101
9.	बेलग्येड (यूगोस्लाविया)	1989	102
10.	जकार्ता (इण्डोनेशिया)	1992	108
11.	कार्यगेना (कोलम्बिया)	1995	108
12.	डरबन (दक्षिण अफ्रीका)	1998	113
13.	कुआलालम्पुर (मलेशिया)	2003	116

4.6 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन : उपलब्धियाँ

1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन से यह आन्दोलन विस्तृत या व्यापकता ग्रहण करता जा रहा है। प्रथम शिखर सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया था और 2003 में कुआलालाम्पुर में आयोजित 13 वें शिखर सम्मेलन में आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 115 हो गयी है। सदस्यों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ इस आन्दोलन के कार्यक्षेत्र का भी काफी विस्तार हुआ है। यह सही है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दिशा को नहीं बदल सका है तथापि इसने अपनी अनेक कमियों तथा असफलताओं के बाद भी विश्व शान्ति को अपना सकारात्मक योगदान दिया है, जिनका निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया जा सकता है-

4.6.1 विश्व शान्ति में सहायक- गुट-निरपेक्षता मानव इतिहास का सबसे बड़ा शान्तिवादी आन्दोलन है। इसकी वाणी शान्ति की वाणी है, इसका लक्ष्य विश्व शान्ति है। इसमें शान्ति के आयामों को बढ़ावा दिया है। इसने तनाव को कम करने, संघर्षों को शान्त करने, युद्ध में रत देशों को सम्मेलन की मेज पर लाने और राष्ट्रों के तनावों तथा आपसी संघर्षों को कम करने में सक्रिय भूमिका निभाई है। इस आन्दोलन ने शीत युद्ध की रणनीति से अलग रहने का निर्णय लेकर शस्त्रीकरण की प्रवृत्ति तथा तनावों और संघर्षों की राजनीति में कमी लाने में सफलता प्राप्त कर विश्व शान्ति को बनाए रखने में अपना सकारात्मक योगदान दिया है।

4.6.2 उपनिवेशवाद विरोधी मंच- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य उपनिवेशवाद का अंत करना था। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध जनमत जाग्रत करने तथा उन्हें विलुप्त करने में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन निरन्तर एक मुख्य कारक रहा है।

4.6.3 रंगभेद का विरोध- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने रंग के आधार पर भेदभाव तथा अन्याय का कड़ा प्रतिवाद किया और दक्षिण अफ्रीका एवं नामीबिया में रंगभेद विरोधी आन्दोलन को पूरा समर्थन दिया। रंगभेद को जड़ से उखाड़ने के लिए एक “अफ्रीका कोष” की स्थापना की गयी। यह कोष अगली पंक्ति वाले अफ्रीकी देशों को आश्वासन देता था कि नस्लवाद के विरुद्ध लड़ाने में वे अकेले नहीं बल्कि ‘गुटनिरपेक्ष’ के सभी देश उनके साथ हैं।

4.6.4 निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति- शान्ति एवं निःशस्त्रीकरण को बनाये रखने की दिशा में सभी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। विश्व में शान्ति के क्षेत्रों में होने वाले प्रसार के कारण कम से कम देश सैनिक गठबंधनों में शामिल हुए। इसने लगातार निःशस्त्रीकरण के लिये प्रयास किये तथा हथियारों की दौड़ के अंत के लिए कहा कि विश्वव्यापी शांति तथा सुरक्षा को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत सामान्य एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण हो। इसने यह भी समझाया कि हथियारों की दौड़ उन महत्वपूर्ण संसाधनों को बर्बाद करती है जिनका प्रयोग सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए किया जाना चाहिये।

4.6.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को स्थानान्तरित करना- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने संयुक्त राष्ट्र के चरित्र को परिवर्तित कराने में सफलता प्राप्त की और इसके फलस्वरूप इसके विभिन्न अंगों के माध्यम से संचालित होने वाले अंतर्राज्य संबंधों की दिशा में भी परिवर्तन हुआ। 1940 तथा 1950 के दशकों में संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अंगों में होने वाली कार्यवाहियों पर महाशक्तियों तथा उनके सहायक देशों का पूर्ण प्रभुत्व बना रहता था।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के उद्गम ने इस स्थिति को बदल दिया। इसने साधारण सभा में न केवल एक नवीन बहुसंख्यक मत प्रणाली को विकसित किया अपितु एक ऐसे सामूहिक मंच का भी निर्माण किया, जिसके माध्यम से तृतीय विश्व दुनिया के देश अपने हितों को भी उठा सकते थे। आज तृतीय विश्व के देशों के मत का संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व इतना प्रभावशाली हो गया है कि यह कई बार विकसित देशों के विचारों से कहीं अधिक प्रभावशाली हो जाता है। इस प्रकार शान्ति, आर्थिक न्याय और सह-अस्तित्व के पक्ष में एक ऐसे प्रबल विश्व जनमत का निर्माण हुआ जिसकी उपेक्षा महाशक्तियाँ नहीं कर सकती थीं।

4.6.6 शीत युद्ध को शस्त्र-युद्ध में परिणात होने से रोकना- गुटनिरपेक्ष देश दोनों गुटों और सर्वोच्च शक्तियों के बीच सद्भावना हेतु और सम्पर्क के माध्यम का काम करने को तत्पर रहे जिससे दूसरे शीत-युद्ध के काल में पक्षों के बीच गलतफहमियों को दूर करने का प्रयास किया। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने शीत युद्ध को शस्त्र युद्ध या विश्व युद्ध में परिणत नहीं होने दिया।

4.6.7 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग- आजकल गुट-निरपेक्ष राष्ट्र नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (एन.आई.ई.डी.) की मांग कर रहे हैं। अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सार्वभौमिकता के बावजूद नये स्वतन्त्र देश आर्थिक रूप से असमान बने रहे। वे पूर्व की भाँति ही कच्चे माल के उत्पादक देश बने रहे जो अपनी वस्तुओं को विकसित देशों को कम से कम मूल्य पर बेचते तथा

उत्पादित वस्तुओं को उनसे उच्च मूल्य पर खरीदते। दुःख इस विषय का था कि वे दमनात्मक आर्थिक व्यवस्था के न केवल अतीत के भाग थे अपितु यह स्थिति अभी भी जारी थी और इसी के अन्तर्गत कार्य करना पड़ा रहा था। इस आर्थिक शोषण का अंत करने के लिए, जिसको नव उपनिवेशवाद भी कहा जाता है, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के काहिरा में जुलाई 1964 में आयोजित 'आर्थिक विकास की समस्याओं पर सम्मेलन' में पहली बार आर्थिक विकास के रूप में उल्लेख हुआ था। गुटनिरपेक्ष देशों की इसी पहल के क्रियान्वयन के रूप में ही 1974 के आरम्भ में संयुक्त राष्ट्र महासभा का छठा विशेष अधिवेशन बुलाया गया था, जिसने 1 मई, 1974 को 'नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की घोषणा' और 'एक कार्यवाही योजना के ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किए। इस तरह से नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण में भी गुट निरपेक्ष देशों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

4.6.8 विश्व समाज के लिए उन्मुक्त वातावरण का निर्माण- नवोदित कमजोर राष्ट्रों को महाशक्तियों के चंगुल से निकालकर उन्हें स्वतन्त्रता के वातावरण में अपना अस्तित्व बनाए रखने का अवसर गुटनिरपेक्षता ने प्रदान किया। गुटबन्दी की विश्व राजनीति के दमघोटू विश्व समाज में गुटनिरपेक्षता ताजी हवा का झाँका लेकर आयी। यही ताजी हवा थी खुले समाज के गुणों की, मुक्त और खुली चर्चा के वरदान की, तीव्र मतभेद और रोष के समय भी सम्पर्क के रास्ते खुले रखने के महत्व की। शीत युद्ध के कारण जो विकृतियाँ गैदा हो गयी थी, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने उन्हें दूर करने के अथक प्रयास किए, और इससे वर्तमान विश्व समाज कहीं अधिक खुला समाज बन गया। इस खुले समाज से विश्व में शान्ति, सद्भावना तथा सहिष्णुता का वातावरण बना।

4.6.9 विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की बुनियाद- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि इस तथ्य में निहित है कि इसने विकासशील राष्ट्रों को स्वतन्त्र आर्थिक विकास को जारी रखना सिखाया। कोलम्बों शिखर सम्मेलन में तो एक आर्थिक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया जिसका मुख्य आधार यह था कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक आर्थिक सहयोग हो और इस आर्थिक सहयोग के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाए। गुटनिरपेक्षता आर्थिक सहयोग का एक संयुक्त मोर्चा है। यह तृतीय विश्व के विकासशील देशों में सहयोग का प्रतीक है। 'दक्षिण-दक्षिण संवाद' का आह्वान निर्गुट राष्ट्रों के मंच से ही हुआ है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुट निरपेक्ष आन्दोलन की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ रही हैं।

4.7 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष चुनौतियाँ

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष समय तथा परिस्थियों के साथ-साथ अन्य चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं तथा इसे उनके दबावों का भी सामना करना पड़ा है और इसकी एकता, सुदृढ़ता एवं प्रभावशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख चुनौतियाँ निम्नलिखित प्रकार से हैं :

4.7.1 महाशक्तियों का दबाव- आरम्भ से ही महाशक्तियों ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के उदय को सदृच्छा से नहीं देखा अतः यह आन्दोलन अमरीका और सोवियत संघ दोनों की आलोचना का पात्र रहा। आरम्भ में अमरीका इसे 'साम्यवाद की ओर झुकाव' कह कर और सोवियत संघ इसे 'अमरीका का पिछलमण्' कह कर निन्दित करता था। द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका की विदेश नीति साम्यवाद के परिरोधन या अवरोध पर आधारित होने से नाटो, सीटो, सेन्टो जैसे सैनिक गठबन्धनों पर बल दे रही थी और गुटनिरपेक्ष अवधारणा इन सैनिक गठबन्धनों के ठीक विपरीत है। अतः गुटनिरपेक्ष आन्दोलन लम्बे समय से अमरीका की आँख की किरकिरी रहा है। अमरीका ने गुटनिरपेक्ष अवधारणा को 'अनैतिक', 'पथ भ्रष्ट राष्ट्रों का दर्शन' और 'हानिकारक शक्ति' की संज्ञा दी है। अमरीका ने गुटनिरपेक्ष देशों को डराने-धमकाने, उनके विकास को अवरुद्ध करने, उन्हें अन्दर से खोखला करने तथा स्वतन्त्र नीति अपनाने वाले नेताओं एवं देशों को बदनाम करने की जी-तोड़ साजिशें की हैं। उदाहरणतः भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश के विरुद्ध अमरीका ने पाकिस्तान की सैनिक सहायता दी। इसी प्रकार हिन्द महासागर में महाशक्तियों की सक्रिय गतिविधियाँ इस क्षेत्र के गुटनिरपेक्ष देशों पर दबाव डालने की ही चेष्टा है।

4.7.2 गुटनिरपेक्ष देशों में पारस्परिक तनाव एवं वैमनस्य- गुट-निरपेक्ष देश आपस में ही संगठित नहीं है। उनमें तनाव, वैमनस्य और भयकर विवाद उभरते रहे हैं। उदाहरणार्थ भारत और बंगलादेश दोनों ही गुटनिरपेक्षता के समर्थक हैं, किन्तु कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बंगलादेश ने भारत के साथ गंगा के पानी के बैंटवारे के प्रश्न को उठाकर विश्व के सामने अपने आपसी तनावों का ही प्रकटीकरण किया। 1999 के प्रारम्भ में पाकिस्तान ने करगिल में घुसपैठिए भेजकर भारत के साथ तनावों को जम्म दिया। अन्य गुट निरपेक्ष देशों के बीच भी तनाव की स्थिति है।

4.7.3 परिभाषा विहीन आन्दोलन- गुट-निरपेक्षता की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है। निश्चित परिभाषा के अभाव में गुटनिरपेक्षता के वास्तविक स्वरूप के आगे प्रश्न चिह्न लगा है। आन्दोलन स्वयं ही बहु-संलग्नता का अखाड़ा बन गया है। यह भेद मिटाए चला जा रहा है कि गुट-निरपेक्ष होने के लिए सैनिक असंलग्नता आवश्यक है। बेलग्रेड सम्मेलन ने जो योग्यता सूची बनायी थी, वह अब अत्यधिक लचीली बन गयी है। उदाहरणातः 1970 में मलेशिया उस समय आन्दोलन का सदस्य बना जबकि ब्रिटेन के साथ उसकी प्रतिरक्षा सन्धि थी, 1973 में माल्टा को उस समय अल्जीयर्स सम्मेलन में भाग लेने दिया गया जब उसकी भूमि पर नाटो का सैनिक अड्डा बना हुआ था। साइप्रस, सऊदी अरब, मोरक्को आदि देश जो पश्चिमी शक्तियों के अड्डे बने रहे हैं उन्हें भी इस आन्दोलन में प्रवेश लेने में दिक्कत नहीं हुई।

कुछ राष्ट्र गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को परिभाषा-विहीन बनाकर उसे चरित्र रहित करने की व्यूह रचना रच रहे हैं ताकि आन्दोलन में बिना किसी रूकावट के हर तरह के राष्ट्रों का प्रवेश हो जाये। अतः निश्चित परिभाषा के अभाव में आन्दोलन उन सदस्यों को निष्कासित या निलम्बित करने में असमर्थ है जिनका एक पाँच गुट-निरपेक्षता में और दूसरा गुट-सापेक्षता में है। संक्षेप में, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता है।

4.7.4 आर्थिक पिछड़ापन- आर्थिक दृष्टि से गुट-निरपेक्ष देश पिछड़े हुए हैं। अपने आर्थिक विकास के लिए इन देशों को महाशक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। महाशक्तियाँ आर्थिक लालच देकर इन छोटे और कमज़ोर गुटनिरपेक्ष देशों का शोषण करती हैं। इन्हें आर्थिक सहायता का लुभावना मोह दिखाकर उन्हें अपने गुटों में बांधने का प्रयत्न करती है। इनका आर्थिक पिछड़ापन इसके मार्ग में अवरोध उपस्थित कर रहा है।

4.7.5 यह एक नैतिक आन्दोलन है- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नैतिक अपील-सा लगता है। यह मानवता की रक्षा की आवाज बुलन्द कर सकता है, किन्तु शस्त्रों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं कर सकता, आक्रमणों का प्रतिरोध नहीं कर सकता, यह किसी महाशक्तियों की चौधराहट का सामना नहीं कर सकता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर इसका प्रभाव न्यून है।

4.7.6 संकल्प, सहमति और क्षमता का अभाव- गुट-निरपेक्ष देशों में वास्तविकताओं का सामना करने की न तो इच्छा है न संकल्प और मुद्दों (समस्याओं और विवादों) का समाधान निकालते में न सहमति है न क्षमता। उदाहरणातः आन्दोलन आन्तरिक हस्तक्षेप और आधिपत्य को दूर करने की कसमें खाता हैं परन्तु उसने अफगानिस्तान में पूर्व सोवियत संघ के सैनिक हस्तक्षेप की प्रत्यक्ष निन्दा या भर्तसना कभी नहीं की। अफगानिस्तान और खाड़ी युद्ध (1991) में ‘गुट निरपेक्ष देशों’ की भूमिका नगण्य या महत्वहीन ही रही है।

यह आन्दोलन शान्ति, सुरक्षा और स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने की बात करता है परन्तु उन्हें बनाये रखने के लिए उसमें न एकता है, न सम्बद्धता और न नैतिक या सैनिक शक्ति। उसके पास दूरदृष्टि रखने वाले नेतृत्व का अभाव हो गया है। पारस्परिक या द्विपक्षीय विवादों और राष्ट्रीय स्वार्थ हितों के कारण आन्दोलन एक ‘विभाजित घर’ की तरह है।

4.7.7 गुट सापेक्ष राष्ट्रों की बढ़ती संख्या- वर्तमान में चीन को भी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में पर्यवेक्षक का दर्जा दे दिया गया है। ऐसी स्थिति में जब सुरक्षा परिषद का एक स्थायी सदस्य इस आन्दोलन में रहेगा तथा पाकिस्तान, ईरान, फिलीपीन्स तथा रीओ सन्धि के सदस्य जैसे सैनिक गठबन्धन वाले राष्ट्र भी इस आन्दोलन में रहेंगे तो इस आन्दोलन का भविष्य क्या होगा, कहने की आवश्यकता नहीं है।

यदि गुट-निरपेक्षता की स्पष्ट परिभाषा नहीं की गयी और सदस्यता के लिए अहंताएं निश्चित नहीं की गयी, तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना धीरे-धीरे कठिन होता जाएगा। वर्तमान में इस आन्दोलन के साथ अनगिनत समस्याएं हैं।

4.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य : प्रासंगिकता

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वर्तमान स्थिति में ‘गुट निरपेक्ष आन्दोलन’ की प्रासंगिकता और अस्तित्व को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न चिह्न लगाये जा रहे हैं। ये प्रश्न चिह्न उन्हीं पश्चिमी शक्तियों अथवा उनके पिछलगू देशों व लेखकों द्वारा लगाये जा रहे हैं जिन्होंने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को प्रारम्भ में ‘अनैतिक’ ‘अवसरवादी’ करार दिया था अथवा उसे ‘सोवियत शिविर का मोहरा’ कह कर निन्दित किया था। उन्हीं शक्तियों ने शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के पराभाव के बाद अर्थात् 1990 के दशक के शुरू होते ही यह राग अलापना शुरू कर दिया कि एक-ध्रुवीय विश्व में गुटनिरपेक्षता के सेतु की राजनीति का कोई महत्व नहीं रहा, उनका यह भी

अभिमत रहा कि उपनिवेशवाद और नस्लवाद के राजनीतिक मुद्दे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से ओझल हो गये हैं और वर्तमान विश्व राजनीति में अहमियत राजनीतिक प्रश्नों या मुद्दों के स्थान पर आर्थिक मुद्दों और व्यापार की हो गयी है। अर्थात् अब विश्व द्विध्रुवीय नहीं है ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का कार्य करना मुश्किल हो गया है।

पश्चिमी शक्तियों के उपर्युक्त कथन केवल अर्द्ध सत्य को प्रकट करते हैं पूर्ण सत्य को नहीं। वास्तविकता यह है कि 'गुट-निरपेक्ष' की प्रासंगिकता और महत्त्व पहले से कहीं अधिक है। यह श्रेय गुटनिरपेक्ष कूटनीति को है कि उपनिवेशवाद और नस्लवाद के राजनीतिक मुद्दे, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से ओझल हो गए हैं परन्तु यह पश्चिमी राष्ट्रों का दुष्प्रचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से राजनीतिक मुद्दे ही समाप्त हो गए हैं। विश्व शान्ति, परमाणु अप्रसार और निःशस्त्रीकरण जैसे मुद्दे आज भी पहले की भाँति विद्यमान हैं और इनके स्थायी समाधान में इसकी प्रासंगिकता और भूमिका सुनिश्चित है। यह सत्य है कि वर्तमान बदलते परिदृश्य में गुटनिरपेक्षता के व्यवहार में परिवर्तन की व्यापक आवश्यकता है। चूंकि वर्तमान समय में विकासशील देशों के लिए ऐसे किसी परिवर्तन का आभास नहीं हो रहा है जिससे वे बड़ी आर्थिक शक्तियों के बीच प्रकट होने वाले मतभेदों से लाभ उठाने में सफल हो सकें। वर्तमान में तृतीय विश्व के देशों पर बाजारों को खोलने तथा बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के प्रश्न पर विकसित देशों की सभी मार्यां को मानने के लिए दबाव डाला जा रहा है। लेकिन वास्तविकता यह है कि ऐसे समय में विकसित देशों में संरक्षणवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही है। विकसित देशों की ओर से विकासशील देशों को हस्तांतरित की जाने वाली तकनीक पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अस्थायी प्रतिबन्ध भी हैं, जिनका उद्देश्य व्यापक विध्वंसक हथियारों के उत्पादन को रोकना है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नई व्यापार व्यवस्था विकासशील देशों के हितों को ठीक प्रकार से पूरा करने वाली नहीं है। अतः उत्तर के पूर्ण अभिभूत प्रभुत्व को रोकना है तो दक्षिण के विकासशील देशों को अपनी स्वतन्त्रता का दावा एवं एक साथ मिलकर कार्य करना होगा तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग को प्रोत्साहित कर आन्दोलन को और अधिक सुदृढ़ करना होगा। आज निम्नलिखित थीओं में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता नजर आती है :

- नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की पुरजोर मांग करना,
- आणविक निःशस्त्रीकरण के लिए दबाव डालना,
- दक्षिण-दक्षिण सहयोग को प्रोत्साहन देना,
- एक-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में अमरीकी दादागिरी का विरोध करना,
- नव-औपनिवेशिक शोषण का विरोध किया जाए,
- संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के लिए दबाव डाला जाए,
- उत्तर-दक्षिण देशों के बीच सार्थक वार्ता के लिए दबाव डालना,

इस प्रकार गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता आज भी उतनी है, जितनी इसकी स्थापना के समय थी।

4.9 सारांश

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने स्वतन्त्र विदेश नीति का सिद्धान्त देकर और नवोदित देशों को एक मंच उपलब्ध कराके सैनिक टकराव की दिशा में सम्भावित व्यापक रूझान को रोक दिया और शीत युद्ध का तनाव कम करने तथा शान्ति स्थापना की दिशा में प्रोत्साहन दिया। आपसी विचार-विमला द्वारा समझा-बुझाकर और जोरदार प्रचार करके इस आन्दोलन ने उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की। 1960 के बाद यह अनुभव किया गया कि राजनीतिक उपनिवेशवाद का तो उन्मूलन हो रहा है, लेकिन नव-स्वाधीन राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से कमजोर है और औद्योगिक देशों पर निर्भर है जिससे लगता है कि निर्धन देशों पर धनी देशों की चौधराहट बराबर बनी हुई है। अतः नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की मांग की जाने लगी।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को संस्था का रूप धारण किए चार दशकों से भी अधिक का समय हो चुका है। उसकी सदस्य संख्या 118 पर पहुंच गयी है, जो इस बात का सूचक है कि इस आन्दोलन का बल और प्रभाव बढ़ रहा है। मगर इस विस्तार से उसमें कमजोरियाँ भी आयी हैं। इससे इसकी सामूहिक एकता में कमी आयी है और परिणामस्वरूप उसके निर्णयों एवं घोषणाओं का नैतिक-राजनीतिक प्रभाव कमजोर हुआ है। अतः आज गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को पुनः सक्रिय करने की महत्ती आवश्यकता है जिससे कि और अधिक समतावादी विश्व व्यवस्था की ठोस रूप में स्थापना की जा सके।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ, विश्लेषण करिए ?
2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियों का वर्णन करिए ?
3. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को वर्तमान में किन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है ? वर्णन करिए।
4. गुटनिरपेक्षवाद से आपका क्या तात्पर्य है ? विश्व शान्ति के लिए इसकी देन का वर्णन कीजिए।
5. “गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का महत्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है।” इस कथन को दृष्टिगत रखते हुए इसकी समकालीन प्रासंगिकता का विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जवाहरलाल नेहरू ने किस प्रकार से गुट निरपेक्ष आन्दोलन के विकास में योगदान किया ?
2. क्या भविष्य में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन किसी उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है ?
3. शीत युद्धोत्तर विश्व में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की क्या प्रासंगिकता है ? मूल्यांकन कीजिए।
4. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में भारत की भूमिका की विवेचना कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन किसे कहते हैं ?
2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रणेता कौन थे ?
3. गुट निरपेक्ष आन्दोलन का पहला शिखर सम्मेलन कहां तथा कब हुआ ?
4. तटस्थीकरण का क्या तात्पर्य है ?

इकाई-5

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

संरचना

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ
- 5.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 5.4 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए प्रयास
 - 5.4.1 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रयास
 - 5.4.2 संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास
 - 5.4.3 कानकुन शिखर सम्मेलन
 - 5.4.4 दक्षिण-दक्षिण संवाद
- 5.5 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का भविष्य
- 5.6 सारांश

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत “नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था” का अर्थ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिये किये गये प्रयासों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप यह जान सकेंगे कि-

- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा के जन्म और विकास को समझ सकेंगे,
- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को सूत्रबद्ध तथा लागू करने के प्रयासों की मांग के उत्तार-चढ़ाव भरे इतिहास का अध्ययन कर सकेंगे,
- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं, इसकी वर्तमान स्थिति को समझ सकेंगे,
- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की भावी व्यवहारिकता का मूल्यांकन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

1950 ई. के दशक में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई फलतः एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देश एक-एक कर स्वाधीन होते गए। किन्तु आर्थिक दृष्टि से ये देश सही मायने में स्वतन्त्र नहीं थे। विश्व अर्थव्यवस्था का एक ऐसा ढांचा स्थापित हो चुका था जो न्याय एवं लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। नवोदित देश नव-उपनिवेशवाद के शिकंजे में फंसते जा रहे थे।

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की कोई प्रणाली पाई ही नहीं जाती थी। परिणामस्वरूप प्रत्येक संप्रभु देश अपने स्वयं के राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा योग्यता के मुताबिक अपने आर्थिक सम्बन्धों तथा हितों का संचालन किया करता था। ऐसी स्थिति में सामान्यतः एक देश दूसरे देश से टकराहट पैदा करने वाली नीतियों का प्रतिपादन करते थे जिस बजह से आर्थिक जगत में अराजकता यानी ‘मत्स्य न्याय’ की अवस्था थी। पर स्थिति तब और भी बद से बदतर हो जाती जबकि संकटकालीन स्थितियां पैदा हो जाती थी। उदाहरण के लिए 1930 में विश्व व्यापी मंदी के दौर में इस अव्यवस्था की कमियां और अधिक उजागर हो गई। ऐसी स्थिति में विश्व के प्रमुख देशों में यह भावना घर करने लगी कि किसी न किसी तरह की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के विचार

को और अधिक बल मिलना चाहिए। जुलाई 1944 को ब्रेटनवुड्स में पांच महाशक्तियों- अमरीका, पूर्व सोवियत संघ, इंग्लैण्ड, फ्रांस और चीन ने मिलकर सम्मेलन बुलाया था। वास्तव में ब्रेटनवुड्स में प्रस्तावित 'अर्थव्यवस्था' अमरीका की एक योजना थी जिसे अन्य प्रमुख औद्योगिक देशों का समर्थन प्राप्त था और जिसका उद्देश्य उसकी अपनी हित साधना था। अतः धनी देशों द्वारा स्वयं धनी देशों के लिए तैयार की गयी यह अर्थव्यवस्था अमीर और गरीब देशों के बीच असमानता एवं निर्भरता के सम्बन्धों को संस्थागत रूप में जारी रखने के उद्देश्य से (विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं के माध्यम से) बनायी गयी थी। परिणामस्वरूप ब्रेटनवुड्स बैठक में जिस अन्दाज में इन संस्थाओं की नींव डाली गई- उसकी रूद्धान औपनिवेशिक या पश्चिमी जगत की महाशक्तियों की तरफ था। परन्तु यह अर्थव्यवस्था 1960-70 के विश्व की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं थी। तृतीय विश्व के विकासशील देश इसकी कमियों को उजागर करते हुए वैकल्पिक अर्थव्यवस्था के निर्माण की बात कहने लगे थे और इस बात पर जोर देने लगे कि आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण न्याय और लोकतान्त्रिक आदर्शों पर किया जाना चाहिए। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 1970 के दशक में एक नयी अवधारणा का प्रचलन हुआ जिसे 'नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' (The New International Economic Order) के नाम से जाना जाता है।

5.2 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग का उदय गैर-बराबरी के एहसास और उसे सुधारने की इच्छा के कारण हुआ। इसने विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ती हुई खाई को खत्म करने का लक्ष्य रखा और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को निष्पक्षता के सिद्धान्त, प्रभुसत्ता की बराबरी, अन्तर निर्भरता, हितों की समानता और राष्ट्रों के बीच सहयोग पर आधारित करने का प्रयास किया। यह मुख्यतः आर्थिक मदद से संबंधित नहीं है। यह मूलतः अर्थव्यवस्था उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद तथा नव-साम्राज्यवाद को उनके सभी रूपों को पूर्णतः समाप्त करना चाहती है। इसका उद्देश्य है एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना जो न्याय तथा समानता पर आधारित हो तथा जिसमें तीसरे विश्व के देश अपने प्राकृतिक संसाधनों का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकें। यह नई अर्थव्यवस्था लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित होगी अर्थात् इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित होंगे। यह अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति का विकेन्द्रीकरण चाहती है तथा यह चाहती है कि परिषम अथवा उत्तर के विकसित देश अहसान के रूप में नहीं बल्कि अपना उत्तरदायित्व मानकर विकासशील देशों की सहायता करें तथा उनके विकास में योगदान दें। यह व्यवस्था निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित है :

- राज्यों की प्रभुसत्तात्मक बराबरी और निष्पक्षता पर आधारित विस्तृत सहयोग,
- अपनी प्राकृतिक संपदा और अपनी तमाम आर्थिक गतिविधियों पर प्रत्येक राज्य की पूर्ण और स्थायी प्रभुसत्ता।
- बहुराष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियों पर नियंत्रण और उनका निरीक्षण,
- विकासशील देशों द्वारा आयातित और निर्यातित खनिज पदार्थों, मौलिक मालों, उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में न्यायपूर्ण और उचित संबंध,
- अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के तमाम क्षेत्रों में जहां कहीं भी सम्भव हो, विकासशील देशों के लिए अधिमान्य और गैर-पारस्परिक प्रतिपादन,
- विकासशील देशों के लिए वित्तीय संपदाओं के स्थानांतरण के लिए अनुकूल परिस्थितियों को सुरक्षित करना,
- विकासशील देशों के बीच वैयक्तिक और सामूहिक गतिविधियों द्वारा पारस्परिक अर्थव्यवस्था, व्यापार, वित्तीय और तकनीकी सहयोग को सुदृढ़ करना, मुख्यतः अधिमान्य आधार पर।

उपर्युक्त सभी मांगें विश्व व्यापी हैं और विकासशील तृतीय विश्व के राष्ट्रों के अनुकूल हैं।

5.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1960 ई. के दशक के अन्त तक अधिकांश एशियाई और अफ्रीकी देशों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। फिर भी यह अनुभव किया गया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के बावजूद नव-स्वाधीन देशों में से अधिकतर देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे और

औद्योगिक देशों पर निर्भर थे। इस प्रकार जहां एक ओर उपनिवेशवाद और पुरानी तरह के साम्राज्यवाद के अवशेषों पर एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ था वहीं पुरानी अर्थव्यवस्था भी कायम थी जिसे धनी औद्योगिक देशों के प्रभाव बाले ब्रेटनबुड्स सिद्धान्त के अन्तर्गत चलाया जा रहा था। अतः तृतीय विश्व के नवस्वाधीन राष्ट्रों और उनके संगठित मंच गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने धनी और निर्धन देशों के आर्थिक मामलों और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मामले को उठाया। 1964 में व्यापार और विकास की संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलन अंकटाड (UNCTAD) की एक स्थायी संगठन के रूप में स्थापना हुई जिसने इन मामों की अभिव्यक्ति के लिए एक बड़ा मंच प्रदान किया। अंकटाड (UNCTAD) की स्थापना का बहुतेरे विकसित देशों ने विरोध किया। ब्रेटनबुड्स सम्मेलन से अस्तित्व में आई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक व्यवस्था से कम विकसित देश असंतुष्ट थे। विरोध दो स्तरों पर था। प्रथम स्तर पर, उसने व्यापार और विकास के बीच प्रचलित संबंधों को चुनौती दी और दूसरी ओर उत्तर और दक्षिण के बीच व्यापार सम्बन्धों में सुधार के लिए नीतिगत प्रस्ताव रखे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक व्यवस्था की यह चुनौती, ब्रेटनबुड्स व्यवस्था के निर्माणकर्ताओं के उदारवादी हस्ताक्षेपवादी व्यवस्था पर, मूलभूत हमला था। इसके मार्गदर्शक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गैर-भेदभाव और मुक्त व्यापार थे। इस सम्मेलन का परिणाम था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का IMF और GATT ने विकासशील देशों को हाशिए पर ला दिया था। इसलिए इन कम विकसित देशों ने गैर-भेदभाव और पारस्परिकता के विचार को अस्वीकार कर दिया और 1973 के अल्जीयर्स चौथे गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों ने धनी देशों की शोषक प्रवृत्ति को उजागर करते हुए प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था द्वारा स्थापित असमानताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया।

अल्जीयर्स आह्वान अनसुना नहीं रहा। विकासशील देशों के बढ़ते दबाव के कारण संयुक्त राष्ट्र महासभा का छठा विशेष अधिवेशन बुलाया गया जिसने 1 मई, 1974 को 'नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की घोषणा' और 'कार्यवाही योजना' के ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किए। इन दोनों दस्तावेजों की मुख्य मांगें व्यापार, आर्थिक सहायता, जिंसों के मूल्य, टैक्नालॉजी के हस्तान्तरण और बहु-उद्देशीय निगमों की गतिविधियों के नियमन के क्षेत्रों से सम्बन्धित थीं।

5.4 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए प्रयास

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हेतु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसके द्वारा स्थापित अंकटाड और यूनिडो तथा उत्तर दक्षिण संवाद एवं दक्षिण-दक्षिण संवाद जैसे संगठन निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। ये प्रयास मुख्यतः निम्न प्रकार के रहे हैं-

5.4.1 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रयास- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की माँग सर्वप्रथम अफ्रेशियाई नेताओं ने 1964 के काहिरा शिखर सम्मेलन में उठायी थी। इस सम्मेलन में मुख्य बल 'सहायता और सुधरे व्यापार सम्बन्धों' पर दिया गया। सम्मेलन में नई और न्यायोचित अर्थव्यवस्था के द्वात विकास हेतु देशों से योगदान देने के लिए कहा गया था ताकि विकासशील देश भव, अभाव और निराशा से रहित होकर अपना पूर्ण विकास कर सकें। 1970 ई. में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के लुसाका शिखर सम्मेलन में उसे पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। 1973 में अल्जीयर्स गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में उसे संरचनात्मक स्वरूप प्राप्त हुआ। इस तरह से गुट निरपेक्ष आन्दोलन की भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका रही।

5.4.2 संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास- 1 मई, 1974 ई. को नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की माँग को पहली बार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर व्यावहारिक रूप में परिणित किया गया जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों के विरोध के उपरान्त भी संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने बहुमत से नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए एक घोषणा तथा कार्यक्रम को स्वीकार किया। इस घोषणा में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से यह संकल्प व्यक्त किया गया था कि "वह समस्त राज्यों के बीच समता, प्रभुतासम्पन्न समानता, परस्पर-निर्भरता, आमहित तथा सहयोग के आधार पर एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए त्वरतापूर्वक कार्य करेगा, भले ही उनकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कैसी भी क्यों न हो, विषमताओं तथा विद्यमान अन्यायों का निवारण करेगी, विकसित और विकासशील देशों के बीच की आर्थिक खाई को पाटने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगी तथा वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए निरंतर गतिशील और वृद्धिशील आर्थिक तथा सामाजिक विकास और शान्ति तथा न्याय को सुनिश्चित करेगी।"

घोषणा पत्र में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निम्नलिखित उद्देश्य बताए गए थे-

- विश्व के राष्ट्रों के मध्य असमानताओं को समाप्त करना,
- वर्तमान व्यवस्था में उपस्थित अन्यायों को समाप्त करना,
- निरन्तर तथा तीव्र आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त करना,
- वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए शान्ति तथा न्याय की व्यवस्था करना,
- सामाजिक न्याय की पुनर्स्थापना का प्रयास करना।

उपर्युक्त घोषणा ने विकासशील राष्ट्रों की इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं को अभिव्यक्ति प्रदान की।

5.4.3 कानकुन शिखर सम्मेलन- अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की उपर्युक्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए उत्तर और दक्षिण अर्थात् अमीर और गरीब देशों का एक लघु शिखर सम्मेलन मैटिसिको के नगर कानकुन में अक्टूबर, 1981 में आयोजित किया गया जिसमें 8 विकसित तथा 14 विकासशील देशों ने भाग लिया। सम्मेलन में मुख्य चर्चा इस प्रश्न पर हुई थी कि विश्व वार्ताएं किस तरह आयोजित की जायें। विकासशील देशों का मानना था कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर संयुक्त यष्टि का अन्तिम नियन्त्रण होना चाहिये जबकि अमेरिका का मानना था कि नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तों और उसके ढाँचे के बारे में अन्तिम निर्णय संयुक्त राष्ट्र संघ के क्षेत्राधिकार के बाहर आयोजित उत्तर-दक्षिण संवाद के माध्यम से किया जाये। इस शिखर सम्मेलन का केवल इतना ही लाभ हुआ कि दोनों पक्षों ने एक दूसरे के विचार सुने और यद्यपि वे अपने-अपने पक्षों पर डटे रहे तथापि उनमें से प्रत्येक को एक-दूसरे के विचारों का और आग्रहों का बोध हुआ।

5.4.4 दक्षिण-दक्षिण संवाद- उत्तर-दक्षिण संवाद की असफलता के परिणामस्वरूप दक्षिण-दक्षिण संवाद का जन्म हुआ। दक्षिण-दक्षिण संवाद का वास्तविक सूत्रपात सन् 1968 में नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय अंकटाड के सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग की आवश्यकता पर बल देने के साथ हुआ था। इसके बाद गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलनों में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की मांग की गयी। हाल ही में 'दक्षिण-दक्षिण संवाद' के लिए जी-15 ने त्वरित प्रयत्न किए हैं। जी-15 या द्वितीय विश्व के 15 विकासशील देशों के गुप की स्थापना 1989 में बेलगेड में गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के समय की गई थी। जी-15 देशों का पहला शिखर सम्मेलन जून 1990 में मलेशिया में कुआलालम्पुर में हुआ था। सम्मेलन में दो प्रमुख मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। यह थे- विकासशील देशों का न्यून और विकसित एवं विकासशील देशों के बीच वास्तविक उदारवाद। इसमें विकासशील देशों के लिए साउथ बैंक की स्थापना का भी सुझाव दिया गया था कुआलालम्पुर में जिन मुद्दों पर ध्यान दिया गया था उनके आलावा काराकास में आयोजित दूसरे शिखर सम्मेलन (नवम्बर 1991) की कार्य-सूची में विकास की नई दिशाएं, विकासशील देशों के बीच सहयोग और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद के युग में विकसित और विकासशील देशों के बीच संवाद जैसे मुद्दों को शामिल किया गया। सेनेगल की राजधानी डाकार में आयोजित जी-15 देशों के तीसरे शिखर सम्मेलन (दिसम्बर 1992) में विकसित देशों से मांग की गयी थी कि वे प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों (विशेषकर आर्थिक मुद्दों) का समाधान विकासशील देशों के साथ बातचीत के माध्यम से निकालें। जी-15 के देशों ने तीसरे शिखर सम्मेलन में विश्व व्यापार के मुद्दों पर उल्लंघन दौर की बातचीत की सफल और सन्तुलित समाप्ति की अपील की। समझौते ने यह चेतावनी भी दी कि यदि गैट योजना के माध्यम से कुछ प्रतिकूल कदम उठाए गए तो उन विकासशील देशों के आर्थिक विकास को बड़ा धक्का लागेगा, जहाँ पुनर्संरचना और उदारीकरण का दौर चल रहा है। जी-15 के शिखर सम्मेलन (हरारे 3-5 नवम्बर 1996) में व्यापारिक मुद्दों ही हावी रहे।

दक्षिण-दक्षिण संवाद का मुख्य उद्देश्य था दक्षिण के विकासशील देशों के मध्य सहयोग में वृद्धि करना जिससे ये देश विकास का लक्ष्य प्राप्त कर सकें। दक्षिण के देशों के मध्य यद्यपि अनेक कारणों से बांधित मात्रा में सहयोग सम्भव नहीं हो सका किन्तु विकसित देशों से सहयोग प्राप्त नहीं होने के कारण इन देशों को यह विश्वास हो गया कि आपस में सहयोग तथा घनिष्ठ अर्थिक सम्बन्ध विकास के लिए अनिवार्य है। पश्चिमी देशों का कहना है कि विकसित देशों से व्यापार और सहायता की नीतियाँ उदार बनाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं वित्तीय संस्थाओं के पुनर्गठन की मांग करने से पहले अपनी ही आर्थिक राजनीतिक प्रणालियों में सुधार एवं पुनर्गठन का प्रयत्न करना चाहिए।

5.5 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का भविष्य- यद्यपि वर्तमान तक भी बहुत सारे कारणों से नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग मोटे तौर पर पूरी नहीं हुई है, परन्तु भविष्य में इसमें कुछ बदलाव होना अवश्यमभावी है। वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था बहुतेरे विकासशील देशों की विश्वस्तरीय उत्पादकता और उनके नव अर्जित ताकत से मेल नहीं खाती। विकासशील देशों की परिस्थितियों को सुधारने के लिए, जो कि विश्व जनसंख्या का 70 प्रतिशत है और विश्व आय के सिर्फ 30 प्रतिशत के लिए उत्तरदायी है, विश्व आर्थिक सम्बन्धों में बड़े संरचनात्मक परिवर्तनों की आवश्यकता है। बहुतेरे क्षेत्रों में दक्षिण-दक्षिण सहयोग को सुधारने की नितान्त आवश्यकता है। उत्तर-दक्षिण संवाद को जारी रखने की जरूरत है क्योंकि सिर्फ यही कदम उन प्रतिरोधों को हटा सकते हैं जो विकास के रास्ते में अवरोध हैं। इसलिए इस तथ्य के बावजूद कि कुछ विकसित देशों की सरकारें नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए इच्छुक नहीं हैं, अंततः उन्हें इतिहास के अवश्यमभावी तर्क के सामने झुकना पड़ेगा जो अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों की मांग करता है। इसके लिए, मौजूदा ढांचे को सुधारने की सख्त जरूरत है जो सिर्फ सौदेबाजी से आगे बढ़ कर अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की ओर लक्षित है। विश्व शान्ति और विकास वर्तमान समय की जरूरतें हैं। सिर्फ नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ही विश्व को आर्थिक सुधार की ओर ले जा सकती है।

5.6 सारांश

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए गरीब और विकासशील देशों का यह संघर्ष वस्तुतः आर्थिक स्वाधीनता का संघर्ष है। इस संघर्ष में धीरे-धीरे तृतीय विश्व के राष्ट्र संगठित होते जा रहे हैं और उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टिकोण अपना रहे हैं। इस संघर्ष में विकासशील देशों को यह आशा है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश कई प्रकार की वियायतें देने के लिए विवश होंगे और विश्व के धन का वितरण इस प्रकार से होने लगेगा कि जिसका लाभ उनके पक्ष में होने लगेगा। जी-८ समूह के जो विकसित देश तृतीय विश्व में नव-उपनिवेशवादी वर्चस्व कायम करने में लगे हैं उनका मुकाबला जी-७७ के विकासशील देश मिलकर ही कर सकते हैं। संक्षेप में, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की खोज की अवधारणा अभी भी शैशवावस्था में है, इसके आयामों में निश्चित स्वरूप धारण नहीं किया है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिये किये गये प्रयासों का वर्णन करो ?
2. नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रति तृतीय विश्व के देशों का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए ?
3. नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर निबन्ध लिखिए ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं ?
2. आज उपनिवेशवाद किस रूप में मौजूद है ?
3. टिप्पणियाँ लिखिये
 - उत्तर दक्षिण संवाद
 - दक्षिण-दक्षिण संवाद
 - कानकुन सम्मेलन

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दक्षिण-दक्षिण संवाद का प्रमुख मंच कौन-सा है ?
2. 1974 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने किस घोषणा पत्र को स्वीकृति दी ?
3. उत्तर तथा दक्षिण के देश किसे कहा जाता है ?

इकाई-6

उत्तर-दक्षिण संवाद

संरचना

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 उत्तर-दक्षिण संवाद : अभिप्राय
- 6.3 उत्तर-दक्षिण संवाद : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 6.4 उत्तर-दक्षिण संवाद की आवश्यकता
- 6.5 उत्तर-दक्षिण संवाद के मंच
 - 6.5.1 पेरिस सम्मेलन, 1975
 - 6.5.2 ब्रांट आयोग, 1977
 - 6.5.3 कानकुन सम्मेलन, 1981
 - 6.5.4 उरुग्वे वार्ता, 1986-93
 - 6.5.5 पृथ्वी सम्मेलन, 1992-97
 - 6.5.6 अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन, 1993
- 6.6 सारांश

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत उत्तर-दक्षिण बहस का उसके विभिन्न आयामों एवं दुनियां के अमीर-गरीब देशों के बीच उस बढ़ी दरार का उल्लेख किया गया है जिससे आप निम्नलिखित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- उत्तर-दक्षिण वार्ता का अर्थ समझ सकेंगे,
- उत्तर-दक्षिण के बीच वर्तमान दरार के ऐतिहासिक जड़ों के चिह्न क्या हैं, उत्तर द्वारा भूत और वर्तमान में दक्षिण के शोषण के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए इस वार्ता के महत्व को समझ सकेंगे,
- महत्वपूर्ण विश्व मंचों पर उत्तर-दक्षिण वार्ता के लिए किये गये प्रयत्नों और उत्तर का उनके प्रति उत्तरों का विश्लेषण कर पायेंगे।

6.1 प्रस्तावना

भूगोलवेत्ताओं के अनुसार हमारी पृथ्वी दो गोलाद्धों में विभाजित है – उत्तरी गोलाद्ध और दक्षिणी गोलाद्ध इस प्रकार देश, महाद्वीप एक दूसरे से भौगोलिक रूप से अलग-अलग है। यह एक दूसरे से रंग, जाति, सिद्धान्त और संस्कृति के आधार पर भी भिन्न है। परन्तु सबसे बड़ी बात है एक स्पष्ट विभाजन विद्यमान है – गरीब और अमीर के बीच का विभाजन, एक आर्थिक विभाजन जो समस्त दूसरे विभाजनों पर भारी पड़ता है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मुख्यतः दो भागों में विभक्त है, ‘उत्तर’ जिसमें कुछ पूँजीपति देश आते हैं और, ‘दक्षिण’ जहाँ शामिल है बड़ी संख्या में ऐसे देश जिनकी पहचान है अपूर्ण विकास या कम विकसित। दक्षिण में रहने वाले लोग कमोवेश वंचित हैं – सिर्फ कुछ लोग ही जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर पाते हैं – बाकी अल्पपोषित और अल्पवस्त्रधारी हैं। उत्तर और दक्षिण के बीच विषमता यहीं खत्म नहीं होती। चूंकि दक्षिण गरीब है, वह अमीर उत्तर की तुलना में शक्ति-विहीन भी है। आर्थिक गैर-बराबरी का विस्तार शक्ति के क्षेत्र में भी होता है। शक्ति का अर्थ है आर्थिक रूप से अमीर उत्तर का गरीब दक्षिण पर

राजनीतिक, प्रौद्योगिक और सैन्य प्रभुत्व। ऐसा क्यों है? क्या यह इन देशों में प्रचलित कुछ निहित कमियों के चलते हैं जिससे ये देश इतने गरीब हैं? यह इकाई स्वयं को इन दो मूल सवालों से संबोधित करता है। इन सवालों का उत्तर देने की कोशिश में यह इकाई उन तथ्यों पर बहस करता है, जिसे 'उत्तर-दक्षिण वार्ता' कहा जाता है।

6.2 उत्तर-दक्षिण संवाद : अभिप्राय

भौगोलिक दृष्टि से उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी अमेरिका और यूरोप को शामिल किया जाता है। इसी कारण इनको उत्तर के देशों की संज्ञा दी जाती है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में लैटिन अमेरिकी और अफ्रीका का क्षेत्र आता है। उत्तरी गोलार्द्ध में उन्नत, समृद्ध, विकसित और औद्योगिक देश अधिक हैं जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में निर्धन, पिछड़े, विकासशील और शोषित देश अधिक हैं। 'उत्तर' से तात्पर्य विकसित राष्ट्रों या औद्योगिक राष्ट्रों से है, जिनकी अर्थव्यवस्था पूँजीवादी विचारधारा पर आधारित है, जिन्होंने तकनीकी एवं औद्योगिक क्षेत्र में चहुंमुखी प्रगति कर ली है, जहाँ बचत एवं पूँजी निर्माण की दर काफी ऊँची है और जहाँ राजनीतिक एवं वित्तीय स्थिरता है। इसके विपरीत, 'दक्षिण' में अधिकांशतया वे देश हैं जिन्हें 'विकासशील' अथवा तृतीय विश्व के देश कहा जाता है। इन देशों की विशेषताएं हैं— पूँजी की कमी, जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, बेरोजगारी, कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था, तकनीकी तथा वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव।

6.3 उत्तर-दक्षिण संवाद : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अमीर और गरीब के बीच की बड़ी दरार बहुत पुरानी नहीं है, बल्कि हाल की है, जो हमें सिर्फ पिछली दो शताब्दियों में वापस ले जाती है जिसके दौरान पश्चिमी औद्योगिक शक्तियों का उदय हुआ और उन्होंने लगभग समस्त "दक्षिण" या "तृतीय विश्व" को उपनिवेश बना लिया। इन औपनिवेशिक शक्तियों ने शीघ्र ही नए दखल किए गए उपनिवेशों पर उनकी कमजोरी का लाभ उठा कर अपनी आर्थिक और राजनीतिक पकड़ को सुदृढ़ किया तथा उनकी संपत्ति को बहुत ही योजनाबद्ध शोषण और लूट शुरू कर दी। अपनी साम्राज्यवादी नीति का आक्रामक अनुसरण करते हुए, इन उपनिवेशवादी शक्तियों ने शेष विश्व के भौतिक और अन्य संसाधनों का खुद के लिए दोहन करना शुरू कर दिया। यह दोहन औद्योगिक प्रयोजनों के लिए उपनिवेशों से ज्यादातर सस्ते कच्चे पदार्थ के रूप में, प्राप्त किया गया। साथ ही, ताकत का इस्तेमाल कर सस्ते श्रम का कठोरतापूर्वक शोषण किया गया। न सिर्फ यही, बल्कि, इन उपनिवेशों को औपनिवेशिक देशों द्वारा उत्पादित बस्तुओं के लड़े बाजार में परिणत कर दिया गया। यह उपनिवेश साम्राज्यवादी शक्तियों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे। इस प्रकार, वह प्रक्रिया शुरू हुई जिसके द्वारा उपनिवेश की सम्पत्ति का औपनिवेशिक शक्ति की ओर निकास होने लगा। उपनिवेशों के लिए इस नीति का प्रतिफल विध्वंसकारी हुआ। उनकी अर्थव्यवस्था न सिर्फ रुक गई, बल्कि और अधिक बिगड़ गई। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में, इन नव स्वतंत्र देशों की अर्थव्यवस्था का विकास, औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यकताओं के अनुकूल, एक उपोत्पादन और एक पूरक के रूप में किया गया। इस प्रकार उपनिवेशवाद ने न सिर्फ "उत्तर" में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति में धोगदान किया और उसकी सम्पत्ति में वृद्धि की बल्कि दूसरी ओर दक्षिण के उपनिवेशों को भूखमरी और अल्पविकास की ओर क्रमशः बढ़ाया।

अतः इन शोषित देशों में 20 वीं सदी के प्रारम्भ में उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय हुआ जो एक लम्बे, दीर्घकालिक संघर्ष के बाद दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता प्राप्त करने में सफल हुए हैं। परन्तु यह कैसी स्वतन्त्रता थी? औपचारिक रूप से कहा जाए तो इसका अर्थ था सिर्फ राजनीतिक स्वतन्त्रता। इस प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई आर्थिक तत्व नहीं था उनकी अर्थव्यवस्था सदियों की लूट और शोषण से लुंज-पुंज थी। सबसे बुरा तो यह था कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए और स्वतंत्रता को सच्चा अर्थ प्रदान करने के लिए न पूँजी थी और न ही प्रशिक्षित मानव शक्ति। नव स्वतंत्र देशों को अमीर, औद्योगिक देशों पर आर्थिक और प्रौद्योगिक संसाधनों के लिए निर्भर रहने के लिए विवश होना पड़ा। इस कमजोरी ने एक बार फिर उत्तर के अमीर देशों को उनके शोषण के लिए नया अवसर दिया, यद्यपि इस बार अधिक सुक्ष्म तरीके से। उपनिवेशवाद की जगह "नव-उपनिवेशवाद" आ गया।

इस दौर में उत्तर, दक्षिण पर व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में अपनी शर्तों को आरोपित करता है। व्यापार और अन्य आर्थिक संबंधों में गैर-बराबरी है जो उत्तर के पक्ष में जाता है। व्यापार की शर्तें और अन्य आर्थिक सम्बन्ध उत्तर के पक्ष में और उसके अनुकूल हैं।

नव-उपनिवेशवाद का कुल परिणाम है दक्षिणी देशों में अत्यधिकास का जारी रहना। इसलिए यह कहने की जरूरत नहीं है कि, “दक्षिण” के देशों की पेरेशानियों के लिए बहुत हद तक अमीर औद्योगिक शक्तियाँ उत्तरदायी हैं। तृतीय विश्व के देश स्वयं को एक बड़े घेरे में पाते हैं। उनके औपनिवेशिक भूत ने उन्हें गरीब, वर्चित और अस्थिर बनाया और आज वह अपने भूत के कारण खुद के आधार पर खड़े होने में असमर्थ हैं। और जब तक वह खुद का विकास नहीं कर पाते, वह “उत्तर” के अमीर देशों से अपने संबंध में हरदम घाटे में रहेंगे। परन्तु, दक्षिण का विकास एक दूर की संभावना रहेगी जब तक कि “उत्तर” गरीब के साथ एक नए, बराबरी के सम्बन्ध की स्थापना नहीं करता। इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर, ‘उत्तर-दक्षिण’ का भूत, वर्तमान और भविष्य एक दूसरे से जटिल रूप से जुड़ा हुआ है।

6.4 उत्तर-दक्षिण संवाद की आवश्यकता

उत्तर और दक्षिण के बीच बातचीत का केन्द्र बिन्दु है नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सृष्टि। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता इसलिए अनुभव की गई चूंकि विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ढांचा विश्व समुदाय के बड़े उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा है और सिर्फ उन्हीं (उत्तर) के हितों की पूर्ति करने में लगा है जिन्होंने उसे बनाया। वर्तमान अर्थव्यवस्था के तीन मुख्य संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD) जिसे आम तौर पर विश्व बैंक के रूप में जाना जाता है और सीमा शुल्कों तथा व्यापार पर आम सहमति (GATT), संयुक्त राज्य अमेरिका के ब्रेटनवुडस में हुए एक सम्मेलन की उपज थे। ब्रेटनवुडस व्यवस्था मूलरूप से एक पाश्चात्य व्यवस्था बन गई चूंकि उस वक्त वर्तमान विकासशील देशों में से अधिकांश औपनिवेशिक शासन के अधीन थे। सोवियत संघ ने ब्रेटनवुडस व्यवस्था का अंग बनने से इंकार कर दिया और बदले में पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए अपना खुद का ढांचा कोमेकान (COMECON) खड़ा किया। परिणामस्वरूप ब्रेटनवुडस की वित्तीय संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विकास के प्रबंध के प्रावधानों को पाश्चात्य हितों के अनुकूल बनाया गया जिसमें विकासशील देशों के हितों को नजरअंदाज किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) में, जिसकी स्थापना भुगतान-संतुलन की जरूरत की पूर्ति के लिए अल्प-अवधि ऋण देने के लिए हुई, निर्णय देने का अधिकार अमेरिका जैसे अमीर देशों के पास रहा जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संसाधनों में बढ़ा योगदान देते थे। उन्हें उनके वित्तीय योगदान के अनुपात में बोटों का भाग मिला। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अधिक बोट देने के अधिकार का प्रयोग विकासशील देशों को ऋण देने के निर्णयों के बहु निषेधाधिकार के रूप में किया जाने लगा। विकासशील देशों को मिले निम्नतर बोट के अधिकारों के कारण यह देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्णयों में शायद ही कोई हस्तक्षेप रख पाए। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिया गया, कोई भी बढ़ा उधार खास शर्तों पर आधारित था जिसे उधार लेने वाले देश को पूरा करना था। बहुत बार इन शर्तों का अर्थ होता था उधार लेने वाले देश की राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में सीधा हस्तक्षेप। यह शर्तें उधार लेने वाले देशों की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को उदार बनाने की थी जिससे कि इनका बाजार उत्तर के बहुराष्ट्रीय निगमों की लागतों के लिए खोला जा सके। यह उधार लेने वाले देशों की राष्ट्रीय प्रकृति के विपरीत जाता है जो अपनी अर्थव्यवस्था को गैर-पूँजीवादी मार्ग पर चिकिसित करना चाहते थे जिससे कि अर्थव्यवस्था का संतुलित विकास हो सके। इसी प्रकार विश्व बैंक से आशा की जाती थी कि वह दीर्घकालिक आधार पर उधार लेने वाले देशों की विभिन्न परियोजनाओं को सहायता दे। यहां भी, प्रत्येक परियोजना की व्यवहार्यता और दुर्बलता को विश्व बैंक द्वारा अनुमोदित किया जाना था, जिसमें निर्णय करने का अधिकार मुख्यतः उत्तर के देशों के साथ था। इसके आगे, विश्व बैंक उधार लेने वाले देशों के निजी क्षेत्र में लागत को प्राथमिकता देकर “मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था” की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा देने की कोशिश करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा अपनायी गई उधार देने की नीतियों का कुल प्रभाव द्विस्तरीय है, यथा, यह घाटे में चलने वाले देशों की सम्पूर्ण आर्थिक नीतियों को प्रभावित करती है और दूसरा, यह एक खास तरह के विकास का पक्षपाती है (निजी, मुक्त बाजार)।

इस प्रकार यह साफ तौर पर कहा जा सकता है कि कैसे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान ढांचा भेदभावपूर्ण है और इसलिए, उसमें ढांचागत् और मूलभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

6.5 उत्तर-दक्षिण संवाद के मंच

समय-समय पर उत्तर-दक्षिण संवाद के प्रयत्न किये गये। इन प्रयत्नों के माध्यम से इनके बीच विवाद के विविध प्रसंगों पर खुलकर चर्चा हुई और दोनों पक्षों को एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने का अवसर प्राप्त हुआ। दोनों पक्षों में सहयोग और विश्वास का

वातावरण विभिन्न सम्मेलनों के माध्यम से बना। ऐसे उदाहरणों में पेरिस सम्मेलन, (1975), ब्रांट आयोग, (1977), कानकुन सम्मेलन, (1981), तथा उरुग्वे वार्ता (1986-94), पृथ्वी सम्मेलन (1992-1997) एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन को प्रमुख रूप से गिनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा उत्तर-दक्षिण संवाद स्थापित किये जाने की भावना का आह्वान किया जा रहा है। इनमें मुख्य प्रयासों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार है-

6.5.1 पेरिस सम्मेलन, 1975- महासभा द्वारा नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की घोषणा के एक वर्ष में ही संयुक्त राज्य अमरीका ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के बारे में सम्मेलन बुलाए जाने की दिशा में पहल प्रारम्भ कर दी और यह दिसम्बर, 1975 में पेरिस में आरम्भ हुआ। पेरिस सम्मेलन को 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग सम्मेलन' के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्मेलन के आयोजन में तत्कालीन अमरीकी विदेश सचिव डॉ. हेनरी किसिंजर ने विकसित और विकासशील देशों का सम्मेलन आयोजित करने का आह्वान किया। कुल 8 विकसित और 19 विकासशील देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन का विचार-विमर्श बीच-बीच में रुक कर हुआ और करीब 18 महीने तक चलता रहा। सम्मेलन जून, 1977 में समाप्त हुआ। उत्तर के समृद्ध देशों ने निधन देशों (दक्षिण के देशों) के लिए कुछ रियायतें और सहायता कार्यक्रमों की घोषणा की जिनमें गरीब देशों की तेल की आवश्यकताओं पर बढ़ते खर्च को देखते हुए और जिस मूल्यों को स्थिर करने में मदद के लिए गरीब देशों की सहायता के उद्देश्य से एक विशेष कोष की स्थापना करना भी शामिल था। इसके बदले में 1973 के कथित तेल संकट की मार से पीड़ित औद्योगिक देशों ने विश्व मूल्यों पर तेल की सप्लाई की गारण्टी की मांग रखी। देखा जाए तो उत्तर के धनी देश थोड़ी-सी सहायता का बड़ा मूल्य मांग रहे थे, अतः तेल निर्यातक देशों ने इसे सीधे अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार पेरिस सम्मेलन अर्थशून्य या विफल हो गया।

6.5.2 ब्रांट आयोग, 1977- 1970 के दशक ने उत्तर-दक्षिण वार्ता में सोधा टकराव देखा। एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए। दक्षिण ने बहुपक्षीय मदद, सरकारी विकास में सहयोग में उत्तर द्वारा भारी कटौती की शिकायत की जबकि उत्तर ने दक्षिण को "आधारहीन गद्दा" कहा जिसमें हस्तान्तरित संसाधन की लगातार फिजुल खर्ची हो रही थी। इसका परिणाम हुआ संवाद में पूर्ण गतिरोध। नए आधारों की खोज करना आवश्यक था। इन परिस्थितियों में, संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने "अन्तर्राष्ट्रीय विकास के मुद्दों पर स्वतन्त्र कमीशन" का गठन परिचमी जर्मनी के भूतपूर्व चांसलर विला ब्रान्ट के नेतृत्व में किया। उत्तर-दक्षिण मुद्दों के गहन परीक्षण के बाद, ब्रान्ट कमीशन ने 1980 में "उत्तर-दक्षिण : उत्तर जीविता का एक कार्यक्रम" का प्रकाशन किया। इस कमीशन द्वारा दी गई सलाह की दिशा, पूर्ववर्ती दिशा से भिन्न थी। इसने "नीतियों की सार्वभौमिकता" का आह्वान किया। आयोग ने जोर देकर यह स्पष्ट किया था कि विश्व शान्ति के लिए विकसित और विकासशील देशों में 'परस्पर निर्भरता' की आवश्यकता है। इसके लिए आयोग ने 'विश्व के नेताओं की अनौपचारिक बैठक' बुलाने का प्रस्ताव किया ताकि विकसित और विकासशील देशों के बीच विभाजन से सम्बद्ध मुद्दों, जैसे सहायता, व्यापार, वित्तीय प्रवाह, सुरक्षा, टैक्नोलॉजी का स्थानान्तरण और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों का लोकतान्त्रीकरण के बारे में रियायतें, आदि पर स्पष्ट और निर्भीक विचार-विमर्श किया जा सके।

6.5.3 कानकुन सम्मेलन, 1981- ब्रांट कमीशन रिपोर्ट ने विश्व नेताओं की ऐसी शिखर वार्ता की सलाह दी थी, जो विश्व की वर्तमान समस्याओं और उनके संभावित हलों पर एक नया संकेद्रण, और एक नयी रोशनी डाल सके। इस सोच के साथ, 1981 के अक्टूबर में कानकुन, गैबिसको में, एक शिखर सम्मेलन हुआ, जिसमें 22 राष्ट्राध्यक्षों ने भाग लिया। विकासशील देशों ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ढांचे में व्यापक परिवर्तन किया जाए ताकि बदलती परिस्थितियों में वे अपने दायित्व का अच्छी तरह पालन कर सकें। इस प्रस्ताव का अमीर देशों ने कड़ा विरोध किया और अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के दबाव पर विचार-विमर्श के लिए कोई प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। राजनीतिक नेताओं का उत्तर-दक्षिण मुद्दों पर एक दूसरे के दृष्टिकोण को जानने का यह एक अनौपचारिक मिलन था। फिर भी, शिखर वार्ता के नेताओं को अन्तर्राष्ट्रीय और हितों की परस्परता का और साथ ही भोजन, विद्युत और संसाधनों के हस्तांतरण के क्षेत्र में भी कार्य योजना की भारी आवश्यकता अनुभव की गई परन्तु इन आम समस्याओं के आगे ठोस रूप में कानकुन शिखर वार्ता बहुत आगे कुछ न कर पायी। रीगन ने बाजार के जादू के अपने शब्दाङ्कन को दुहराया तथा इसकी शक्तियों और निजी पूँजी को विकासशील देशों की समस्याओं का समाधान बताया। इस दृष्टिकोण के नेताओं ने चुनौती दी जिनके अनुसार विकासशील देशों की कमजोर अर्थव्यवस्थाओं को बाजार की शक्तियाँ हानि पहुंचाएँगी। संसाधनों के हस्तांतरण के निर्णायक सवाल पर विकसित देशों ने कोई वचन नहीं दिया जैसा ब्रान्ट रिपोर्ट में विचार किया गया था।

इस प्रकार, जहाँ तक उत्तर-दक्षिण वार्ता में ठोस मुद्दों का सवाल है, कानकुन सम्मेलन एक निरर्थक प्रयास बन गया। अगर इस सम्मेलन को कुछ सफलता मिली तो वह यह कि अमीर उत्तर के प्रतिनिधियों ने दक्षिण के पक्ष को शान्ति से सुना। कानकुन से, विश्वस्तरीय बातचीत को प्रारम्भ करने जैसी बड़ी आशा मिथ्या सिद्ध हुई।

6.5.4 उरुग्वे वार्ता, 1986-93- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था मुख्यतः तटकर और व्यापार से सम्बन्धित सामान्य समझौते के प्रावधानों द्वारा संचालित होती है। इस सामान्य समझौते को 'गैट' (General Agreement on Tariffs and Trade- GATT) कहते हैं। विश्वस्तरीय व्यापार के सम्बन्ध में नियम बनाने का कार्य 'गैट' संस्थान द्वारा किया जाता है। 'गैट' का मुख्य उद्देश्य, प्रशुल्क दरों को न्यूनतम करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में आने वाली कठिनाइयों का निराकरण करके पारस्परिक लाभ वाले लक्ष्यों को प्राप्त करना है। गैट की स्थापना से लेकर अब तक आठ बहुपक्षीय व्यापारिक सम्मेलन हो चुके हैं। आठबां अधिवेशन 20 सितम्बर, 1986 को 'गैट' के तत्वावधान में दक्षिण अमरीका के देश उरुग्वे में प्रारम्भ हुआ जिसमें लगभग सौ सदस्य देशों ने भाग लिया था। उरुग्वे वार्ता दौर के लिए चार वर्षों की अवधि निर्धारित की गयी थी। और गैट को अपने निष्कर्ष दिसम्बर 1990 तक देने थे। लेकिन 4 वर्षों के निरन्तर प्रयासों और वार्ताओं के बावजूद भी कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्थाओं पर आम सहमति प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकी।

उरुग्वे वार्ता के वर्तमान दौर में गत परम्परा से हटकर वार्ता क्षेत्र में विस्तार किया गया तथा पहली बार वार्ता सूची में चार नए क्षेत्रों को शामिल किया गया। यह क्षेत्र हैं- 1. व्यापार से सम्बन्धित निवेश उपाय, 2. बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार के पहलुओं से सम्बन्धित व्यापार 3. सेवाओं में व्यापार तथा 12. कृषि। गैट वार्ता सूची में यह क्षेत्र विकसित देशों के आदेश से शामिल किए गए। विकासशील देशों का विचार था कि गैट केवल अब तक के परम्परागत क्षेत्र में ही नियम बनाने तक अपनी कार्यवाही सीमित रखें। वार्ता सूची के विस्तार के विषय में विकसित देशों (उत्तर) के अपने तर्क थे। उनके अनुसार व्यापार से सम्बन्धित निवेश उपायों को वार्ता सूची में रखा जाना चाहिए व्यापार करने में बाधा पड़ती है। बौद्धिक सम्पदा अधिकारों, विशेषकर पेटेन्ट, कापीराइट तथा ट्रेडमार्क के सम्बन्ध में विकसित देशों का कहना था कि विकासशील देशों में उपर्युक्त अधिकारों के अपर्याप्त संरक्षण के कारण जाली तथा चोरी के व्यापार का प्रचलन हुआ है और वैध व्यापार को क्षति पहुंची है, अतः बौद्धिक सम्पदा अधिकार से सम्बन्धित व्यापारिक पहलुओं को वार्ता सूची में शामिल किया जाना चाहिए। विकासशील देशों ने ऐसे प्रस्तावों का कड़ा विरोध किया।

उरुग्वे चक्र में पांच वर्ष के वार्ता दौर के पश्चात् भी किसी सर्वसम्मत परिणाम पर पहुंचने में असफल होने पर गैट के महानिदेशक आर्थर डुकेल ने 20 दिसम्बर 1991 को 108-सदस्यीय गैट के भावी स्वरूप पर 500 पृष्ठ के अपने प्रस्ताव रखे। सदस्य राष्ट्रों को सहमति के लिए पहले 13 जनवरी, 1992 तक का समय दिया गया। बाद में इस समय सीमा को 17 अप्रैल, 1992 तक बढ़ा दिया गया।

विकासशील देशों (दक्षिण) की दृष्टि में डुकेल प्रस्तावों का सर्वाधिक ऋणात्मक पहलू यह है कि वह केवल व्यापार तक ही सीमित नहीं है, इनमें कृषि सम्प्रदाई, बौद्धिक सम्पदा अधिकार (पेटेन्ट, कापीराइट, ट्रेडमार्क आदि) विदेशी निवेश उपायों तथा सेवाओं को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रस्ताव में विकासशील देशों की मागों तथा आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया केवल विकसित देशों के व्यापार प्रसार तथा हितों को ही आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया। डुकेल प्रस्तावों में सर्वाधिक विरोध पेटेन्ट अधिकारों के सम्बन्ध में था जिनमें पेटेन्ट प्राप्त कर्ताओं के अधिकारों में वृद्धि और उनके दायित्वों एवं वैधानिक बन्धनों में कमी की गयी। कृषि के क्षेत्र में पेटेन्ट अधिकार लागू करने की सिफारिश की गयी जिसके लागू हो जाने की दिशा में विकासशील देशों को विकसित देशों से कृषि सम्बन्धी तकनीकी खरीदने के लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। संक्षेप में, डुकेल प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने से विकासशील देशों के विकास उद्देश्यों पर मूलरूप में विपरीत प्रभाव पड़ेगा। आर्थर डुकेल ने ऐसे नए नियम प्रतिपादित किए जिनसे "गैट" विकासशील देशों पर ऐसी नीतियाँ थोप सकेगा कि वह अपने विकास उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाएंगे।

गैट के अधिवेशनों में विकासशील देशों ने अपने व्यापारिक हितों की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा प्रशुल्क कटौती एवं विकसित देशों के प्रतिबन्धात्मक व्यवहार के विरुद्ध इन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की। दुर्भाग्यवश, गैट के विभिन्न सम्मेलनों में इन राष्ट्रों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार ही हुआ और औद्योगिक राष्ट्रों के हितों का ही गैट के अन्तर्गत वर्चस्व स्वीकार किया गया। उत्तर के

राष्ट्र अपनी समृद्धशाली स्थिति के कारण अपने राजनीतिक हित सुरक्षित कर लेते हैं तथा फलतः आर्थिक हित सिद्ध करने में भी सफल हो जाते हैं। इसलिए 'गैट' को 'अमीरों के क्लब' की संज्ञा दे दी जाए तो उचित ही होगा।

6.5.5 पृथ्वी सम्मेलन, 1992-1997- रियो दि जैनेरो (ब्राजील) में आयोजित 'पृथ्वी शिखर सम्मेलन' (3 जून से 14 जून, 1992) उत्तर और दक्षिण (अमीर एवं गरीब) के देशों में पर्यावरणीय मुद्दों को लेकर मतभेद का एक महत्वपूर्ण दृश्य प्रस्तुत करता है। विकसित देश (उत्तर) मानते हैं कि गरीबी और जनसंख्या विस्फोट के कारण ही पृथ्वी की यह स्थिति हुई है। दक्षिण के गरीब देशों में अभी भी उष्णकटिबन्धीय घने जंगल हैं और अंदेशा है कि अपनी बढ़ती जनसंख्या का पेट भरने के लिए वे इन जंगलों का सफाया कर सकते हैं। विकासशील देशों के अनुसार परिचमी देशों की बेलगाम फिजुलखर्ची से ही पृथ्वी प्रदूषित हुई है। ऊर्जा के स्रोतों के अति दोहन को वे पर्यावरण प्रदूषण का प्रमुख कारण मानते हैं। रियो सम्मेलन से पूर्व छः मुद्दे उभर कर सामने आये, जिन पर उत्तर-दक्षिण में मतभेद था-

(1) ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन- उत्तर के देश 2000 ई. तक कार्बन डाई आक्साइड और मिथैन जैसी गैसों के उत्सर्जन में 20 प्रतिशत कटौती चाहते थे, जबकि दक्षिण के गरीब देश पिछले 50 वर्षों से गैसों के अत्यधिक उत्सर्जन के लिए अमीर देशों को दोषी करार देते हैं और इसमें भारी कटौती चाहते हैं।

(2) वन- अमीर देश ऐसी कानूनी बाध्यता चाहते हैं जिससे वनों, खास कर उष्ण कटिबन्धीय वनों की कटाई पर कड़े प्रतिबन्ध लगें। गरीब देशों के अनुसार ऐसे प्रावधान राष्ट्र की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप माना जाएगा। वनों को अब तक हुए नुकसान की भरपाई मुख्य रूप से अमीर देश करें।

(3) जनसंख्या- उत्तर के अमीर देश पर्यावरण के निरन्तर विनाश के लिए जनसंख्या विस्फोट और गरीबी को उत्तरदायी ठहराते हैं जबकि दक्षिण के देश अमीर देशों पर संसाधनों के अत्यधिक उपभोग का आरोप लगाते हैं। उनके अनुसार मुट्ठी भर होने के बावजूद ये देश विश्व के कुल संसाधनों का 75 प्रतिशत से अधिक भाग का उपभोग करते हैं।

(4) तकनीकी हस्तान्तरण- अमीर देश तकनीकी विकास का व्यावसायिक मानते हैं और जो देश इसका इस्तेमाल करेंगे उनसे इनका पूरा मूल्य मुनाफे सहित बसूल की जानी चाहिए। गरीब देश तकनीकी का प्रयोग प्रदूषण को साफ करने और ऊर्जा क्षमता में सुधार के लिए करना चाहते हैं और चाहते हैं कि यह तकनीक गरीब देशों को सस्ती दर पर मिले।

(5) अनुदान - अमीर देश पर्यावरण सुधार के लिए अनिवार्य अनुदान नहीं देना चाहते, उनके अनुसार संयुक्त राष्ट्र एजेंसियाँ विश्व पर्यावरण एजेंसी या विश्व बैंक अनुदान का वितरण करें। गरीब देश पर्यावरण सुधार पर खर्च के लिए नई संस्था का निर्माण चाहते हैं क्योंकि वर्तमान विश्व बैंक पर अमीर देशों का नियन्त्रण बना हुआ है।

(6) पर्यावरण विनाश- अमीर देश औद्योगिकरण और गरीबी को पर्यावरण के विनाश के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं और खर्च का बोझ बांटना चाहते हैं जबकि गरीब देशों के अनुसार पर्यावरण के विनाश के लिए विकसित देश ही उत्तरदायी रहे हैं और अब पर्यावरण को स्वच्छ करने का पूरा व्यवहार करें।

रियो में 3 जून से 14 जून, 1992 तक चलने वाला संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण तथा विकास सम्मेलन तीन प्रमुख दस्तावेजों को मान्य करने के बाद सन्तोष और आशा के बातावरण में सम्पन्न हो गया। इस महासम्मेलन में 178 राष्ट्रों की ओर से 115 राष्ट्राध्यक्ष और शासनाध्यक्ष उपस्थित थे। इसमें (1) एजेण्डा 21 आगामी शताब्दी के लिए विकास तथा पर्यावरण सुधार योजना, (2) 27-सूत्री रियो घोषणा-पत्र था, (3) विश्व के वनों के संरक्षण सम्बन्धीय वक्तव्य प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। एजेण्डा 21 के लिए पर्याप्त कोष जुटाने जैसे विवादास्पद प्रश्न पर भी सहमति बन सकी, यह सन्तोष की बात है।

पृथ्वी सम्मेलन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि गरीब (दक्षिण) देशों में अपने भविष्य के प्रति चेतना उत्पन्न हुई और इस सम्मेलन में वह मुखर भी हुई। सर्वाधिक विवादास्पद मुद्दा यह था कि पर्यावरण को शुद्ध करने का आर्थिक भार कौन उठाए। एक विचार आया कि जिन देशों की जीवन शैली पर्यावरण को दूषित करने के लिए उत्तरदायी हैं वे अपने व्यवहार में संयम बरतें। उदाहरण के लिए, अमरीका पर यह आरोप था कि वह सर्वाधिक कार्बन उगलता है, अतः उसे अपना कदम पीछे ले जाना चाहिए। इसी तरह एक मुद्दा यह उठाया गया कि जंगलों को सार्वभौम सम्पदा न मानकर स्थानीय सम्पदा माना जाए। इस मुद्दे को सबसे ज्यादा मुखर से भारत के मन्त्री कमलनाथ ने

उठाया। उनका कहना था कि यदि जंगलों को सार्वभौम सम्पदा माना जाए तो क्रूड आयल को भी सार्वभौम सम्पदा माना जाए क्योंकि इसका उपयोग सम्पूर्ण मानव जाति के लिए होता है।

सम्मेलन का कुल मिलाकर यह प्रभाव रहा कि गरीब देश पर्यावरण को दूषित करने के परिणामों के प्रति सजग हो उठे। उनकी चिन्ता अब यह है कि पर्यावरण के नाम पर भावी विकास के कामों पर अमीर देशों का दबदबा न बढ़ जाए।

6.5.6 अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन- जून, 1993 में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में वियना में अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन आयोजित हुआ। अमरीका तथा यूरोपीय देश चाहते थे कि सम्मेलन मानवाधिकार आयुक्त करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार के उल्लंघन के मामलों की जाँच की जा सके, लेकिन विकासशील देशों का कहना था कि इस प्रकार के आयुक्त की नियुक्ति यदि की गई तो इससे उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप बढ़ जाएगा।

6.6 सारांश

उत्तर-दक्षिण संवाद, मोटे तौर पर एक बेहतर विश्व की दिशा में परिवर्तन का संवाद है जिसमें पूरा विश्व समुदाय एक दूसरे के साथ बराबरी के आधार पर और एक जैसी परिस्थितियों में मेल से रह सके। यह एक संवाद है जो इतिहास द्वारा निर्मित विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच खड़े किए गए अवरोधों को धराशायी करना चाहता है। यह ऐतिहासिक गलतियों को सुधारना चाहता है और विकास में तमाम देशों के लिए बराबरी को पक्षधर है। परन्तु यह किसी दूसरे के मूल्य पर ऐसा नहीं करना चाहता। बल्कि, यह संवाद उच्चतर आकांक्षाओं द्वारा प्रेरित है। यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक नई विश्व व्यवस्था को बढ़ावा देने की बात करता है। यह तभी किया जा सकता है जब संवाद में शामिल दोनों पक्ष, उत्तर और दक्षिण, इस मूल तथ्य को समझें।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- ‘उत्तर-दक्षिण संवाद’ पर एक निबन्ध लिखिए?
- उत्तर दक्षिण के राहयोग को रेखांकित करने वाली प्रागुख अन्तर्राष्ट्रीय बार्ताओं के विभिन्न निष्कर्षों गर टिप्पणी कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- उत्तर-दक्षिण विभाजन की ऐतिहासिक जड़ें क्या हैं?
- उत्तर-दक्षिण संवाद में सम्मिलित मुद्दों को चिह्नित करें।
- ब्रान्ट कमीशन का क्या महत्व है?
- पृथ्वी सम्मेलन में उत्तर का दक्षिण के प्रति क्या रवैया रहा है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

- “उत्तर-दक्षिण” शब्दावली से आप क्या समझते हैं?
- उत्तर के देशों से क्या आशय है।
- गैट का पूरा नाम क्या है?

इकाई-7

दक्षिण-दक्षिण संवाद

संरचना

- 7.0 उद्देश्य
- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 दक्षिण-दक्षिण संवाद : अभिप्राय
- 7.3 दक्षिण-दक्षिण सहयोग : पृष्ठभूमि
- 7.4 दक्षिण-दक्षिण संवाद के विभिन्न मंच
 - 7.4.1 अंकटाड सम्मेलन
 - 7.4.2 ग्रुप-77
 - 7.4.3 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन
 - 7.4.4 जी-15 के सम्मेलन
 - 7.4.5 दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन और दक्षिण-दक्षिण ग्रुपों का सहयोग
- 7.5 सारांश

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत क्षेत्रीय सहयोग और विशेष रूप से दक्षिण-दक्षिण संवाद की चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप-

- दक्षिण-दक्षिण संवाद का अर्थ समझ सकेंगे,
- क्षेत्रीय सहयोग की अवधारणा के सार की व्याख्या कर सकेंगे और इस प्रकार के संगठनों के निर्माण में सहायक स्थितियों को पहचान सकेंगे,
- दक्षिण-दक्षिण संवाद के प्रयत्नों और इसके विकास की विभिन्न वार्ताओं का अध्ययन कर सकेंगे,
- दक्षिण-दक्षिण संवाद के महत्त्व को समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

उत्तर-दक्षिण संवाद की असफलता के परिणामस्वरूप दक्षिण-दक्षिण संवाद का जन्म हुआ। अपने असंतुलित इतिहास में उत्तर-दक्षिण संवाद बहुत सारे उत्तराव चढ़ाव से गुजरा, जिसमें “उत्तराव” दृश्य पटल पर ज्यादा उभरे। लगातार असफलता ने दक्षिण को उत्तर के अमीर, औद्योगिकृत देशों से मिलने वाली किसी भी मदद के प्रति निराशावादी बना दिया। परन्तु इस असफलता से, दक्षिण ने एक महत्त्वपूर्ण सबक सीखा। दक्षिण के गरीब, विकासशील देशों को जल्द ही इसका बोध हुआ कि उत्तर उनकी बातों को सुनने से तब तक इंकार करेगा जब तक कि दक्षिण की उत्तर से मोल-तोल करने की क्षमता कमज़ोर रहेगी। इन विकसित देशों पर जितना अधिक ये निर्भर रहेंगे, उन्हें छूटों या रियायतों के रूप में उतना ही कम लाभ होगा। इस बोध ने उस विचार को जन्म दिया जिसे दक्षिण के “सामूहिक आत्म-निर्भरता” के रूप में जाना जाता है। यह सामूहिक आत्म-निर्भरता दक्षिण-दक्षिण सहयोग के बढ़े हुए स्तर द्वारा ही प्राप्त की जा सकती थी। दूसरा, बहुत सारे ऐसे क्षेत्र पहले से अस्तित्व में थे, जहाँ दक्षिण के देशों के बीच सहयोग की अपूर्व संभावनाएं थीं। ब्रान्ट रिपोर्ट ने भी अनुशंसा की थी कि क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय संघटन, या सहयोग के दूसरे क्लासिक रूप, अभी भी

विकासशील देशों विशेष तौर से छोटे देशों के बीच आर्थिक विकास और ढांचागत बदलाव को उत्प्रेरित करने के लिए व्यावहारिक विकल्प प्रदान कर सकते थे।

इस तरह उत्तर दक्षिण सहयोग की मृग मरीचिका के पीछे भागने के बजाय दक्षिण गोलार्ध के विकासशील राष्ट्रों ने अपने त्वरित आर्थिक विकास के लिए 'दक्षिण-दक्षिण आपसी सहयोग' पर जोर देना प्रारम्भ कर दिया।

7.2 दक्षिण-दक्षिण संवाद : अभिप्राय

'दक्षिण-दक्षिण संवाद' से तात्पर्य है दक्षिण-दक्षिण अर्थात् विकासशील देशों के मध्य आर्थिक सहयोग के लिए विचार-विमर्श अथवा आपसी सहयोग के आधार की खोज। 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की स्थापना के लिए 'उत्तर-दक्षिण सहयोग' के प्रयत्न किए गए थे किन्तु धनी विकसित देशों की हठधर्मिता एवं अड़ियल रूख के कारण कोई उत्साहजनक परिणाम नहीं निकले। फलतः विकासशील देशों की निर्धनता बढ़ती गयी, ऋणभार बढ़ता गया, बजट घाटा बढ़ता गया और व्यापार में असन्तुलन बढ़ता गया। अतः यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि दक्षिण-दक्षिण के बीच प्रभावशाली तथा सार्थक संवाद की स्थिति उत्पन्न की जाये। इसके द्वारा दक्षिण के राष्ट्रों में आपसी विश्वास, सहयोग और सद्भावना की स्थिति का निर्माण किया जा सकता है।

7.3 दक्षिण-दक्षिण सहयोग : पृष्ठभूमि

दक्षिण-दक्षिण संवाद का वास्तविक सूत्रपाता 1968 ई. में नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय अंकटाड के सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग की आवश्यकता पर बल देने के साथ प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा पर सन् 1970 ई. के लुसाका सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ। सन् 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने जब 'नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' का आह्वान किया तो विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग का विशेष उल्लेख किया था। तत्पश्चात् 1975 ई. के लीमा में हुए विदेशमन्त्रियों के सम्मेलन एवं कोलम्बो में सन् 1976 ई. में हुए निर्णीट सम्मेलन तथा चौथे अंकटाड सम्मेलन (1976) में इस प्रकार के सहयोग की अवधारणा की अभिपुष्टि की गयी। 'ग्रुप-77' को सन् 1979 की बैठक में भी विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार की वृद्धि की आवश्यकता एवं सामूहिक आत्म-निर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया। मई 1981 में काराकास में विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग पर हुई उच्चस्तरीय बैठक में इस विषय को एक नया आयाम प्रदान किया गया एवं विकासशील राष्ट्रों के मध्य प्रशुल्क अधिमानों की विश्व व्यापी प्रणाली की मांग की गयी ताकि व्यापार सम्बद्धन, उत्पादन व रोजगार में वृद्धि हो सके।

नई दिल्ली में 22-24 फरवरी, 1981 की अवधि में 44 देशों का सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग के ठोस दिशा संकेत खोजने के प्रयास किये गये। 'उत्तर' (धनी पश्चिमी देश) पर निर्भरता कम करने की दृष्टि से ही और दक्षिण-दक्षिण में प्रारम्भ सहयोग स्थापित करने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया था। सम्मेलन में सऊदी अरब, कुवैत, रायुक्त अरब आगीरात जैसे आगीर देश भी आगान्त्रित थे। उनसे यह आशा की गयी कि वे अपने गरीब देशों की सहायता के लिए आगे आंगे। यदि तेल सम्पद देश अपने धन को विकासशील देशों में लगाना स्वीकार कर लें तो बेशक 'दक्षिण' (निर्धन विकासशील देशों) की अर्थ-व्यवस्था बदल सकती है।

अक्टूबर 1982 में 'ग्रुप-77' के मन्त्रियों ने न्यूयार्क में एक घोषणा स्वीकार कर विकासशील राष्ट्रों के मध्य प्रशुल्क अधिमानों की स्थापना पर बातची मार्ग स्थापित की। इस कार्यक्रम का उद्देश्य विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार अधिमानों व दीर्घकालीन समझौतों जैसे प्रत्यक्ष उपाय अपनाकर उनके आपसी व्यापार में वृद्धि करना था। गुटनिरपेक्ष देशों के हरारे शिखर सम्मेलन (1986) ने 'उत्तर-दक्षिण संवाद' के स्थान पर 'दक्षिण-दक्षिण संवाद' की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि दक्षिण-दक्षिण के सहयोग को अधिक निश्चित रूप देने में दिल्ली विचार सम्मेलन ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया और विभिन्न समस्याओं को रेखांकित किया जिनमें पारस्परिक सहयोग आवश्यक था।

7.4 दक्षिण-दक्षिण संवाद के विभिन्न मंच

दक्षिण-दक्षिण के देशों के पारस्परिक सहयोग को आगे बढ़ाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय मंचों को यदि देखा जाये तो यह उभर कर सामने आयेगा कि अंकटाड सम्मेलन, ग्रुप-77 की बैठकें, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन और जी-15 सम्मेलन दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रमुख मंचों में से एक हैं इनका विवरण निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता हैं -

7.4.1 अंकटाड सम्मेलन- अंकटाड अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास पर हुए अधिवेशन से पूर्व विदेशी व्यापार तथा सहायता सम्बन्धी समस्याओं पर प्रशुल्क दरों एवं व्यापार पर हुए सामान्य या गैट समझौते (GATT) के अन्तर्गत विचार किया जाता था। उक्त 'सामान्य समझौते' का अल्पविकसित देशों को आशानुकूल लाभ नहीं मिल सका। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग हेतु एक नवीन कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया, जिसका प्रयोजन अल्पविकसित देशों के विद्यमान अन्तर में कमी करना था। इसी कार्यक्रम को 'अंकटाड' की संज्ञा दी गयी। अंकटाड की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के एक स्थायी अंग के रूप में, 30 दिसंबर, 1964 को हुई। यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में एक नया मोड़ बिन्दु है और इसने विश्व व्यापार के विकास को एक नई दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया क्योंकि विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ में यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के अध्ययन का प्रथम बड़ा प्रयास है। अब तक हुए अंकटाड सम्मेलनों में विकासशील देशों के मध्य आपसी सहयोग पर बल दिया गया है।

7.4.2 ग्रुप-77 - 1960 के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ के नए सदस्यों में अफ्रीकी राज्यों की संख्या काफी थी और संघ के लगभग दो-तिहाई सदस्य विकासशील तृतीय विश्व के देशों में से थे जो अपने को 'ग्रुप-77' कहने लगे। इस समुदाय की स्थापना 1964ई. में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में की गयी थी। वर्तमान में इनकी संख्या 133 हो गयी है फिर भी उन्हें 'ग्रुप-77' के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। 'ग्रुप-77' के अधिकांश देश तृतीय विश्व के हैं। ये ऐसे देश हैं जिनके आर्थिक हित समान हैं और जो संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था की संरचना में बुनियादी परिवर्तन करना चाहते हैं।

7.4.3 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के देशों में अधिकांशतः देश विकासशील राष्ट्र हैं जिनकी अर्थव्यवस्था हर प्रकार के पिछड़ेपन से ग्रस्त है। इस आन्दोलन की स्थापना के दूसरे चरण में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सारा ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर केन्द्रित रहा जिसमें एक ओर विकासशील (दक्षिण) और विकसित (उत्तर) के बीच संवाद की बात की गई। वही विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग और सामूहिक आत्म-निर्भरता की बात को बार-बार दोहराया गया।

1970ई. के दशक में जबकि विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था एक ओर विकास की धीमी गति से प्रभावित थी, दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों द्वारा भेदभाव पूर्ण आचरण और व्यापार मुद्रा सुविधाएं और प्रविधि के हस्तान्तरण की समस्याएं लगातार बनी थी, ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा अल्जीयर्स सम्मेलन और बाद में हवाना सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण के आर्थिक सम्बन्धों के विवाद में तेजी आयी और दक्षिण के राष्ट्रों द्वारा अधिक सुविधाओं की मांग की गई। इसी बीच हरारे सम्मेलन में 'उत्तर-दक्षिण संवाद' के स्थान पर 'दक्षिण-दक्षिण संवाद' अर्थात् परस्पर आर्थिक सहयोग पर बल दिया। हरारे सम्मेलनों में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए विकासशील देशों का एक आयोग गठित करने का नियम किया गया जिसकी अध्यक्षता तंजानिया के पूर्व राष्ट्रपति जूलियस न्यूरेरे को सौंपी गयी। आयोग से कहा गया कि वह विकासशील देशों में गरीबी, भुखमरी, निरक्षरता के उन्मूलन और आर्थिक समस्याओं के निवारण के उपाय सुझाएं। 1989ई. के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में भाषण देते हुए भारत के पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग का आह्वान किया। उन्होंने कहा, "हमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में वर्तमान सम्बन्धों की अपेक्षा और अधिक ठोस रूप देना चाहिए। दक्षिण को अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाने के लिए चुनौतियों का सामना करना होगा। दक्षिण के हम लोगों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो विकास की प्रक्रिया तेज करने में, गरीबी का उन्मूलन करने में और हमारे लोगों को समृद्ध बनाने में मदद कर सकती है। दक्षिण में विकास के समान उद्देश्यों के लिए एक-दूसरे के बारे में अधिक जानकारी और संसाधनों को जुटाने हेतु राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी है।" उन्होंने आगे कहा, "दक्षिण-दक्षिण सहयोग को आवश्यक प्रोत्साहन देने तथा हमारे आपसी दीर्घकालिक हितों के लिए अस्थायी बलिदानों को स्वीकार करने हेतु एक उच्चकोटि की राजनीतिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। हमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रोत्साहन के लिए संस्थागत ढांचे को सुव्यवस्थित करना चाहिए।" 77 के ग्रुप तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन दोनों ही आर्थिक और तकनीकी सहयोग के कार्यक्रम हैं। इन कार्यक्रमों को तर्कसंगत बनाया जाना चाहिए तथा इनमें परस्पर समन्वय स्थापित करना चाहिए। विकास और विविधता से दक्षिण की अर्थव्यवस्थाओं में काफी विस्तार हो रहा है। व्यापार के क्षेत्र में व्यापारिक प्राथमिकताओं की विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत, विकासशील देश दक्षिण-दक्षिण व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए एक-दूसरे को प्राथमिकता शुल्क देते हैं। हमें संयुक्त उद्यम, आपसी पूंजी निवेश प्रवाह करने तथा आपस में प्राथमिकता के आधार पर प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण करने हेतु इसी प्रकार की कार्यवाही करने की आवश्यकता है।" इस तरह से श्री राजीव गांधी ने दक्षिण के देशों के बीच सभी क्षेत्रों में सहयोग करने पर जोर दिया।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में गुटनिरपेक्षा आन्दोलन दक्षिण-दक्षिण के सहयोग और गतिविधियों का प्रभावशाली केन्द्र हो सकता है क्योंकि वर्तमान स्थिति में गुटनिरपेक्षा आन्दोलन तृतीय विश्व के देशों का सबसे बड़ा मंच है। इस मंच से विकासशील राष्ट्र अपनी आर्थिक गतिविधियों को तथा आपसी सहयोग को आगे बढ़ा सकते हैं।

7.4.4 जी-15 के सम्मेलन- जी-15 की स्थापना 1989 में बेलग्रेड में नवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन की बैठक के दौरान की गयी थी। जी-15 के सदस्य देश हैं- अल्जीरिया, अर्जेन्टाइना, ब्राजील, चिली, मिस्र, भारत, इण्डोनेशिया, जमाइका, मलेशिया, मैक्सिको, नाइजीरिया, पेरू, सेनेगल, वेनेजुएला, तथा जिम्बाब्वे। इसका पहला शिखर सम्मेलन कुआलालम्पुर में हुआ। इस सम्मेलन में जी-15 की भूमिका और प्रासंगिकता को स्पष्ट किया गया था। इसे विकासशील देशों (दक्षिण) के ठोस प्रतिनिधित्व के रूप में देखा गया, जिसका लक्ष्य विकास के काम को प्रोत्साहित एवं तेज करने का है और विकसित एवं विकासशील देशों के बीच सार्थक बातचीत तथा विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग सुदृढ़ करने की दिशा में ठोस उपाय सुझा सकें।

7.4.5 दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन और दक्षिण-दक्षिण राष्ट्रों का सहयोग- दक्षिण और दक्षिण के राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग की दिशा में प्रगति की बात बार-बार कही गई किन्तु आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्र में सामूहिक प्रयासों का अभाव लम्बे समय तक रहा। दक्षिण एशियाई क्षेत्र के देशों में एक ओर द्विपक्षीय सम्बन्धों के तनाब उपस्थित है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और दबावों से यह क्षेत्र मुक्त नहीं है।

1980 के दशक में भारत, पाकिस्तान नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, श्रीलंका और मालदीव देशों ने सारे द्विपक्षीय विवादों तथा तनावों के होते हुए भी आर्थिक, तकनीकी, सांस्कृतिक और औद्योगिक सहयोग को विकसित करने के लिये 1985 में ढांका में क्षेत्रीय संगठन की नींव रखी। सार्क का मूल आधार क्षेत्रीय सहयोग पर बल देना है। दक्षिण एशियाई वरीयता व्यापार समझौते (SAPTA) को मंजूरी दिए जाने से दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के नये युग का सूत्रपात हुआ है। अब साम्यवादी चीन को भी इस संगठन में शामिल करने की वकालात की जा रही है।

7.5 सारांश

दक्षिण-दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग के आरम्भिक प्रयासों को यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे अपने विकास की प्राथमिकताओं को भलीभांति रेखांकित कर रहे हैं, साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दबावों और उनकी आवश्यकताओं का सही आभास इन देशों को हैं और सभी अभ्यास प्रश्नावलीं पर सामूहिक दृष्टिकोण और कार्य योजनाओं को बनाने तथा लागू करने के ये देश तत्पर हैं। वर्तमान दक्षिण-दक्षिण के राष्ट्रों के बीच सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता की आवश्यकता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बार-बार रेखांकित की जा रही है, किन्तु अपने राजनीतिक दबावों और आर्थिक अभावों के परिणामस्वरूप दक्षिण-दक्षिण सहयोग अधिक प्रभावी नहीं हो पाया है। यह सब होते हुए भी दक्षिण-दक्षिण के राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताएं उत्तर-दक्षिण के सहयोग और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं की अनिवार्यताएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी दक्षिण के राष्ट्रों के सामूहिक प्रयासों से अछूते नहीं रह पाये हैं और एक उनका अनुभव कई अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धनात्मक प्रश्न

1. दक्षिण-दक्षिण सहयोग की क्या सम्भावना है? क्या आप सोचते हैं कि यह उत्तर के साथ सौदेबाजी की क्षमता बढ़ाएगा?
2. दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयत्नों का परीक्षण कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दक्षिण-दक्षिण में सहयोग के न बढ़ने का मुख्य कारण क्या है?
2. दक्षिण-दक्षिण संवाद के विभिन्न मंच कौन-कौन से हैं?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दक्षिण-दक्षिण संवाद से क्या तात्पर्य है?
2. ग्रुप-77 की स्थापना कब तथा क्यों की गयी?

इकाई-8

यूरोपीय आर्थिक समुदाय

संरचना

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 यूरोपियन यूनियन का इतिहास- उद्भव
- 8.3 यूरोपीय पुनर्गठन के लिए प्रयास
 - 8.3.1 यूरोपीय यूनियन परिषद
 - 8.3.2 यूरोपीय संसद (ई.पी.)
 - 8.3.3 यूरोपीय आयोग
 - 8.3.4 आम नागरिकता
 - 8.3.5 दि कार्ट आफ जस्टिस
- 8.4 सारांश

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत क्षेत्रीय सहयोग और खास तौर पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय की गतिविधियों पर विचार-विमर्श किया गया है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

- यूरोपियन यूनियन का उद्भव, उद्देश्य अथवा कार्य तथा संरचना को समझ सकेंगे,
- यूरोपियन यूनियन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का सिहांवलोकन कर सकेंगे,
- यूरोपियन यूनियन की क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण उपलब्धियों और कमियों को जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

शीत युद्ध की समाप्ति, सोवियत संघ का विघटन, जर्मनी का एकीकरण, विश्व की सर्वशक्तिमान अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुके संयुक्त राज्य अमेरिका को जापान की सशक्त चुनौती एवं विश्व की प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं में विकास की धीमी गति तथा मन्दी का दौरं जैसी परिस्थितियों के बीच जहाँ एक ओर "गैट" जैसी संस्थाओं के माध्यम से समन्वित विश्व अर्थव्यवस्था की बात की जा रही है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय विशिष्टताओं, आवश्यकताओं, संसाधनों की उपलब्धता एवं दोहन की सामूहिक सम्भावना तथा सामूहिक हितों के सरकारण के लिए क्षेत्रीय स्तर पर आर्थिक संगठनों को शक्तिशाली एवं प्रभावकारी बनाया जा रहा है। यूरोपियन आर्थिक समुदाय के माध्यम से यूरोप का एकीकरण तथा नाफ्टा (NAFTA) जैसे संगठनों का उदय इसी सोच का परिणाम था। अर्थात् वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की प्रवृत्ति ने इस बात को निश्चित किया है कि बदलती विश्व व्यवस्था में राजनीति की अपेक्षा आर्थिक पहलू कहाँ अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए वर्तमान में अधिकांश देश शक्ति निर्माण के स्थान पर अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की दिशा में प्रयासरत हैं।

1 जनवरी, 1958 को एक सन्धि द्वारा यूरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना हुई। इस योजना में यूरोपीय आर्थिक समुदाय या यूरोपीय साझा बाजार का उद्देश्य सदस्य देशों के बीच वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी एवं श्रमिकों के स्वतन्त्र आवागमन में आने वाली बाधाओं को दूर करना था। इसके माध्यम से ही सदस्य देशों में साझा विदेशी व्यापार नीति, साझा कृषि नीति तथा साझा यातायात नीति बनाने का

कार्य आरम्भ किया गया था। परिणामस्वरूप यूरोपीय साझा बाजार के साथ ही यूरोपीय एकीकरण की नींव डाल दी गयी।

8.2 यूरोपियन यूनियन का इतिहास- उद्भव

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व और पश्चात् यूरोपीय देशों के बीच संस्थागत आधार पर एकीकरण स्थापित करने के अनेक प्रयास किए गए थे। यूरोपियन यूनियन की सीधी शुरुआत 1952 में हुई जबकि 6 देशों ने मिलकर यूरोपीय कोयला और स्टील समुदाय बनाने का निर्णय किया। तब किया गया कि वे अपने कोयला और स्टील संसाधनों के लिए साझा बाजार का निर्माण करेंगे, जिसका नियन्त्रण स्वतंत्र राष्ट्रीयेतर सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा किया जायेगा। ये देश थे- बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली तथा नीदरलैण्ड। तथापि महत्वपूर्ण उपलब्धि 1958 में ही प्राप्त हो सकी यानी जब रोम सन्धि (1957) प्रभावी हुई। इसकी बजह से यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा यूरोपीय परमाणु ऊर्जा समुदाय (यूकेटॉम) अस्तित्व में आये। फलतः साझा बाजार की परिधि का विस्तार कोयला और स्टील से लेकर लगभग सभी महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियों तक हो गया। इन सन्धियों का बुनियादी उद्देश्य एक ऐसे यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना करना था, जहाँ यूरोपीय समुदाय के देशों के बीच वस्तुओं, व्यक्तियों, सेवाओं व पूँजी का मुक्त आवागमन हो सके। 1973 में तीन अन्य देश- इंग्लैण्ड, आयरलैंड तथा डेनमार्क- यूरोपीय समुदाय में सदस्य बने। 1973 में जहाँ इसकी सदस्यता 9 थी, वह 1 जनवरी, 1995 तक बढ़कर 15 हो गयी। जो अन्य देश इसके सदस्य बने, वे हैं ग्रीस (1981), स्पेन व पुर्तगाल (1986) तथा आस्ट्रिया, फिनलैण्ड तथा स्वीडन (1995)।

8.3 यूरोपीय पुर्नगठन के लिए प्रयास

1958 से 1992 ई. के बीच कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिनके कारण से यूरोपीय समुदाय का रूप परिवर्तन हुआ और आज वह यूरोपीय यूनियन के रूप में अस्तित्व में है। 1973 में यूरोपीय मौद्रिक सहयोग के संविधान पर हस्ताक्षर हुए। 11 दिसम्बर, 1991 ई. को नीदरलैण्ड के मेस्ट्रिच नगर में 12 सदस्यीय यूरोपीय समुदाय ने यूरोपीय मौद्रिक संघ के अनुबन्ध पर सभी देशों के हस्ताक्षर प्राप्त कर लिए, जिसके तहत् इन देशों में समान मुद्रा का चलन होगा। साथ ही इस सन्धि में यह प्रावधान भी किया गया कि सदस्य देश एक समान श्रमिक कानून लागू करेंगे। सन्धि के अनुसार समान मुद्रा के साथ-साथ एक यूरोपीय केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना, साझी विदेश व सुरक्षा नीति का निर्माण करना तथा एकल यूरोपीय नागरिकता का प्रावधान करने जैसी व्यवस्थाएँ रखी गईं। इसका काम सदस्य राज्यों को एकल समुदाय में परिवर्तित करना था इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र को शामिल करने की कोशिश की गई है।

संघीय (यूरोपीय) नागरिकता की बात मैस्ट्रिच सन्धि की महत्वपूर्ण विशेषता मानी जा सकती है। यह सन्धि संघीय नागरिकों को किसी भी सदस्य राज्य में रहने, अध्ययन करने और अवकाश प्राप्ति के बाद अपना जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्रदान करती है। शुरू में यह अधिकार कामगारों तक ही सीमित था, किन्तु अब सभी इसका लाभ उठा सकते हैं। संघीय नागरिकों को सदस्य राज्य, जहाँ वे निवास करते हैं के नगरपालिका चुनावों में बैतौर प्रत्याशी खड़ा होने और मतदान करने का अधिकार प्राप्त है। इसके गहरे निहितार्थ हैं। वास्तव में कुछ सदस्य राज्यों को इसे संभव बनाने के लिए अपने संविधानों में संशोधन करना पड़ा था। वास्तव में संघीय नागरिकता और राष्ट्रीय नागरिकता एक ही साथ प्रदान किये जाते हैं ताकि लोग अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाये रख सकें। फिर भी यह शाश्वत सत्य है कि संघीय नागरिकता, संधि का परिणाम है। और इस बात का प्रमाण है कि यूरोपियन यूनियन धीरे-धीरे आर्थिक समुदाय से राजनीतिक समुदाय में परिवर्तित होती जा रही है। यूरोपियन यूनियन की विभिन्न संस्थाओं और अंगों का विश्लेषण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है-

यूरोपीय यूनियन की संस्थाएँ और अंग :

8.3.1 यूरोपीय यूनियन परिषद - यह मुख्य निर्णयकारी संस्था है। इसमें 15 सदस्य राज्यों के मंत्री शामिल होते हैं। एजेंडा के अनुरूप अलग-अलग मंत्री परिषद् की अलग-अलग बैठकों में भाग लेते हैं। यह संघीय कानूनों (विनियमों, निर्देशों एवं फैसलों) का निर्माण करती है। इसके निर्णय यूरोपीय संघ के पूरे क्षेत्र में लागू होते हैं तथा अंतर सरकारी सहयोग के लिए दिशा निर्देश दे सकती

है। प्रत्येक 6 महीने पर परिषद् की सदस्यता सदस्य राज्यों के बीच बदलती रहती है। प्रत्येक अध्यक्ष के प्रशासन काल की समाप्ति पर परिषद् की शीर्ष बैठक होती है। जिसमें राज्याध्यक्ष अथवा सरकार के प्रमुख हिस्सा लेते हैं।

8.3.2 यूरोपीय संसद (ई.पी.)- यूरोपीय समुदाय के देशों की एक संसद बनाई गयी। इस संसद के सदस्यों की संख्या 626 है। 1979 से ये सदस्य पांच सालों के लिए सीधे चुनाव द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। यूरोपीय संसद राजनीतिक समूह का निर्माण करती हैं, न कि राष्ट्रीय समूह का। यह यूरोपीय संघ के लिए राजनीतिक मंच का कार्य करता है। जहाँ सार्वजनिक महत्व के विषयों पर चर्चा की जाती है तथा परिषद् एवं आयोग के बारे में प्रश्न उठाए जाते हैं। यह यूरोपीय संघ के बजट को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है।

8.3.3 यूरोपीय आयोग- इन सभी समुदायों (यूरोपीय कोयला व स्टील समुदाय यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा यूरोटॉम) को मिलाकर एकल आयोग का निर्माण तब किया गया था, जब सन्धि के द्वारा सभी अधिशासियों का विलयन कर दिया गया था।

8.3.4 आम नागरिकता- सदस्य देशों के नागरिकों की एक आम नागरिकता होगी। इस पर सभी देश सहमत हैं। यूरोपीय संघ के सात देशों (फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल, बेल्जियम, लक्जेर्मार्ग व नीदरलैण्ड) ने अप्रैल, 1993 से और यूनान, इटली व आस्ट्रिया के तीन देशों ने जून, 1995 से एक दूसरे देश में जाने के लिए बीजा प्रणाली समाप्त कर दी है। इस तरह यूरोपीय संघ के दस देशों ने बीजा समाप्त कर दिया है। यह यूरोप की राजनीतिक एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

8.3.5 दि कार्ट आफ जस्टिस- यूरोपीय संघ के कानूनों की व्याख्या करता है तथा इसके फैसले सबके लिए बाध्यकारी होते हैं। इसमें 15 न्यायाधीश तथा उन्हें सहायता देने वाले 6 महाधिवक्ता होते हैं। प्रथम दृष्ट्या अदालत जिसे सीमित क्षेत्रों में केस की सुनवाई करने का अधिकार होता है, कोर्ट आफ जस्टिस की मदद करता है। उपर्युक्त संगठन यूरोपीय एकीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

8.4 सारांश

पिछले चार दशकों में यूरोपीय संघ विश्व के सबसे बड़े व्यापारिक खण्ड तथा आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है। नये सदस्यों को आकर्षित करने में यह चुंबक की तरह कार्य करता रहा है और वर्तमान में इसकी कुल जनसंख्या तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद भूतपूर्व और वर्तमान महाशक्तियों यानी पूर्व सोवियत संघ अमरीका के समतुल्य है। यूरोपीय संघ वर्तमान में विश्व राजनीति को प्रभावित करने की स्थिति में है। नतीजतन यह सोवियत संघ के विखण्डन से पैदा हुई खाई को भरने में सक्षम है। बस्तुतः 'यूरोपीय कम्युनिटी' के गर्भ में 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ यूरोप' का सपना निश्चित रूप से पल रहा है। जब यह सपना साकार हो जायेगा तो विश्व राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन हो जायेगा।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धनात्मक प्रश्न

- मेस्ट्रिच सन्धि ने संयुक्त यूरोप की जिस रूपरेखा को पेश किया है उसका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- यूरोप के पुनर्गठन के प्रयासों की विवेचना करिए?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

- मेस्ट्रिच सन्धि पर कहाँ तथा कब हस्ताक्षर किए गए?
- यूरो मुद्रा का नियमन तथा नियन्त्रण कौन करेगा?
- यूरोपियन संघ के 1995 में बनने वाले 3 नये सदस्य देशों के नाम लिखिए?

इकाई- 9

संयुक्त राष्ट्र संघ : उद्देश्य तथा सिद्धान्त

संरचना

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना
 - 9.2.1 लंदन घोषणा
 - 9.2.2 एटलांटिक चार्टर
 - 9.2.3 संयुक्त राष्ट्र घोषणा
 - 9.2.4 मास्को घोषणा
 - 9.2.5 तेहरान सम्मेलन
 - 9.2.6 डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन
 - 9.2.7 चाल्या सम्मेलन
 - 9.2.8 सेनक्रांसिस्को सम्मेलन
- 9.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
- 9.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता
 - 9.4.1 सदस्यता प्राप्ति की शर्तें
 - 9.4.2 सदस्यता प्रदान करने की शैली
 - 9.4.3 सदस्यों का निलम्बन
 - 9.4.4 सदस्यता का प्रत्याहरण
 - 9.4.5 गैर सदस्य राज्य
 - 9.4.6 सरकारी भाषाएँ
- 9.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त
 - 9.5.1 सार्वभौमिक समानता
 - 9.5.2 सद्भावना
 - 9.5.3 विवादों का शांतिपूर्ण समाधान
 - 9.5.4 धर्मकी अथवा बल प्रयोग नहीं
 - 9.5.5 सहायता
 - 9.5.6 गैर-सदस्य राज्यों से सम्बद्ध सिद्धान्त
 - 9.5.7 घरेलू क्षेत्राधिकार
- 9.6 संयुक्त राष्ट्र संघ का संरचनात्मक स्वरूप
- 9.7 सारांश

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत विश्व के सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख सिद्धान्तों एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के अनुरक्षण के सन्दर्भ में अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात आप :

- संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्भव कैसे हुआ, उसकी संरचना क्या है, समझ सकेंगे,
- राष्ट्रों के मध्य शान्ति स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की वैधानिक योजना का वर्णन कर सकेंगे,
- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अगमों की सक्रियता को समझ सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ के संरचनात्मक स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध के भीषण नर-संहार के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। इसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भावना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रयत्न से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने, आक्रामक कार्रवाइयों के विरुद्ध सदस्य राज्यों को सुरक्षा प्रदान करने, युद्ध को रोकने तथा विश्व-शान्ति कायम रखने की विस्तृत व्यवस्था की गयी थी। राष्ट्र संघ के प्रेरणा स्रोत, अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति बुडरो विल्सन ने इसके विधान को 'शान्ति का विधान' और 'शान्ति की निश्चित गारंटी' माना। दक्षिणी अफ्रीका के तत्कालीन प्रधानमंत्री जनरल ब्लैट्स ने राष्ट्र संघ के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और संस्थाओं में आन्तरिक रूपान्तर की आशा व्यक्त की। लेकिन ये सभी आशाएँ आदर्श-मात्र बनकर रह गयीं। जैसे-जैसे समय बीता गया और परीक्षा की घड़ी आयी, राष्ट्र संघ एक शक्तिहीन संस्था साजित हुई। इसके आदर्शों की अवहेलना कर जापान ने मंचूरिया पर और इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किये, परन्तु राष्ट्र संघ इनके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सका। उसकी निष्क्रियता तथा शक्तिहीनता से तानाशाही शासकों जिन्हें राष्ट्र संघ के उच्च आदर्शों में विश्वास नहीं था, की महत्वाकांक्षाओं को काफी बल मिला। वे मनमानी करने लगे। उनकी आक्रामक नीतियों का परिणाम यह हुआ कि 1939 में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रसंघ जिसका उद्देश्य विश्व को भावी युद्ध से बचाना था, द्वितीय महायुद्ध द्वो रोकने में असफल रहा और महायुद्ध ने इस संस्था के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया।

इस प्रकार शांति-स्थापना के लिए राष्ट्र संघ के रूप में मानव का प्रथम प्रयास असफल हो गया। परन्तु इसकी असफलता से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उपयोगिता में अनास्था उत्पन्न नहीं हुई। यदि ऐसी बात होती तो महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के सारे प्रयास बन्द हो जाते। परन्तु जैसा कि गुडस-पीड ने लिखा है : "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से शांति और सुरक्षा की स्थापना की खोज द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही समाप्त नहीं हुई। वरन् युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को और भी व्यापक आधार प्रदान किया।" द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत विश्व के समक्ष अनेक विकट समस्याएँ थीं परन्तु शांति की स्थापना की समस्या उनमें सबसे अधिक विकट थी। शांति स्थापित करने तथा उसके लिए स्थायी व्यवस्था करने का कार्य वैसे ही कठिन होता है परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद यह काम और भी कठिन हो गया था। अब तक इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर विध्वंसक युद्ध नहीं लड़ा गया था। इसमें आधुनिकतम तथा विनाशकारी अस्त्र शस्त्रों का इतना व्यापक स्तर पर प्रयोग हुआ था और उसके चलते दोनों पक्षों को जितनी हानी हुई थी, उसका अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। इस कद्दु तथ्य ने विचारशील व्यक्तियों को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि यदि स्थायी शांति स्थापित करने के लिए कोई उपाय नहीं किया गया तो एक दिन सम्पूर्ण विश्व का अन्त हो जायेगा तथा मानव-सभ्यता और संस्कृति अतीत की गाथा बन जायेगी। उनकी समझ में इस स्थिति से बचने का केवल एक ही उपाय था- शांति कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करना। परन्तु राष्ट्र संघ के अनुभव से यह ज्ञात हो गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था के लिए न केवल सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था आवश्यक है वरन् सामाजिक, अर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी आवश्यक है। अतः एक ओर विश्वयुद्ध को रोकने तथा शांति को कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गयी, वहीं दूसरी ओर उस संगठन के द्वारा ऐसी परिस्थितियों का निर्माण भी आवश्यक समझा गया जो विश्व शांति को ठोस आधार देने में सहायक हों। युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी अनुभव तथा कल्पना का परिणाम थी।

9.2 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ऐसे समय में हुई जब द्वितीय महायुद्ध अपने भीषणतम रूप में सारे विश्व को आतंकित कर रहा था। जर्मनी, इटली और जापान धुरी-राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति का सामना करने में ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य मित्र राष्ट्रों की सारी शक्ति लगी हुई थी। यह युद्ध केवल कुछ राष्ट्रों की प्रतिष्ठा के लिए ही नहीं लड़ा जा रहा था। धुरी राष्ट्रों की बढ़ी हुई सैनिक शक्ति वास्तव में प्रजातन्त्र और मानव अधिकारों के लिए संकट थी। इस युद्ध में यदि धुरी-राष्ट्रों की विजय होती तो निश्चत ही समस्त विश्व पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता और सम्भव है स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के ऊंचे आदर्शों को भारी आधात पहुंचता।

26 जून, 1945 को सेनेफ्रांसिस्को में 50 देशों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना एकाएक हो गयी। वास्तव में यह वर्षों के विचार-विमर्श के बाद अस्तित्व में जैसाकि चेज ने लिखा है “किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का निर्माण उतनी सावधानी के साथ नहीं किया गया था जितना संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का।” युद्ध के प्रारम्भ होते ही इसकी रचना के सम्बन्ध में विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था। जैसे-जैसे युद्ध की भीषणता बढ़ती गयी वैसे-वैसे इस कार्य में तीव्रता आती गयी। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के ध्येयों को स्पष्ट करने के लिए सरकारों द्वारा अनेक सम्मेलन बुलाये गये जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं-

9.2.1 लंदन की घोषणा - 12 जून, 1941 को मित्र राष्ट्रों द्वारा एक घोषणा की गयी। चूंकि यह घोषणा लंदन में हुई थी, इसलिए इसे लंदन-घोषणा के नाम से जाना जाता है। इस घोषणा में भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के ध्येयों की ओर संकेत किया गया था। लंदन के सेन्ट जेम्स पैलेस में ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, चेकोस्लोवाकिया, ग्रीस, लक्जमबर्ग नीदरलैंड, नार्वे, पोलैंड, युगोस्लाविया तथा फ्रांस ने मिलकर इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये। इस घोषणा में निम्नलिखित दो बातों का उल्लेख था-

- (1) स्थायी शांति का सही आधार है विश्व के स्वतन्त्र जनसमूहों में ऐन्हींक सहयोग-एक ऐसे विश्व में जो संघर्षों से रहित हो तथा जहाँ सभी आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा का उपयोग कर सकें।
- (2) यह भी कहा गया कि घोषणा करने वाले राज्य आपस में तथा स्वतन्त्र लोगों के साथ युद्ध या शांति दोनों में मिलकर कार्य करें। इस प्रकार चिरस्थायी शांति स्थापित करने का एकमात्र आधार स्वतन्त्र राष्ट्रों के सहयोग को माना गया।

9.2.2 एटलांटिक चार्टर- एक नयी विश्व-सङ्घ की स्थापना की दिशा में प्रथम प्रयास 14 अगस्त, 1941 को एटलांटिक घोषणा द्वारा उठाया गया। 9 अगस्त, 1941 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल को सुझाव दिया कि वे मिलकर एक घोषणा करें जिसमें कुछ व्यापक सिद्धान्तों का उल्लेख हो जो उनकी नीतियों को निर्देशित करें। 12 अगस्त, 1941 को रूजवेल्ट और चर्चिल, एटलांटिक महासागर में एक युद्धपोत पर मिले। आपस में विचार-विमर्श के बाद उन्होंने एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। 14 अगस्त, 1941 को उसकी घोषणा की गयी। यही घोषणा-पत्र एटलांटिक-चार्टर के नाम से विस्तृत हुआ। एटलांटिक चार्टर एक सामान्य सिद्धान्तों की घोषणा थी जिन पर सुनहरे भविष्य की आशा आधारित थी। एटलांटिक-चार्टर में एक प्रस्तावना और आठ खण्ड थे, जिनका उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया जा रहा है -

- (1) ब्रिटेन और अमेरिका अपना प्रादेशिक या अन्य प्रकार का विस्तार नहीं चाहते।
- (2) वे विश्व में ऐसे क्षेत्रों परिवर्तन देखना नहीं चाहते जो वहाँ की जनता की इच्छा के विरुद्ध हो।
- (3) वे प्रत्येक राष्ट्र को अपनी शासन-प्रणाली चुनने के अधिकार के पक्ष में हैं। वे यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यों की स्वतन्त्रता छीन ली गयी है, उन्हें पुनः वापिस मिल जाय।
- (4) वे यह प्रयत्न करेंगे कि सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों को आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक व्यापार और कच्चे माल की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों।
- (5) वे विश्व के सब देशों में आर्थिक सहयोग बढ़ाना चाहते हैं जिसके द्वारा श्रमिक स्तर, आर्थिक विकास और सामाजिक सुरक्षा बनी रहे।
- (6) नाजी आक्रमण तथा अत्याचार के समाप्त होने के उपरांत वे ऐसी शांति-व्यवस्था देखना चाहते हैं, जिसमें सब राष्ट्रों की जनता अपने क्षेत्रों में भली प्रकार रह सके। उन्हें किसी प्रकार का भय न रहे तथा उनकी दैनिक आवश्यकताएँ भली प्रकार से पूरी हो सकें।

- (7) वे ऐसी शांति-व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जो सभी अन्तर-राज्यों को महासागरों और समुद्रों पर निर्बाध विचरण की स्वतन्त्रता प्रदान करे।
- (8) वे चाहते हैं कि विश्व के सब राष्ट्रों को शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। एक स्थायी सामान्य सुरक्षा की स्थापना के लिए निरस्त्रीकरण आवश्यक है।

एटलांटिक चार्टर द्वितीय महायुद्धकाल की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घोषणा थी। वेन्डेनबोश तथा होगन ने एटलांटिक चार्टर को “संयुक्त राष्ट्र संघ के सृजन में प्रथम पग कहा है।”

9.2.3 संयुक्त राष्ट्र घोषणा- संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कदम संयुक्त राष्ट्र की घोषणा के रूप में उठाया गया। यह घोषणा 1 जनवरी, 1942 ई. को की गयी थी। यह युद्धकाल की दूसरी महत्वपूर्ण घोषणा थी। वेन्डेनबोश तथा होगन ने ठीक ही लिखा है कि “यदि एटलांटिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थापित करने में प्रथम पग था तो 1 जनवरी, 1942 की संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा दूसरा पग।” इस घोषणा पर 26 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा में एटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया था। इसमें यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाली सरकारें कभी भी धुरी राष्ट्रों के साथ सचिं नहीं करेंगी और उनके विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगा देंगी। इस प्रकार धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सेज़ा दी गयी। गेटेल ने ठीक ही लिखा है कि “जब मित्र राष्ट्रों को यह विश्वास हो गया कि धुरी राष्ट्रों पर विजय पाना स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है तो उन्होंने 1 जनवरी, 1942 को संयुक्त राष्ट्रों का एक संघ कायम किया।” इस घोषणा से संयुक्तराष्ट्रसंघ के अस्तित्व में आने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

9.2.4 मास्को घोषणा- संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की दिशा में तीसरा प्रयास 30 अक्टूबर, 1943 को मास्को-घोषणा में उठाया गया। मास्को-सम्मेलन, युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों का प्रथम सम्मेलन था। इस सम्मेलन में अमरीकी विदेश सचिव कार्डेल हल, ब्रिटिश विदेश मंत्री ईडेन, रूस के विदेश मंत्री मोलोतोव तथा चीन की ओर से फू पिंगशूंग ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य ‘संयुक्त राष्ट्र’ के बीच किसी प्रकार की दरार को रोकना था। मास्को-घोषणा में यह कहा गया कि चार महान शक्तियाँ (ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस तथा चीन) अपने देशों तथा दूसरे साथी राज्यों की स्वतन्त्रता को आक्रमण के भय से सुरक्षित करने के उत्तरदायित्व को पहचान कर युद्ध को शीघ्रता से समाप्त करने और शस्त्रों पर कम से कम व्यय करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति-व्यवस्था कायम करने की आवश्यकताओं को पहचान कर घोषित करती है कि उन्होंने शत्रुओं के विरुद्ध जो संयुक्त कार्य किया है वे उसे तब तक करती रहेंगी जब तक कि शांति और सुरक्षा स्थापित न हो जाय। इस घोषणा में यह भी कहा गया है कि वे शोग्रातिशोत्र एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता अनुभव करती हैं। घोषणा में इस तरह के संगठन के आधारभूत सिद्धान्तों की भी चर्चा हुई। यह कहा गया कि इस तरह के संगठन में शांति-प्रेमी सब छोटे-बड़े राज्य सम्मिलित होंगे। यह संगठन राज्यों की सम्प्रभुता की समानता के सिद्धान्तों पर आधारित होगा। यह आशा की गयी कि भविष्य में शांति और सुरक्षा स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र सक्रिय भाग लेगा।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का निरूपण मास्को-सम्मेलन में हुआ था। इसीलिए मास्को सम्मेलन को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की दिशा में प्रथम सक्रिय एवं व्यावहारिक प्रयास कहा गया है। जैसा कि एस.बी.क्रीलोव ने लिखा है कि “मास्को संयुक्त राष्ट्र संघ की जन्मभूमि बन गयी, क्योंकि वहीं पर सुरक्षा की स्थापना के निपित्त एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की घोषणा पर हस्ताक्षर किया गया था।”

9.2.5 तेहरान सम्मेलन- मास्को-सम्मेलन के बाद ईरान की राजधानी तेहरान में संयुक्त राष्ट्र के तीन बड़े नेताओं चर्चिल, रूजवेल्ट तथा स्टालिन का एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन 28 नवम्बर, 1943 से 1 दिसम्बर, 1943 तक हुआ जो तेहरान सम्मेलन के नाम से विख्यात हुआ। यह द्वितीय युद्धकाल का प्रथम शिखर सम्मेलन था जिसमें तीनों राज्यों के अध्यक्ष सम्मिलित हुए। यह सम्मेलन इसलिए भी महत्वपूर्ण था, क्योंकि यह पहला अवसर था जब राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा मार्शल स्टालिन एक दूसरे के सम्पर्क में आये। सम्मेलन के अन्त में जारी संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया—“हम अपने इस निश्चय को व्यक्त करते हैं कि हमारे राष्ट्र युद्ध अथवा भावी शांति में एक-दूसरे के साथ सहयोग से कार्य करेंगे। हम अपने एवं संयुक्त राष्ट्रों के परम दायित्व को भली भाँति पहचानते हैं कि हमें एक ऐसी शांति की स्थापना करनी है जिसे विश्व के बहुसंख्यक लोगों की सद्भावना प्राप्त हो तथा जो अनेक पीढ़ियों तक युद्ध के कलंक और आतंक को मिटाने में समर्थ हो। अत्याचार, दासता, दमन तथा असहिष्णुता का अंत करने के लिए हम छोटे-बड़े, सभी राष्ट्रों का, जिनके निवासी हमारी तरह इन बुराइयों को मिटाना चाहते हैं, का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। हम ऐसे सभी राष्ट्रों का स्वागत करेंगे जो प्रजातान्त्रिक राज्यों के विश्व संघ में सम्मिलित होना चाहेंगे।”

9.2.6 डम्बार्टन ऑक्स सम्मेलन- संयुक्त राष्ट्र संघ की रूपरेखा का निर्माण करने के लिए बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन 21 अगस्त, 1944 को वाशिंगटन के डम्बार्टन ऑक्स भवन में आयोजित किया गया जो 7 अक्टूबर, 1944 तक चला। इस सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि संयुक्त राष्ट्र का कार्यक्षेत्र केवल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने तक ही सीमित न रखा जाय बल्कि उसका कार्य आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना भी होना चाहिए। प्रस्तावित विश्व संगठन के सन्दर्भ में सोवियत संघ का दृष्टिकोण था कि संयुक्त राष्ट्र में बड़ी शक्तियों की प्रभावशाली एवं निर्णयात्मक भूमिका को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाय। उसका विचार था कि बाद-विवाद करने वाली सभाओं में छोटे राष्ट्रों को भी समान अधिकार दिये जा सकते हैं। उसने इस बात पर जोर दिया कि शांति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में सभी महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए बड़ी शक्तियों का एकमत होना अत्यन्त आवश्यक है। डम्बार्टन ऑक्स प्रस्तावों में ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कल्पना की गयी जिसमें पुराने राष्ट्र संघ के बहुत से तत्व पाये जाते थे, पर साथ ही उसमें कुछ ऐसे विचारों का समावेश भी था जिनसे उसकी त्रुटियों से सबक लिया जा सके। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों- महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया।

9.2.7 याल्टा-सम्मेलन- संयुक्त राष्ट्र के बारे में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय सोवियत संघ के प्रदेश क्रीमिया के याल्टा नगर में लिये गये। 4 फरवरी, 1945 को स्टालिन, चर्चिल तथा रूजवेल्ट का एक शिखर सम्मेलन याल्टा में ग्राम्भ हुआ। सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली पर महत्वपूर्ण निर्णय याल्टा सम्मेलन में ही सम्भव हो सका। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की दिशा में इस सम्मेलन का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें उन बातों पर निर्णय सम्भव हो सका जिन पर डम्बार्टन ऑक्स सम्मेलन में निर्णय नहीं हो सका था। गुडसपीड ने ठीक ही लिखा है, “‘याल्टा सम्मेलन में लिए गये निर्णयों ने डम्बार्टन ऑक्स प्रस्ताव की बहुत-सी त्रुटियों को दूर कर दिया।’”

9.2.8 सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन- याल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार 25 अप्रैल, 1945 को अमेरिका के सेन फ्रांसिस्को शहर में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र को तैयार करना तथा संयुक्त राष्ट्र संघ को पूर्णतया स्थापित करना था। इस सम्मेलन में 51 राष्ट्र सम्मिलित हुए। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का प्रारूप तैयार किया और उसे स्वीकार किया। इस प्रारूप पर 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर हुए। इसी दिन राष्ट्रपति टूमेन ने सम्मेलन में आये हुए प्रतिनिधियों को विदाई दी। विदाई-भाषण में प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए राष्ट्रपति ने कहा था : “‘संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर जिस पर आपने हस्ताक्षर किये हैं, ऐसा दृढ़ खम्भ है जिस पर हम एक सुदृढ़ विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा। यूरोप में विजय और जापान में अन्तिम विजय के बीच, विश्व के सबसे अधिक विनाशकारी युद्ध के बीच आपने स्वयं युद्ध को जीत लिया है। पृथ्वी के समस्त राष्ट्रों की ओर से यह चार्टर इस महान् निष्ठा की घोषणा करता है कि युद्ध परम आवश्यक नहीं है और विश्व में शांति स्थापित हो सकती है। इस चार्टर से विश्व में शांति, सुरक्षा और मानव मात्र की उन्नति हो सकती है।’” 24 अक्टूबर, 1945 को सदस्य राज्यों की स्वीकृति प्राप्त हो जाने के उपरात संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर लागू हो गया। इसके साथ ही एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण हुआ जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम दिया गया है।

9.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्र संघ का विधान प्रस्तावना से शुरू होता है। इसमें संघ के उद्देश्यों तथा प्रयोजनों का वर्णन है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा चार्टर के अनुच्छेद 1 तथा 2 में की गयी है। परन्तु प्रस्तावना में भी उनका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। मार्टिन एवं ब्रेदार्विच ने ठीक ही लिखा है : ‘प्रस्तावना अनुच्छेद 1 और 2 का संक्षिप्त रूप है।’ वस्तुतः इसमें उन समस्त राष्ट्रों का एक उद्देश्य निरूपित किया गया है, जिन्होंने आपस में मिलकर एक संघ की नींव डाली है। संघ के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है कि “‘संयुक्त राष्ट्र हम लोगों ने वह दृढ़ निश्चित किया है कि-भावी पीढ़ियों को उस युद्ध की पीड़ा और कष्टों से बचाने का जिसके कारण हमारे जीवन में दो बार मानव जाति को अपार दुःख भोगना पड़ा,

आधारभूत मानवीय अधिकारों, मानव प्रतिष्ठा और महत्व, स्त्री-पुरुषों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में अपनी निष्ठा की पुनः पुष्टि करने का, और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने का, जिनसे सन्धियां एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अन्तर्गत आने वाले उत्तरदायित्वों के प्रति न्याय और सम्मान का दृष्टिकोण ग्रहण किया जा सके,

स्वतन्त्रता के विस्तृत क्षेत्र में सामाजिक उत्थान एवं जीवन स्तर की उन्नति को प्रोत्साहित करेंगे और समाज को प्रगतिशील बनायेंगे एवं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भले पड़ोसियों की भाँति एक-दूसरे के प्रति सहनशील बनने एवं शांति से रहने की भावना अपनायेंगे,

अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को स्थिर रखने के लिए अपनी शक्ति को संगठित करेंगे,

नियमों की स्वीकृति और विधानों की स्थापना द्वारा विश्वास दिलायेंगे कि सामान्य हितों की रक्षा के अतिरिक्त शस्त्र-बल का प्रयोग नहीं करेंगे और,

सबकी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का उपयोग करेंगे।”

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हमने मिलकर प्रयत्न करने का निश्चय किया है। इसीलिए हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से सेन फ्रांसिस्कों नगर में इकट्ठी हुई। प्रतिनिधियों ने अपने अधिकार-पत्र दिखाए हैं, जिनको ठीक और उसी रूप में पाया गया है और उन्होंने संयुक्त राष्ट्रों के इस घोषणा-पत्र को मान लिया है, और इसकी रूह से वे अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करते हैं, जिसका नाम संयुक्त राष्ट्र संघ होगा।

संक्षेप में चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य हैं—

- (1) सामूहिक व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों व्यो नियन्त्रण में रखना,
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करना,
- (3) राष्ट्रों के आत्म-निर्णय और उपनिवेशवाद विघटन की प्रक्रिया को गति देना,
- (4) सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्तोहित एवं पुष्ट करना।

सारांश में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, एकता तथा विश्व शान्ति की स्थापना करना इसका प्रमुख लक्ष्य है।

9.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के दूसरे इकाई में सदस्यता से सम्बन्धित उपबंध है। इसमें दो प्रकार की सदस्यता का प्रावधान है। प्रारम्भिक सदस्यता तथा निर्वाचित अथवा बाद में अर्जित सदस्यता। प्रारम्भिक तथा बाद में सदस्यता अर्जित करने वाले राज्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों को समान अधिकार तथा दायित्व प्रदान किये गये हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ प्रारम्भिक सदस्यों को अपने अधिकार के रूप में संघ में शामिल होने का अवसर मिला वहाँ, सदस्यता अर्जित करने वाले राज्य को अपने आप सदस्यता प्राप्त नहीं होती है। सदस्य होने के पूर्व उन्हें कुछ शर्तों को पूरा करना होता है और तब कहीं उन्हें संघ की सदस्यता प्राप्त होती है। चार्टर की तीसरी धारा के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक सदस्य वे थे जिन्होंने सेन फ्रांसिस्कों सम्मेलन में भाग लिया था अथवा 1 जनवरी, 1942 के संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किया था अथवा संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करके धारा 110 के अनुसार उसकी संपुष्टि की थी। ऐसे राज्यों की संख्या 51 थी। उनमें से 50 राज्यों ने सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया था और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर अपना हस्ताक्षर किया था। केवल पोलैण्ड के लिए एक विशेष व्यवस्था की गयी थी। पोलैण्ड सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में शामिल नहीं हुआ था क्योंकि सम्मेलन में उसे आमंत्रित नहीं किया गया था। फिर भी उसे संघ का प्रारम्भिक सदस्य बनाया गया क्योंकि 1 जनवरी, 1942 के संयुक्त राष्ट्र-घोषणा-पत्र पर उसने हस्ताक्षर किया था। इस प्रकार प्रारम्भिक सदस्यों की संख्या 51 हो गयी। इन सदस्यों के अलावा दूसरे देशों को भी संघ की सदस्यता प्रदान की गयी है लेकिन उन्हें प्रारम्भिक सदस्य नहीं बन् बाद में प्रविष्ट सदस्य कहा जाता है। प्रविष्ट सदस्य उन राज्यों को कहा जाता है जिन्होंने न तो सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया था और न संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करके उसकी संपुष्टि की थी, किन्तु शांतिप्रिय होने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में विश्वास रखने के कारण बाद में सदस्यता प्राप्त की है। आज कल ऐसे सदस्यों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या लगभग विश्वव्यापी हो गयी है। वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या 192 हो गई है।

9.4.1 सदस्यता-प्राप्ति की शर्तें- संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 4 में सदस्यता ग्रहण की शर्तों का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता उन सभी शांतिप्रिय राष्ट्रों के लिए खुली होगी जो संघ के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करें और जो संघ के निर्णयानुसार इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के योग्य और इसके लिए तैयार हो। सदस्यता सम्बन्धी निर्णयों के लिए सुरक्षा परिषद् के पाँचों स्थायी सदस्यों की सहमति और आम सभा में दो-तिहाई बहुमत का समर्थन आवश्यक रखा गया। दूसरे शब्दों में, सदस्यता को उन मामलों में रखा गया जिनके लिए बड़ी शक्तियों का एकमत होना आवश्यक था। इस प्रकार चार्टर की व्यवस्था के अनुसार सदस्यता-सम्बन्धी निर्णय लेने का अधिकार आमसभा और सुरक्षा परिषद् को प्राप्त है। यदि वे सद्भावनापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सदस्यता के लिए अभ्यर्थी राज्य शांतिप्रिय है और चार्टर के अनुबन्धों के आधारों को मानने की इच्छा अथवा सामर्थ्य रखता

है तो उसे नया सदस्य बनाया जा सकता है। इस प्रकार जैसाकि केल्सन ने कहा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में नया सदस्य बनाने का अधिकार सुरक्षा परिषद् तथा आम सभा की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है।

9.4.2 सदस्यता प्रदान करने की रीति- सर्वप्रथम, सदस्यता के लिए इच्छुक राज्य के आवेदन-पत्र पर सुरक्षा परिषद् विचार करती है। आवेदन पर विचार करने के बाद सुरक्षा परिषद् अपनी सिफारिश पेश करती है। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश के लिए उसके 15 सदस्यों में से 9 सदस्यों का एकमत होना आवश्यक है जिनमें पाँच स्थायी सदस्यों का मतैक्य अनिवार्य है। इस प्रकार सदस्यता के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार प्राप्त है। यदि स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य किसी राज्य को नहीं चाहता है तो वह सदस्य नहीं हो सकता।

सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा निर्णय लेती है। यदि सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा ने अपने दो-तिहाई बहुमत से निर्णय ले लिया तो आवेदनकर्ता राज्य उसी दिन से संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन जाता है जिस दिन महासभा ने निर्णय लिया हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर आरम्भन तथा निर्णय का अधिकार सुरक्षा परिषद् को एवं अनुसमर्थन का अधिकार आमसभा को प्राप्त है। किसी राज्य को सदस्य बनाने के सम्बन्ध में महासभा उस समय तक निर्णय नहीं कर सकती जब तक सुरक्षा परिषद् की संस्तुति या अनुमोदन नहीं हो, जिसके लिए उसके पाँच स्थायी सदस्यों का मतैक्य अनिवार्य है।

राष्ट्र संघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ सदस्यता की दृष्टि से एक विश्वव्यापी संगठन है जहाँ सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 51 थी वहाँ आजकल सदस्य संख्या 192 तक पहुँच गयी है।

9.4.3 सदस्यों का निलम्बन- संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में किसी सदस्य का सदस्यता के निलंबन तथा निष्कासन की व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता है। धारा 1 यह उपर्याधित करती है कि सुरक्षा परिषद् द्वारा जिन सदस्यों के विरुद्ध निरोधात्मक दंडात्मक कार्रवाई की गयी है उन्हें महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर दो-तिहाई बहुमत से निलम्बित कर सकती है। बाद में उपर्युक्त समझे जाने पर सदस्यता पुनः लौटाई जा सकती है। दोनों के लिए सुरक्षा परिषद् की अनुशंसा आवश्यक होगी। चार्टर की धारा 6 में यह कहा गया है कि चार्टर के सिद्धान्तों का लगातार उल्लंघन करने वाले सदस्य राज्य को विश्व संस्था से निष्कासित भी किया जा सकता है। परन्तु यह सुरक्षा परिषद् की अनुशंसा पर महासभा के निर्णय से होगा। इस प्रकार चार्टर में सदस्य राज्यों के निलम्बन तथा निष्कासन दोनों की व्यवस्था है। उदाहरण के लिए 22 मितम्बर, 1992 को पूर्व युगोस्लाविया को सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित कर दिया गया था। महासभा में 2 नवम्बर, 2000 को नए लोकतान्त्रिक यूगोस्लाविया को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता पुनः देने की अनुमति दे दी।

9.4.4 सदस्यता का प्रत्याहरण- संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के प्रत्याहार के सम्बन्ध में चार्टर मौन है। यह सदस्यों की सदस्यता के प्रत्याहार करने की न तो आज्ञा देता है और न मना करता है। सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में इस विषय पर काफी बहस हुई थी। कतिपय राज्य इस पक्ष में थे कि सदस्यों की सदस्यता की वापसी के लिए निषेध कर लिया जाये। दूसरी ओर, कतिपय अन्य राज्य इस पक्ष में थे कि यदि सदस्यों के लिए चार्टर में किये गये संशोधनों को स्वीकार करना असम्भव हो जाता है तो ऐसे सदस्यों को अपनी सदस्यता वापस लेने का अधिकार होना चाहिए। अन्त में यह तय किया गया कि इस विषय में कोई व्यक्त प्रावधान न रखे जायें जिसके अनुसार विशेष परिस्थितियों में सदस्य अपनी सदस्यता वापस ले सकते हैं। इस प्रकार चार्टर में सदस्यता-परित्याग की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। परन्तु इस विषय पर विचार करने के लिए नियुक्त समिति ने एक औपचारिक घोषणा प्रसारित कर इस बात की पुष्टि की कि यदि कोई सदस्य राज्य अपवादजनक परिस्थिति में सदस्यता परित्याग की विवशता का अनुभव करता है और अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने का भार अन्य राष्ट्रों पर छोड़ने के लिए तैयार है तो संघ उस राज्य को अपना सहयोग बनाये रखने के लिए बाध्य नहीं करेगा। साथ-साथ यह भी कहा गया कि यदि किसी सदस्य राज्य संयुक्त राष्ट्र का उत्तरदायित्व और अधिकार परिवर्तित कर दिया हो, जिसे वह राज्य स्वीकार नहीं करता हो तो उसे संस्था में रहने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। सारांश यह कि यद्यपि चार्टर में सदस्यता परित्याग की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है परन्तु प्रकारान्तर से उपर्युक्त व्याख्या के माध्यम से सदस्यता-परित्याग के अधिकार को मान्यता देने का प्रयास किया गया है। पिछले 60 वर्षों के जीवन काल में केवल इण्डोनेशिया ने सन् 1965 में संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का प्रत्याहार किया था, परन्तु 28 दिसम्बर, 1966 को इण्डोनेशिया पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ में लौट आया। इससे इस संस्था का महत्व तथा उपयोगिता स्वतः उजागर होती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के नियमों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि ऐसा युद्ध के उद्देश्यों एवं मनोविज्ञान के प्रभाव में ही किया गया था। सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में यद्यपि इस बात पर चर्चा की गयी थी कि संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता को विश्वव्यापी बना दिया जाय परन्तु जब चार्टर पर अन्तिम रूप से विचार किया गया तब यह निश्चय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता किसी भी देश के व्यवहार के आधार पर अर्जित की जानी चाहिए एवं साथ ही यह भी तय किया गया कि यदि कोई भी सदस्य राष्ट्र लगातार संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्तों की अवहेलना करता रहेगा तो उसे सदस्यता से बंचित किया जा सकता है या उसकी सुविधाओं को समाप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता की शर्तें हैं 'शान्तिप्रियता', 'उत्तरदायित्वों को निभाने के योग्य एवं इच्छुक' हों। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। व्यवहार में, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता का राजनीतिकरण कर दिया था। नये राज्यों को सदस्यता प्रदान करने में महा शक्तियों का ही प्रभाव रहा है। महा शक्तियों ने अपने इस अधिकार का विश्व में अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने में खुलकर प्रयोग किया। शीत-युद्ध में महा शक्तियों ने एक-दूसरे के समर्थक राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश करने का अवसर नहीं दिया। साम्यवादी चीन 1949 से 1971 तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता केवल इस कारण प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका उसका विरोधी था। परन्तु जब अमरीका के गान्धीय एवं आर्थिक हितों ने मार्ग की तो उसने विरोध करना बन्द कर दिया और साम्यवादी चीन 1971 में संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया।

9.4.5 गैर सदस्य राज्य- कुछ देश ऐसे भी हैं जिन्होंने अभी तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं की है। स्विट्जरलैण्ड पूर्ण तटस्थता को स्वीकार करने के कारण स्वयं सदस्य नहीं बनना चाहता है। ताइवान को राष्ट्रवादी चीन भी कहा जाता है। जब साम्यवादी चीन को संघ एवं सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाया गया तो ताइवान को अल्वानिया के प्रस्तावानुसार संयुक्त संघ की प्राथमिक सदस्यता से भी निष्कासित कर दिया गया। ताइवान से आग्रह विया गया कि वह 'ताइवान' नाम से संघ का सदस्य बनना स्वीकार करे, लेकिन उसे यह निर्णय स्वीकार नहीं था।

9.4.6 सरकारी भाषाएँ- संयुक्त राज्य के चार्टर के द्वारा चीनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा स्पेनिश भाषाओं को साधारण सभा (उसकी सभी समितियों तथा उप-समितियों सहित) सुरक्षा परिषद् तथा न्यास परिषद् की सरकारी भाषाओं के रूप में स्वीकार किया गया है।

9.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रस्तावना तथा अनुच्छेद 1 में संघ के उद्देश्यों की चर्चा की गयी है। उनकी पूर्ति के लिए सदस्यों के मार्ग-दर्शन हेतु कठिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन अनिवार्य था, अतः चार्टर के अनुच्छेद 2 उन सिद्धान्तों की चर्चा करता है जिन पर संयुक्त राष्ट्र संघ की नींव रखी गयी है। ये सिद्धान्त उन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के समान हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके सदस्य राज्यों का मार्गदर्शन करेंगे। अनुच्छेद 2 में कहा गया है कि धारा 1 में वर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संघ तथा इसके सदस्य निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करेंगे-

- (1) इस संघ का आधार सभी सदस्य राज्यों की प्रभुता-सम्पत्ति तथा समानता का सिद्धान्त है।
- (2) सभी सदस्य अपने उन सब दायित्वों को ईमानदारी के साथ निभायेंगे, जिन्हें उन्होंने वर्तमान चार्टर के अनुसार स्वीकृति प्रदान की है, ताकि सबको इस बात का विश्वास हो जाय कि सदस्य होने के जो भी अधिकार और लाभ है, वे उनको मिलेंगे।
- (3) सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से इस प्रकार तय करेंगे कि विश्व की सुरक्षा, शांति और न्याय संकट में न पड़े।
- (4) सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में किसी राज्य की अखण्डता, राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बल का प्रयोग करेंगे और कोई भी ऐसा काम न करेंगे जो संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों से मेल नहीं खाता हो।
- (5) सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसी हर कार्यवाही में सब तरह की सहायता देंगे जो वर्तमान चार्टर के अनुसार हो और ऐसे किसी भी राज्य की मदद न करेंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ लागू कराने या प्रतिबंध की कोई कार्रवाई कर रहा हो।
- (6) यह संघ इस बात का विश्वास दिलायेगा कि जो राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए जहाँ तक आवश्यक हो, इन्हीं सिद्धान्तों का पालन करेंगे।

(7) वर्तमान चार्टर में जो कुछ कहा गया है उसे संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राज्य के उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकारी नहीं होगा, जो निश्चित रूप से उन राज्यों के घेरलू क्षेत्राधिकार आते हों। न किसी सदस्य के लिए यह आवश्यक होगा कि ऐसे मामलों को वर्तमान चार्टर के अधीन समाधान करने के लिए रखें।

चार्टर के अनुच्छेद 2 में जिन मौलिक सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है, उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं-

9.5.1 सार्वभौमिक समानता- संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रथम आधारभूत सिद्धान्त यह है कि इसके सभी सदस्य राष्ट्र सार्वभौम शक्ति-सम्पत्ति और समान हैं। इस सिद्धान्त में दो बातें कही गयी हैं- पहली ‘सार्वभौम शक्ति-सम्पत्ति’ और दूसरी ‘समानता’। सामान्यतया सार्वभौम शक्ति-सम्पत्ति का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य अपने भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वोच्च है और उसमें उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि है। इसके अन्तर्गत रहने वाले किसी भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदाय को उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। यह सम्प्रभुता का आन्तरिक पक्ष हुआ। इसका बाह्य पक्ष भी है जिसका अर्थ यह है कि आन्तरिक सर्वोच्चता के अंतरिक बाह्य क्षेत्र में भी राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र है। वह किसी भी बाह्य शक्ति के नियन्त्रण से मुक्त है। ‘समानता’ से तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य के रूप में भी राज्य समान हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में छोटे-बड़े सभी राज्य समान हैं।

परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई भी सदस्य राज्य उक्त अर्थ में सम्प्रभुता-सम्पत्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संघ के चार्टर के विभिन्न उपबंधों के द्वारा उनकी निर्बाध सम्प्रभुता सीमित हो जाती है। जैसा कि मार्टिन और बेंटनिच ने लिखा है : “ संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य-राज्यों की सम्प्रभुता सीमित है। चार्टर पर हस्ताक्षर करके उन्होंने अपने कुछ ऐसे अधिकार, जिन्हें वे इससे पहले अपनी स्वेच्छा से प्रयुक्त कर सकते थे, संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तान्तरित कर दिये हैं।”

जहाँ तक राज्यों की समानता का प्रश्न है, संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत इसका बहुत सीमा तक पालन किया गया है। उदाहरण के लिए, महासभा में सभी सदस्य राज्यों को समानता का दर्जा प्राप्त है।

9.5.2 सद्भावना- संयुक्त राष्ट्र संघ का दूसरा आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए वचनबद्ध है। यह कोई नवीन विचार नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है कि सन्धि-जनित कर्तव्यों तथा दायित्व का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु चार्टर में इस सिद्धान्त को रखने का आशय यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अपने आदर्शों के पालन में तभी तक सफल हो सकता है जब तक इसके सभी सदस्य-राष्ट्र अपने दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करें।

9.5.3 विवादों का शांतिपूर्ण समाधान- संयुक्त राष्ट्र संघ का तीसरा आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सभी सदस्य-राष्ट्र अपने पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करेंगे चार्टर के अनुच्छेद 2 (3) में कहा गया है कि सभी सदस्य राज्य इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से इस प्रकार समापन करेंगे कि विश्व की सुरक्षा, शांति और न्याय संकट में न पड़े। चार्टर के छठे इकाई में, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ निश्चित की गई हैं। इसमें विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की विभिन्न रीतिव्यों का उल्लेख है, जैसे, वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, सौमनस्य, पंच निर्णय, न्यायिक समझौते तथा प्रादेशिक व्यवस्थाएँ आदि। यदि सुरक्षा परिषद् यह उचित समझे तो विवादों के निपटारे की उचित प्रक्रिया या निर्णय की शर्तें तय कर सकती हैं। चार्टर के मौलिक सिद्धान्तों में इस सिद्धान्त को शामिल करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि शांतिपूर्ण ढंग से अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा सदस्य-राज्यों का प्रमुख दायित्व है।

9.5.4 धर्मकी अथवा बल प्रयोग नहीं- संयुक्त राष्ट्र संघ का चौथा आधारभूत सिद्धान्त यह है कि कोई भी सदस्य-राज्य किसी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न तो शक्ति का प्रयोग करेगा और न धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के प्रतिकूल हो। इस प्रकार धर्मकी अथवा बल प्रयोग का चार्टर में निषेध किया गया है। परन्तु, कुछ अवस्थाओं में बल-प्रयोग को वैधानिक बतलाया गया है। उदाहरणार्थ, यदि संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद् किसी आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध कोई सशस्त्र कार्रवाई करती है तो सदस्य राज्यों के लिए उस कार्रवाई में शामिल होना आवश्यक है। चार्टर की धारा 43(1) यह व्यवस्था करती है कि “अन्तर्राष्ट्रीय शांति सुरक्षा को बनाये रखने में योगदान करने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य सुरक्षा-परिषद् की माँग पर और विशेष समझौते या समझौतों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने के प्रयोजन के लिए आवश्यक, अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता एवं सुविधाओं, जिनमें पारगमन के अधिकार भी सम्मिलित हैं, उपलब्ध कराने का दायित्व लेते हैं।” इसी प्रकार धारा 51 के अन्तर्गत सभी सदस्य राज्यों को आत्मरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

9.4.5 सहायता- संयुक्त राष्ट्र संघ का पाँचवाँ मूलभूत सिद्धान्त यह है कि जब अपने चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ किसी सदस्य राष्ट्र या अन्य के विरुद्ध कोई कार्रवाई करेगा तो सब सदस्य-राष्ट्र उसे सब प्रकार की सहायता देने के लिए बचनबद्ध हैं और वे किसी ऐसे देश की सहायता नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संघ द्वारा शांति और सुरक्षा के निमित्त कोई कार्रवाई की जा रही है। इस प्रकार यह सिद्धान्त सदस्य राष्ट्रों का संघ की समस्त कार्रवाइयों में सहायता प्रदान करने का दायित्व निर्धारित करता है। यदि संघ द्वारा अनुशासित कार्रवाई की जा रही हो और इस हेतु सदस्य राष्ट्रों से सहायता माँगी जा रही हो तो ऐसी स्थिति में उनका दायित्व है कि वे सभी प्रकार की सुविधा तथा सहायता संघ को प्रदान करेंगे।

9.5.6 गैर-सदस्य-राज्यों से सम्बद्ध सिद्धान्त- संयुक्त राष्ट्र संघ का छठा सिद्धान्त, गैर-सदस्य राज्यों से सम्बद्ध है। चार्टर की धारा 2(6) में कहा गया है कि शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए, जहाँ तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश इसके सदस्य नहीं है, वे चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्र को विश्वव्यापी बनाने का प्रयास करता है।

9.5.7 घरेलू क्षेत्राधिकार- संयुक्त राष्ट्र संघ का सातवाँ सिद्धान्त सदस्य राज्यों के गृह अथवा आन्तरिक मामले से सम्बद्ध है। चार्टर की धारा 2 के सातवें खण्ड में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी देश के ऐसे मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा, जिसका सम्बन्ध उसके आन्तरिक अथवा गृह क्षेत्र से है। इस प्रकार यह अनुच्छेद स्पष्ट रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं देता है।

9.6 संयुक्त राष्ट्र संघ का संरचनात्मक स्वरूप

चार्टर के अध्याय 3 के अनुच्छेद 7 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य छः प्रमुख अंगों द्वारा निष्पादित किया जाता है।

- ❖ महासभा
- ❖ सुरक्षा परिषद्
- ❖ आर्थिक और सामाजिक परिषद्
- ❖ सचिवालय
- ❖ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

9.7 सारांश-

संयुक्त राष्ट्र संघ भी द्वितीय महायुद्ध की उपज है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान घटने वाली घटनाओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना को सम्भव बनाया। जैसा कि गुडसपीड ने ठीक ही लिखा है, “जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध ने राष्ट्र संघ की स्थापना की प्रेरणा दी थी उसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध ने नये संगठन की स्थापना की प्रेरणा दी।” इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए की गई है। अतः यह विश्व समाज का प्रतीक है।

अध्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन करो?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख उद्देश्य क्या-क्या हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रस्तावना स्पष्ट कीजिये?
2. सेनफ्रांसिस्कों सम्मेलन का महत्व क्या है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के लिए पहली घोषणा कब और कहाँ की गई?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई?

इकाई-10

महासभा : संगठन एवं भूमिका

संरचना

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 महासभा का संगठन
 - 10.2.1 महासभा का अधिवेशन एवं सभापति
 - 10.2.2 मतदान प्रक्रिया
 - 10.2.3 महासभा की समितियां
- 10.3 महासभा के अधिकार और कार्य
 - 10.3.1 विचारात्मक कार्य
 - 10.3.2 निरीक्षणात्मक कार्य
 - 10.3.3 वित्तीय कार्य
 - 10.3.4 संगठनात्मक कार्य
 - 10.3.5 संवैधानिक कार्य
 - 10.3.6 विविध कार्य
- 10.4 शांति के लिए एकता प्रस्ताव
- 10.5 सारांश

10.0 उद्देश्य

यह इकाई संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे अधिक लोकप्रिय अंग महासभा का संगठन एवं भूमिका का वर्णन करता है। प्रस्तुत इकाई विश्व की संसद के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करने में उत्पत्ति से अब तक उसकी परिवर्तित भूमिका क्या रही है, इन सभी का सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है। हम पाठ को पढ़ने के पश्चात् आप :

- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना में महासभा के प्रभाव एवं भूमिका की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- महासभा के विभिन्न अधिकारों एवं कार्यों को समझ सकेंगे,
- महासभा को शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव द्वारा शक्तिशाली बनाने के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे,

10.1 प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों में सबसे बड़ा तथा सबसे अधिक लोकप्रिय अंग महासभा है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का केन्द्रीय निकाय है। जैसा कि ई.पी. चेज ने लिखा है “महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ का केन्द्र बिन्दु है। यह न तो अपना स्थान त्याग सकती है और न अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के लिए किसी दूसरे अंग को भागीदार बना सकती है।” महासभा को संयुक्त राष्ट्र संघ की संसद कहा जाता है। इसकी तुलना किसी देश के विधानमण्डल अथवा संसद से की जाती है। अन्तर केवल इतना है कि इसके निर्णय बाध्यकारी नहीं होते। सिनेटर बेन्डेनवर्ग ने इसे “संसार की नगर सभा कहा है।” कारण यह कि महासभा ऐसा स्थल है जहाँ विश्व के विभिन्न राज्य, विश्व शांति और सुव्यवस्था से सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार विमर्श करते हैं। यह एक ऐसा मंच है जहाँ विश्व के राजनयिकों को एकत्रित होने, विचार विमर्श करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था कायम रखने के लिए सुझाव देने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए महासभा को ‘मानव का खुला अन्तःकरण’ कहा गया है।

10.2 महासभा का संगठन

महासभा, संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रतिनिध्यात्मक या प्रतिनिधि सदन है। संघ के सभी सदस्य-राज्य इसके सदस्य होते हैं। इस प्रकार यह संयुक्त राष्ट्र संघ का एक मात्र ऐसा अंग है, जिसमें संघ के सभी सदस्य-राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रत्येक सदस्य राज्य 5 प्रतिनिधि और 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि भेज सकता है, परन्तु उसका मत एक ही माना जाता है। इस प्रकार महासभा का संगठन राज्यों की समानता के आधार पर किया गया है। इस समय महासभा के 192 सदस्य राज्य हैं।

10.2.1 महासभा का अधिवेशन एवं सभापति- संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में यह विधान है कि महासभा की बैठक वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य होगी। आम तौर से यह अधिवेशन सितम्बर के महीने में न्यूयार्क में होता है। अधिवेशन किसी अन्य स्थान पर भी हो सकता है यदि इस तरह की प्रार्थना अधिवेशन प्रारम्भ होने के 120 दिन पहले की गयी हो तथा उस पर बहुमत सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त हो। प्रायः यह अधिवेशन सितम्बर महीने के तीसरे मंगलवार को प्रारम्भ होता है और करीब दो महीने तक चलता है। महासभा के अधिवेशन की अवधि पर चार्टर में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। केल्सन के अनुसार “यदि कार्य सूची के लिए आवश्यक हो तो महासभा अपना वार्षिक अधिवेशन दूसरे वार्षिक अधिवेशन तक जारी रख सकती है।” परन्तु व्यवहार में यह अधिवेशन लगभग दो महीने तक चलता है।

आवश्यकता पड़ने पर महासभा के विशेष अधिवेशन भी बुलाए जा सकते हैं। विशेष अधिवेशन सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के बहुमत या अधिकतर सदस्यों की सहमति से एक सदस्य की प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् अथवा बहुमत सदस्यों के बहुमत या अधिकतर सदस्यों की सहमति से एक सदस्य की प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् अथवा बहुमत सदस्यों के अनरोध पर 24 घंटे के भीतर महासचिव के द्वारा सभा का संकटकालीन अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। ऐसे अधिवेशनों में सभा केवल उन्हीं विषयों पर विचार करती हैं जिनके लिए अधिवेशन बुलाने की माँग की गयी हो। अभी तक कई विशेष अधिवेशन हो चुके हैं।

अपने कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिए महासभा एक अध्यक्ष का चुनाव करती है। उसका चुनाव महासभा के प्रत्येक अधिवेशन के लिए किया जाता है जो अधिवेशन के अन्त तक सभा की कार्रवाई का संचालन करता है। इस प्रकार उसका कार्यकाल केवल एक अधिवेशन तक ही सीमित रहता है जिसमें उसका निर्वाचन होता है। बेल्जियम के श्री पॉल हेनरी स्पाक महासभा के प्रथम अध्यक्ष थे।

10.2.2 मतदान प्रक्रिया- महासभा की मतदान-प्रणाली चार्टर की धारा 18 से विनियमित होती है। इस धारा के अनुसार महासभा में प्रत्येक सदस्य-राज्य को एक ही मत प्राप्त है। इसमें छोटे-बड़े प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्यों की संख्या से कोई फर्क नहीं होता। महासभा की बैठकों में प्रत्येक विषय पर मतदान करने का ढंग एक जैसा नहीं है। कुछ विषयों पर दो-तिहाई और कुछ अन्य पर सामान्य बहुमत से प्रस्ताव पारित होने की व्यवस्था है। महत्वपूर्ण विषयों पर दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। अन्य विषयों पर बैठक में उपस्थित बहुमत से प्रस्ताव पारित होते हैं। परन्तु, महासभा सामान्य बहुमत से, किसी विषय को महत्वपूर्ण घोषित करके उसके पारित होने के लिए दो-तिहाई बहुमत का प्रावधान कर सकती है।

10.2.3 महासभा की समितियाँ- महासभा एक बड़ी संस्था है। इसके लिए सभी विषयों पर विस्तार से विचार-विमर्श कर सकना बहुत कठिन है जो इसके समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः राष्ट्रीय विधायिका सभाओं की भाँति महासभा भी अपने कार्यों के सम्पादन के लिए समितियों का प्रयोग करती है। कार्य-सूची के अधिकांश सारभूत प्रश्नों पर, जिन पर बहस और निर्णय की आवश्यकता होती है, पहले किसी न किसी समिति में सार्वजनिक रूप से विचार विमर्श होता है तथा उनकी अनुशंसाओं पर महासभा निर्णय लेती है।

महासभा को अपने कार्य-संचालन के लिए आवश्यकतानुसार समितियों तथा सहायक अंगों का गठन करने का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत महासभा ने 6 प्रकार की समितियों की स्थापना की है। जो निम्नलिखित रूप से हैं-

- (1) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति,
- (2) आर्थिक एवं वित्त समिति,
- (3) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति,

- (4) न्यास समिति,
- (5) प्रशासनिक एवं बजट समिति, तथा
- (6) कानूनी समिति।

उपर्युक्त समितियों द्वारा महासभा के विविध कार्यों का सम्पादन करती है।

10.3 महासभा के अधिकार और कार्य

महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ का एक प्रमुख एवं प्रभावशाली अंग है। संघ के चार्टर में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों में इसको प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। इसके अधिकार तथा कार्य प्रणाली बहुत व्यापक तथा विस्तृत है। चार्टर की धारा 10 से लेकर 17 तक इसके अधिकारों तथा कार्यों का उल्लेख है। महासभा के कार्यों तथा शक्तियों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है-

10.3.1 विचारात्मक कार्य- संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं का उद्देश्य महासभा के रूप में एक ऐसी संस्था का निर्माण करना था जहाँ विश्व-शांति से सम्बद्ध किसी भी विषय पर विचार किया जा सके। जैसा कि केल्सन ने लिखा है : “उनकी मंशा महासभा को ‘विश्व की नगर सभा’ या ‘मानव का उन्मुक्त अन्तःकरण’ बनाने की थी अर्थात् उसे आलोचना एवं विचार-विमर्श करने वाला अंग बनाना चाहते थे।” इसीलिए चार्टर के अन्तर्गत उसे विश्व-शांति से सम्बद्ध किसी भी विषय पर विचार-विमर्श करने के विस्तृत अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 10 में कहा गया है कि “महासभा घोषणा-पत्र के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले तथा उसके द्वारा स्थापित विभिन्न निकायों के अधिकारों एवं कृत्यों से सम्बद्ध सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती हैं तथा इसके सम्बद्ध में अपनी सिफारिश पेश कर सकती है।” इस प्रकार अनुच्छेद 10, महासभा को किसी विषय पर विचार-विमर्श करने का सामान्य अधिकार प्रदान करता है। इसके द्वारा उसे चार्टर के अन्तर्गत आने वाले सभी विषयों तथा संघ के अंगों से सम्बन्धित विषयों पर वाद-विवाद का अधिकार प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः इस अनुच्छेद की भाषा इतनी लचीली है कि इसकी आड़ में महासभा किसी भी प्रश्न पर वाद-विवाद कर सकती है। इस अनुच्छेद की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए केल्सन ने कहा था : “सम्भवतः कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय विषय ऐसा नहीं है जिस पर यह सभा विचार या सिफारिश नहीं कर सकती हो।”

शांति और सुव्यवरथा के गांगले गें गहराशा को व्यागक विचारात्मक अधिकार प्राप्त है। यद्यपि इस क्षेत्र में प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् को प्रदान किया गया है, लेकिन महासभा को यह अधिकार है कि वह शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सहयोग के सामान्य सिद्धान्त पर विचार कर सकता है तथा निर्णय लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद् के सदस्यों अथवा दोनों के पास ही सिफारिश कर सकती है। अनुच्छेद 11 में महासभा के इस अधिकार की चर्चा की गयी है। इस अनुच्छेद के अनुसार महासभा विश्व शांति और सुरक्षा को स्थापित करने के सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है। यह निःशस्त्रीकरण और शास्त्रों के नियन्त्रण पर भी विचार कर सकती है। इन सिद्धान्तों के विषय में वह संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों या सुरक्षा परिषद् या दोनों से सिफारिश कर सकती है। इस प्रकार विश्व शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने से सम्बन्धित कोई भी समस्या महासभा के समक्ष प्रस्तुत की जा सकती है।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि चार्टर के अन्तर्गत महासभा को निरोधात्मक या दंडात्मक कार्रवाई करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। उसका काम है, विचार-विमर्श करना और उससे सम्बन्धित सिफारिश करना।

10.3.2 निरीक्षणात्मक कार्य- महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ की केन्द्रीय संस्था है। अतः चार्टर के द्वारा इसे कुछ निरीक्षणात्मक कार्य प्रदान किये गये हैं। इस कार्य के अन्तर्गत महासभा को सुरक्षा परिषद्, तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य विभागों से रिपोर्ट प्राप्त करने एवं उस पर विचार कर अपना मत प्रकट करने का अधिकार प्राप्त है। चार्टर के 15 वें अनुच्छेद में महासभा को संघ के दूसरे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करेगी और उस पर विचार करेगी। इस प्रकार यह अनुच्छेद महासभा को संघ के दूसरे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करने तथा उस पर विचार करने के लिए अधिकृत करता है।

चार्टर के अनुच्छेद 13 के अनुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए महासभा प्रारम्भिक अध्ययन द्वारा जाँच पड़ताल की व्यवस्था कर सकती है, तथा इस विषय में अपनी सिफारिशों भी प्रस्तुत कर सकती है। अनुच्छेद 57 के अन्तर्गत अन्तः सरकारी समझौते द्वारा विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय

उत्तरदायित्वों से सम्पन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष माध्यम खोले जाने के लिए महासभा को आदेश देने का अधिकार दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् इनमें से किसी भी माध्यम के साथ समझौता करके उसे संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित बना सकती है। ऐसे समझौते के प्रति महासभा का अनुमोदन आवश्यक है। उसे इन माध्यमों की नीतियों और कृत्यों में समन्वय लाने के लिए सिफारिशें करने का अधिकार है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक परिषद् महासभा के अधीक्षण में कार्य करती है। इतना ही नहीं, न्यास परिषद् को भी महासभा के अधीक्षण में ही कार्य करना पड़ता है।

10.3.3 वित्तीय कार्य- महासभा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ की वित्तीय व्यवस्था से सम्बद्ध है। यह कार्य राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के परम्परागत धन-सम्बन्धी कार्यों से मिलता-जुलता है। अनुच्छेद 17 यह उपर्युक्त करता है संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट पर विचार करना तथा उसे स्वीकार करना महासभा का ही दायित्व है। इस प्रकार संघ की आर्थिक व्यवस्था का संचालन महासभा के पास चला जाता है। यह संघ के बजट को स्वीकार करती है और सदस्य राज्यों में व्यय-बँटवारा करती है। संघ का प्रत्येक अंग अपने अनुमानित खर्च का ब्यौरा या विवरण महासभा के समक्ष प्रस्तुत करता है। यह उस पर विचार करके यह निश्चित करती है कि किस अंग को खर्च के लिए कितना मिलना चाहिए। संघ का बजट पहले सचिवालय में तैयार होता है और इसके बाद उसे महासचिव की स्वीकृति मिलने पर महासभा के प्रशासन तथा बजट सलाहकार समिति के विचारार्थ भेज दिया जाता है। अड़ौं उसके प्रत्येक कार्यक्रम पर विचार के साथ विचार- विमर्श किया जाता है। इसके बाद अनुशंसाएँ स्वीकृत करके प्रारूप बजट को महासभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। अब महासभा की पाँचवीं समिति उस पर विचार करती है। इस प्रकार अन्तिम रूप से तैयार होने पर बजट को महासभा की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। संघ के बजट को स्वीकार करना महासभा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। वेन्डेनबोश तथा होगन के शब्दों में, “अपने इस अधिकार के चलते सम्पूर्ण संगठन के प्रशासन में महासभा की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है।”

10.3.4 संगठनात्मक कार्य- महासभा के पास निर्वाचन सम्बन्धी अनेक शक्तियाँ हैं। इस कार्य के अन्तर्गत वह दोहरे निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग करती है। सर्वप्रथम, महासभा सुरक्षा परिषद् की सलाह पर संघ में नये सदस्यों को सदस्यता प्रदान करती है। परन्तु संघ में महासभा की अनुमति पर तब तक प्रवेश सम्भव नहीं है जब तक सुरक्षा परिषद् का समर्थन नहीं प्राप्त हो जाता।

महासभा का दूसरा संगठनात्मक कार्य-संघ के अंगों के नियंत्रित सदस्यों के चयन से सम्बन्धित है। महासभा सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों का चुनाव करती है। नियंत्रित महासभा के दो-तिहाई मतों से होता है। इसके अलावा आर्थिक और सामाजिक परिषद् के गठन में महासभा का पूरा हाथ होता है।

10.3.5 संवैधानिक कार्य- अनुच्छेद 108 के अनुसार महासभा को चार्टर में संशोधन लाने की शक्ति प्रदान की गयी है। इसके अनुसार महासभा को सुरक्षा परिषद् के साथ मिलकर चार्टर पर विचार करने के लिए सामान्य सम्मेलन बुलाने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्मेलन द्वारा लाया गया कोई भी संशोधन दो-तिहाई सदस्यों द्वारा सांविधानिक प्रक्रिया से पारित होने पर लागू हो जाता है। चार्टर में संशोधन के सम्बन्ध में एक बात याद रखने योग्य है कि कोई भी संशोधन तब तक नहीं हो सकता जब तक उस पर सुरक्षा परिषद् की 5 स्थायी शक्तियों की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती। उनकी स्वीकृति के अभाव में महासभा के अनुमोदन का व्यवहार में कोई महत्व नहीं रहता है।

10.3.6 विविध कार्य- उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त महासभा को कठिपय अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार लाने हेतु अनेक प्रकार की अनुशंसा कर सकती है। इसमें वर्तमान संधियों में उपर्युक्त परिवर्तन करने की अनुशंसा भी शामिल है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जो संधियाँ हुई हैं उनमें परिवर्तन करने की अनुशंसा महासभा कर सकती है। अन्य अन्तरराष्ट्रीय समझौतों में उपर्युक्त परिवर्तन अथवा उन्हें खत्म करने की सिफारिश कर सकती है। राज्यों के वर्तमान सीमांतों में भी परिवर्तन करने की अनुशंसा महासभा के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है। महासभा का एक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास तथा संहिताकरण करना तथा मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं की रक्षा करना है। जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेद-भाव किये बिना सबको महान अधिकार और मूल स्वतन्त्रता सुलभ करने में सहायता प्रदान करना महासभा का कर्तव्य है।

10.4 शांति के लिए एकता प्रस्ताव

सुरक्षा परिषद के निषेधाधिकार से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने तथा सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का महासभा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सफल प्रयास 3 नवम्बर, 1950 का शांति के लिए एकता प्रस्ताव था। यह प्रस्ताव कोरिया युद्ध की पृष्ठभूमि

में पारित किया गया था। जून, 1950 ई. में सोवियत संघ समर्थक उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। साम्यवादी चीन भी उत्तरी कोरिया को मदद कर रहा था। इस समय साम्यवादी चीन की सुरक्षा के प्रश्न को लेकर सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् का बहिष्कार कर रखा था। उसका प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् के कार्यों में भाग नहीं ले रहा था। सोवियत संघ की अनुपस्थिति के कारण सुरक्षा परिषद् बड़ी तेजी से कार्य कर रही थी। वह उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सशस्त्र कार्रवाई प्रारम्भ करने में सफल हो रही थी। ऐसी परिस्थिति में सोवियत संघ ने बहिष्कार की नीति को त्वागने का निर्णय किया। उसने यह घोषणा की कि वह सुरक्षा परिषद् के सत्रों में भाग लेगा। सोवियत संघ की इस घोषणा से पश्चिमी राष्ट्र संबंध रह गये इससे यह आशंका उत्पन्न हो गयी कि सोवियत संघ अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की सशस्त्र कार्रवाई की प्रभावशीलता को नष्ट करने का प्रयत्न करेगा। अतः सोवियत संघ के अड़ंगेबाजी के विरुद्ध सुरक्षा के रूप में अमेरिका आदि 7 राष्ट्रों ने 9 अक्टूबर, 1950 को 'शांति के लिए एकता' की योजना प्रस्तुत की जिसे महासभा ने 3 नवम्बर, 1950 को स्वीकार कर लिया।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव की व्यवस्था इस प्रकार थी : "यदि सुरक्षा परिषद् अपने स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति के अभाव के कारण किसी भी मामले में जिसमें शांति के लिए संकट, शांति-भंग अथवा कोई आक्रामक कार्रवाई पड़ता है, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपनी प्राथमिक उत्तरदायित्व को पूरा करने में असफल हो जाती है, तब महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था को बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए सामूहिक कार्रवाई, आवश्यकता पड़ने पर शांति-भंग या आक्रामण कार्य के मामले में सशस्त्र बल-प्रयोग भी समिलित है, के सम्बन्ध में सदस्य के उचित सिफारिश करने के उद्देश्य से तुरन्त मामले पर विचार करेगी। यदि उस समय महासभा का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो तो 24 घंटे के भीतर उसका आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। ऐसा आपातकालीन विशेष अधिवेशन तभी बुलाया जायेगा यदि किन्हीं सात सदस्यों के मत से सुरक्षा परिषद् या संयुक्त राष्ट्र संघ का बहुमत ऐसा करने की प्रार्थना करे।"

इस प्रकार यह प्रस्ताव पारित करके पश्चिमी राष्ट्रों ने बड़ी चतुराई से कान लिया। बहुत ही सरलता से निषेधाधिकार के रोग से ग्रस्त सुरक्षा परिषद् से छुटकारा पा लिया। उसकी जगह महासभा को झक्किशाली बना दिया गया। इस प्रस्ताव के पारित होते ही महासभा ने तुरन्त अपने इस अधिकार का समुचित प्रयोग आरम्भ कर दिया। महासभा का अधिवेशन चल रही रहा था कि जिसमें उसने 1950 के अन्तिम दिनों में साम्यवादी चीन के, कोरिया के संघर्ष में हस्तक्षेप को रोकने में सफलता प्राप्त की।

1 फरवरी 1951 को गहाराणा ने राष्ट्रवादी चीन का डाक्टरगणकारी राष्ट्र घोषित कर दिया। 18 गर्द, 1951 ई. को गहाराणा ने साम्यवादी चीन के विरुद्ध सामूहिक आर्थिक कार्यवाही करने की सिफारिश की। सन् 1956 में जब इजरायल, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण किया तब महासभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया गया। मध्य-पूर्व में महासभा को बहुत सफलता मिली। यद्यपि इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का मत था कि महासभा की सफलता का कारण उसकी झक्किशाली सामूहिक कार्यवाही का प्रभाव नहीं था बल्कि सम्बन्धित राष्ट्रों की स्वयं की इच्छा थी जो अनेक कारणों से महासभा के इस आदेश के समने झुक गये कि वे संघर्ष समाप्त करके अपनी रोनाएँ वापस बुला लें। हंगरी के प्रश्न पर रान् 1956 में ही गहाराणा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया गया। उक्त अवसर पर भी सुरक्षा परिषद् का कार्य प्रभावित हो गया था। महासभा ने सोवियत संघ से हंगरी में हस्तक्षेप न करने का अनुरोध किया। महासभा के माध्यम से उक्त समस्या के प्रति विश्व लोकमत का ध्यान अवश्य ही आकर्षित हुआ। सन् 1958 में महासभा को शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव के अन्तर्गत पुनः अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए मध्य-पूर्व की समस्या पर विचार करना पड़ा। इस समय महासभा ने सामूहिक कार्यवाही के अन्तर्गत अपने प्रभाव का अप्रत्यक्ष उपयोग किया एवं महासचिव के सक्रिय सहयोग से शान्ति स्थापित हो सकी। 17 सितम्बर, 1960 को स्वयं सुरक्षा परिषद् ने महासभा का आपातकालीन अधिवेशन कांगो समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया। कांगो की समस्या जो महाशक्तियों के मध्य भयंकर शीत-युद्ध का कारण बन गयी थी, में महासभा के कारण बहुत कमी आई जिससे उसका महत्व बढ़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा की स्थिति को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया। इसने यह सम्भव बना दिया है कि यदि सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध पैदा हो जाता है, तो इस रिक्तता को महासभा अवश्य पूरी कर सकता। परिणाम स्वरूप इस बात की सम्भावना भी कम हो गयी है कि महाशक्तियाँ बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् को एकदम निष्क्रिय बनाकर अपना उल्लू सीधा करती रहें। महासभा में निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं है, अतः शांति के लिए एकता प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा अपने आपातकालीन अधिवेशन में समस्या पर विचार करती है। पामर तथा परकिन्स के

अनुसार “‘शांति के लिए एकता प्रस्ताव एक प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की दिशा में प्रगति का एक महान् सीमा-चिह्न है।’” यह संयुक्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को विकसित तथा कार्यान्वित करने का एक गंभीर प्रयास है। इसने चार्टर के बिना किसी औपचारिक संशोधन के संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त और व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

10.5 सारांश

महासभा के विभिन्न कार्यों तथा अधिकारों का विश्लेषण करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके अधिकार काफी व्यापक हैं परं चार्टर के द्वारा इन अधिकारों को काफी सीमित कर दिया गया है। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं का विचार था कि सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का प्रधान कार्यकारी अंग होगी और महासभा एक बाद-विवाद के मंच के रूप में कार्य करेगी। इसीलिए सुरक्षा परिषद् को बाध्यकारी शक्ति प्रदान की गयी जबकि महासभा को केवल सिफारिशें करने का अधिकार दिया गया। लेकिन कालांतर में परिस्थितियों के चलते यह स्थिति बदल गयी और महासभा का महत्त्व निरंतर बढ़ता गया और यह सुरक्षा परिषद् के निर्णयों के विरुद्ध एक अपीलीय संस्था के रूप में परिणत हो गयी। जैसा कि क्लॉड ने लिखा है “‘वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत एकमात्र राजनीतिक उत्तरदायित्व वहन करने वाली संस्था के रूप में महासभा ने सुरक्षा परिषद् की जगह अपने आपको पुनः स्थापित कर दिया है।’”

महासभा ने संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष आये महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर सक्रिय और प्रभावशाली निर्णय भी लिये हैं। इसने नकारात्मक और सकारात्मक दोनों दिशाओं में कार्य किया है। नकारात्मक कार्य के द्वारा इसने राजनीतिक आग बुझाने में मदद की है तथा सकारात्मक कार्यों के द्वारा इसने आग लगाने की गुंजाइश कम की है। महासभा में अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ों, आवास तक की सभी समस्याओं पर विचार होता है। अतः इसे विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण कहना ठीक ही होगा।

फिर भी यह याद रखना होगा कि अपनी कुछ अन्तर्निहित कमजोरियों के कारण महासभा की भूमिका काफी उत्साहवर्द्धक नहीं रही है। लम्बे समय तक महासभा की बैठकों में गुटीय भावनाओं का जाभास मिलता रहा है। कभी-कभी अफ्रीकन, अफ्रो-एशियन तथा लैटिन अमरीकन समूह नियमित रूप से मिलते हैं और अपनी समस्याओं पर गुटीय दृष्टि से विचार करते हैं। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का भी एक वर्ग बन गया है। अधिकांश मामलों में यह देखा गया कि अमरीका एवं यूरोपीय मित्र-राष्ट्र पश्चिम का साथ देते हैं एवं अपेक्षाकृत अफ्रीकन-एशियन आवश्यकताओं के प्रति कम उद्घार होते हैं जबकि साम्यवादी एवं कुछ अफ्रीकन-एशियन राष्ट्र उनके विरोध में रहे थे। क्लॉड ने महासभा की इस स्थिति की तुलना उस बच्चे से की है जिसने अधिक खाना खाकर अपनी पाचन-शक्ति खराब कर ली है।

अभ्यास प्रश्नावली

निवन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के संगठन, कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव का क्या महत्त्व है?
2. शान्ति सेना की व्याख्या करें?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र महासभा ने ‘शांति के लिए एकता प्रस्ताव’ कब स्वीकृत किया?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट कौन पारित करता है?
3. वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के कितने सदस्य हैं?

इकाई 11

सुरक्षा परिषद

संरचना

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 सुरक्षा परिषद का संगठन
 - 11.2.1 परिषद की कार्य प्रणाली
 - 11.2.2 परिषद का अध्यक्ष
 - 11.2.3 मतदान प्रणाली
- 11.3 सुरक्षा परिषद के कार्य एवं शक्तियाँ
- 11.4 सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार
 - 11.12.1 निषेधाधिकार का अर्थ एवं स्वरूप
 - 11.12.2 दोहरा निषेधाधिकार
 - 11.12.3 निषेधाधिकार का प्रयोग
- 11.5 सारांश

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे शक्तिशाली एवं विश्व का पुलिसमैन अंग सुरक्षा परिषद का संगठन और शक्तियों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- शान्ति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण समझ सकेंगे,
- निषेधाधिकार का महत्व एवं वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सुरक्षा परिषद के पुनर्गठन को लेकर जारी बहस का सार समझ सकेंगे,
- सुरक्षा परिषद की वर्तमान में प्रासांगिकता एवं महत्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

राष्ट्र संघ के अनुभवों ने संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं के मस्तिष्क में यह धारणा बना दी थी कि समूचे विश्व समुदाय में एक 'पांच महाशक्तियों का भी समुदाय' विद्यमान है, जिनकी मित्रता एवं मतैक्य पर ही विश्व की शांति एवं सुरक्षा कायम रह सकती है। फलतः डम्बार्टन ऑक्स सम्मेलन में इस तथ्य पर अत्यधिक बल दिया गया था कि एक ऐसे कार्यपालन अंग की स्थापना की जाये, जिसकी सदस्यता सीमित हो, जिसमें पांच बड़े राष्ट्रों को प्राथमिकता हो, जो विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा हेतु पुलिस दायित्व से सम्पन्न हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक सजग प्रहरी का कार्यभार ग्रहण कर सके, जिसका सत्र कभी समाप्त न हो और जो शान्ति के लिए संकट सिद्ध होने वाले, शान्ति भंग अथवा आक्रामक कृत्यों की विद्यमानता पर शीघ्र निर्णय लेकर उनके निराकरण के लिए तुरन्त एवं प्रभावी कारबाही करने में पूर्णतः सक्षम हो।

इस महान् दायित्व की पूर्ति के साधन के रूप में सुरक्षा परिषद की स्थापना की गयी है। इसीलिए संघ के घोषणा पत्र के अन्तर्गत विश्व शांति और सुरक्षा बनाये रखने का मुख्य दायित्व सुरक्षा परिषद पर ही डाला गया है। इस दृष्टिकोण से यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावकारी अंग है। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के संस्थापकों ने सुरक्षा परिषद को विश्व-समुदाय की शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का एक प्रभावी साधन बनाना चाहा था। इसीलिए इसे विश्व-समुदाय के सजग प्रहरी तथा विश्व शांति और सुव्यवस्था की रक्षा हेतु दायित्व से सम्पन्न किया गया था। अतः संघ का यही एकमात्र अंग है जिसे विश्व का पुलिसमैन की संज्ञा दी है।

11.2 सुरक्षा परिषद् का संगठन

चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद् एक ग्यारह सदस्यीय संस्था थी। उनमें से 5 स्थायी और 6 अस्थायी सदस्य थे। साम्यवादी चीन, फ्रांस, रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका इसके स्थायी सदस्य हैं और 6 अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा करती थी। 1965 में चार्टर में संशोधन करके सुरक्षा-परिषद् के संगठन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया गया। जिस समय संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी उस समय संघ के सदस्यों की संख्या सिर्फ 51 थी। परन्तु 1955 के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। ऐश्या और अफ्रीका के अनेक राज्य स्वतन्त्र होकर इसके सदस्य बन गये। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या में वृद्धि की जाए। 17 दिसम्बर, 1965 को महासभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके चार्टर में संशोधन करने की एक सिफारिश की जिसमें यह कहा गया था कि सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या ग्यारह से बढ़ाकर पन्द्रह कर दी जाए। इस प्रस्ताव के आधार पर सदस्य राज्यों के अनुमोदन के बाद चार्टर में संशोधन हो गया। इस संशोधन के अनुसार सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों की संख्या में तो कोई वृद्धि नहीं हुई, लेकिन अस्थायी सदस्यों की संख्या 10 हो गयी। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् की कुल सदस्य संख्या 15 हो गयी। अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से दो वर्ष के लिए करती है। सदस्यों का निर्वाचन करते समय महासभा संगठन के उद्देश्यों, अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के योगदान का तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता का ध्यान रखती है। जिस देश का कार्यकाल समाप्त हो जाता है, उसे उसी साल पुनः उम्मीदवार होने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महासभा के विपरीत संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद की सदस्यता सीमित कर दी गयी है। वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या 15 है जिसमें से 5 स्थायी सदस्य हैं एवं 10 अस्थायी सदस्य हैं।

11.2.1 परिषद् की कार्यप्रणाली- सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का विस्तार कार्य करने वाला निकाय है। यह स्थायी रूप से सत्र में रहती है। इसकी बैठक प्रत्येक पखवाड़े होती है। इसका संगठन इस प्रकार बनाया गया है कि वह लगातार काम करती रहे। इसीलिए प्रत्येक देश सुरक्षा परिषद् में अपना एक स्थायी सदस्य भेजता है। वह सदस्य स्थायी रूप से न्यूयार्क में रहता है, जिससे आवश्यकतानुसार तुरन्त बैठक बुलाई जा सके। परिणामस्वरूप यह आवश्यकतानुसार तुरन्त कार्य करने के लिए तैयार रहती है। बैठक अध्यक्ष के द्वारा बुलायी जाती है। सुरक्षा परिषद् के किसी सदस्य की नाँग पर अथवा महासभा द्वारा किसी विवाद की ओर परिषद् का ध्यान आकर्षित किये जाने पर इसकी बैठक बुलायी जाती है। यदि महासचिव यह सूचित करे कि उसके विचार में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ने की सम्भावना है तो उस स्थिति पर विचार करने के लिए भी परिषद् की बैठक बुलायी जा सकती है। परिषद् की बैठक सामान्यतः संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में होती है, पर आवश्यकता पड़ने पर किसी ऐसे स्थान पर जहाँ संकट का केन्द्र हो, इसकी बैठक हो सकती है। इस तरह की एक बैठक इथोपिया की राजधानी आदिसअबाबा में हुई थी।

परिषद् के सदस्य-देशों के प्रतिनिधि तो उसकी बैठक में भाग लेते ही हैं। उन देशों के प्रतिनिधि भी जो उसके सदस्य नहीं हैं, कुछ विशेष परिस्थितियों में उसकी बैठकों में भाग ले सकते हैं। धारा 31 के अनुसार यदि सुरक्षा परिषद् यह विचार करे कि संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी ऐसे सदस्य का हित विशेष रूप से प्रभावित हो रहा हो जो उसका सदस्य नहीं है तो वह बैठक में भाग ले सकता है। पर, ऐसे सदस्य राज्य को मत देने का अधिकार नहीं होता। धारा 32 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य, जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है अथवा वैसा राज्य, जो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं हो, यदि किसी विवाद से सम्बद्ध हो तथा उस पर सुरक्षा परिषद् में विचार-विमर्श किया जा रहा हो तो उसे विशेष रूप से उस विवाद से सम्बद्ध विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता है। ईरान व सोवियत संघ के संघर्ष में ईरान को तथा कश्मीर के प्रश्न पर भारत एवं पाकिस्तान को आमंत्रित किया गया था।

11.2.2 परिषद् का अध्यक्ष- सुरक्षा परिषद् का एक अध्यक्ष होता है जो इसकी बैठक का संचालन करता है। इस पर परिषद् के सदस्य बारी-बारी से एक-एक महीने के लिए अपने देश के नाम के प्रथम अक्षर (अंग्रेजी वर्णमाला) के क्रमानुसार आसीन होते हैं। अध्यक्ष सभा की कार्रवाइयों को संचालित करता है, किसी मामले को परिषद् को समिति में विचारार्थ भेजता है तथा आदेश जारी करता है। यद्यपि अध्यक्ष का पद विशेष महत्व का नहीं होता किन्तु मतदान के पूर्व सदस्य राज्यों तथा विवादग्रस्त पक्षों से अनौपचारिक वार्ताओं में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कभी-कभी उसे राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

11.2.3 मतदान प्रणाली- सुरक्षा परिषद् की मतदान-व्यवस्था बड़ी महत्वपूर्ण है। चार्टर का 27 वाँ अनुच्छेद इस व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। पर स्थिति इतनी साधारण नहीं है। परिषद् के कार्यक्रम को दो भागों में बाँटा गया है—प्रक्रिया सम्बन्धी तथा अन्य अभ्यास प्रश्नावलीों पर। प्रक्रिया-सम्बन्धी बातों में परिषद् के किन्हीं 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आने से प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है। अन्य सभी मामलों में कम-से-कम 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों में 5 स्थायी सदस्यों का स्वीकारात्मक मत अनिवार्य है। इन 5 स्थायी सदस्यों में से यदि कोई भी अपनी असहमति प्रकट करे और अपना मत प्रस्ताव के विरुद्ध दे दे तो वह प्रस्ताव अस्वीकृत समझा जायेगा। इस उपबन्ध के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की प्रत्येक स्थायी शक्ति को निषेधाधिकार प्राप्त हो गया है।

11.3 सुरक्षा परिषद् के कार्य एवं शक्तियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई है। धारा 24 के अन्तर्गत सदस्य राज्यों ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद् उनके बदले में कार्य करेगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परिषद् मनमाने ढंग से कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। वास्तव में, सुरक्षा परिषद् अपने कार्यों के निर्वहन में संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिए बाधित है। यदि उसके कार्य संघ के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो तो सदस्य-राज्य उसकी अवज्ञा कर सकते हैं अन्यथा वे धारा 25 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानने तथा कार्यान्वित करने को बाध्य है। सारांश, यह कि सुरक्षा परिषद् की शक्तियों के सम्बद्ध में सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व-शान्ति की रक्षा सभी राष्ट्रों का संयुक्त उत्तरदायित्व है, और इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए वे संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में संयुक्त रूप से कार्य करते हैं। इस सम्बन्ध में नेतृत्व और निर्णय का मुख्य भार सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है। इस दृष्टिकोण से सुरक्षा परिषद् की स्थिति संघ के सभी अंगों में सबसे अधिक शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण हो जाती है। ई.पी. चेज ने ठीक ही लिखा है : “सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो या शान्ति कार्य, संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों या न कर रहे हों, साल का कोई भी समय हो या कैसा ही मौसम हों, सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती ही रहती है।”

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की धारा 24, 25 और 26 में सुरक्षा परिषद् के कार्यों और शक्तियों का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में, हम उन्हें निम्नलिखित ढंग से निरूपित कर सकते हैं—

- (1) संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना,
- (2) ऐसे किसी भी विवाद अथवा स्थिति के बारे में जाँच-पड़ताल करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होने का खतरा हो,
- (3) संघर्षों के निपटारे के लिए उपायों या समझौते की शर्तों की सिफारिश करना,
- (4) हथियारों के नियम की व्यवस्था के बारे में योजनाएँ तैयार करना,
- (5) शान्ति के लिए खतरा अथवा आक्रामक कार्रवाई की स्थिति को निश्चित करना तथा उसके सम्बन्ध में क्या कदम उठाए जाएँ इसकी सिफारिश करना,
- (6) आक्रमण को रोकने अथवा बन्द करने के लिए सदस्य-राज्यों से आर्थिक अनुशक्ति तथा अन्य उपायों, जिनमें बल प्रयोग नहीं शामिल हो, लागू करने का अनुरोध करना,
- (7) किसी राष्ट्र के आक्रमण के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करना,
- (8) नये सदस्य बनाना, निलम्बित करना एवं निष्कासित करना,
- (9) उन शर्तों का निर्धारण, जिनमें कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि का पक्ष हो सकता है,
- (10) सैनिक महत्व के क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यास कार्यों को लागू करना,
- (11) महासचिव की नियुक्ति के लिए महासभा से सिफारिश करना तथा उससे मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करना, तथा
- (12) महासभा के समक्ष वार्षिक तथा विशिष्ट प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुरक्षा परिषद् को काफी व्यापक अधिकार तथा दायित्व प्रदान किये गये हैं। इन दायित्वों को निभाने के लिए परिषद् को चार्टर के अध्याय 6,7,8 और 12 में विशेष शक्तियाँ दी गयी हैं। अध्याय 6 विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान से सम्बन्धित है जिसमें 33 से 48 तक के अनुच्छेद सम्मिलित हैं। अध्याय 7 शान्ति को संकट में डालने वाली, शान्ति भंग और आक्रमण की चेष्टाओं के बारे में कार्रवाई से सम्बन्धित है, इसमें 39 से 51 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय 8 प्रादेशिक प्रबन्ध से सम्बन्धित है, जिसमें 52 से 54 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय 12, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-पद्धति की चर्चा करता है और इसमें सुरक्षा परिषद् के विभिन्न न्याय सम्बन्धी अधिकार सम्मिलित हैं।

11.4 सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान याल्टा शिखर सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने सबसे पहले निषेधाधिकार का प्रस्ताव रखा था। स्टालिन तथा चर्चिल ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था। बाद में सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भी मतदान प्रक्रिया पर विचार-विमर्श के क्रम में चारों महाशक्तियाँ इस पर एकमत रहीं। रूज़वेल्ट का विचार था कि यदि स्थायी शांति की खोज करनी है और संयुक्त राष्ट्र को सफल बनाना है तो यह कार्य महाशक्तियों के एक साथ सहयोगपूर्वक रहने से ही पूरा हो सकेगा। रूज़वेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत संघ तथा अमेरिका जैसे बड़े राष्ट्रों के लिए एक ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं है, जिसमें अन्य राष्ट्र केवल बहुमत के बल पर ही महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर दें। विशेषकर अमरीकी सीनेट किसी भी स्थिति में वैसे चार्टर की अभिपुष्टि नहीं करती, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी निर्णय को मानने के लिए बाध्य किया जाता हो। सोवियत संघ को भी राष्ट्र संघ का अप्रिय एवं अपमानजनक अनुभव था क्योंकि उसे राष्ट्र संघ से निष्कासित किया गया था। बिना 'वीटो के अधिकार' के वह संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल नहीं होता। अतः सभी महाशक्तियों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान करने के लिए निषेधाधिकार या वीटो की अनिवार्य आवश्यकता थी। ऐतिहासिक एवं यथार्थवादी कारणों से भी यहाँ शक्तियों को वीटो का अधिकार प्रदान किया जाना आवश्यक था। राष्ट्र संघ के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी भी महाशक्ति की इच्छा के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। अतः यह अनुभव किया गया कि यदि सभी महाशक्तियों की सहमति से निर्णय लिया गया तो उसकी सफलता बहुत निश्चित होगी। वैसे भी चौंक शांति और सुरक्षा बनाये रखने का सारा भार महाशक्तियों को ही उठाना था। अतः उन्हें ऐसे कार्य के लिए विचार नहीं किया जाना चाहिए था जिससे वे सहमत न हो। उनके दायित्वों के अनुकूल विशेषाधिकारों की प्राप्ति आवश्यक थी।

सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन में महाशक्तियों के विरुद्ध अनुभव ने यह चेतावनी दिए जाने पर कि वे किसी भी ऐसे संगठन में शामिल नहीं होगी जिसमें उनको निषेधाधिकार प्रदान न किया गया हो— या तो वे निषेधाधिकार युक्त चार्टर को स्वीकार करेंगी अथवा किसी भी चार्टर को स्वीकार नहीं करेंगी। इस पर छोटे राष्ट्रों ने बाध्य होकर निषेधाधिकार युक्त चार्टर स्वीकार कर लिया।

11.12.1 निषेधाधिकार का अर्थ एवं स्वरूप- वीटो या निषेधाधिकार शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है जिसे अंग्रेजी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में व्यापक सम्मिलित कर लिया गया है। इसका शब्दार्थ है “मैं मना करता हूँ।”

चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली का वर्णन है। इसमें कहा गया है कि सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मत प्राप्त होगा। इस प्रकार ऐसा लगता है कि संयुक्त राष्ट्र का चार्टर सब सदस्यों की समान प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु वास्तव में यह केवल दिखावे के लिए है। सुरक्षा सम्बन्धी प्रबन्धों की व्यवस्था करते समय महाशक्तियों के विशेष अधिकारों को प्रभावशाली शब्दों में स्वीकार किया गया है। जैसा कि धारा 27 में आगे कहा गया है कि प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों पर निर्णय नौ स्वीकारात्मक मतों से लिए जायेंगे। परन्तु यदि विषय महत्वपूर्ण है तो नौ सदस्यों के स्वीकारात्मक मत में पाँच स्थायी सदस्यों के सहमति मत का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई स्थायी सदस्य किसी महत्वपूर्ण विषय पर असहमति प्रकट करता है या उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग करता है तो उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है। परिषद् की बैठक में किसी स्थायी सदस्य की अनुपस्थिति को वीटो या निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं माना जाता। स्पष्ट है कि जहाँ तक प्रक्रियात्मक विषयों का सम्बन्ध है वहाँ स्थायी और अस्थायी सदस्यों के मतों का समान मूल्य है परन्तु महत्वपूर्ण विषयों पर स्थायी सदस्यों के मत का महत्व निर्णयक भी माना जाता है।

11.12.2 दोहरा निषेधाधिकार- संयुक्त राष्ट्र चार्टर 'प्रक्रिया सम्बन्धी' तथा 'महत्वपूर्ण विषयों' में अन्तर करता है परन्तु उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं करता है। प्रक्रिया सम्बन्धी मामले के अतिरिक्त किसी भी विषय में निर्णय के समय महाशक्तियों (स्थायी सदस्यों) में से

कोई भी नकारात्मक मत प्रदान कर सकता है और इस प्रकार परिषद् को निर्णय लेने से रोक सकता है। यह शक्ति पहले बीटो या निषेधाधिकार की शक्ति कहलाती है। दूसरे बीटो का प्रश्न उस समय उठता है जबकि सुरक्षा परिषद् को यह तय करना होता है कि कोई विषय प्रक्रिया सम्बन्धी है या नहीं? चूंकि यह प्रश्न कि कोई विषय प्रक्रिया सम्बन्धी है अथवा नहीं एक कार्य विधिक प्रश्न नहीं है अतः इस पर निर्णय लेते वक्त 9 सदस्यों के मत अनिवार्य है, जिनमें 5 स्थायी सदस्यों के मत भी सम्मिलित होते हैं। उस प्रश्न के निर्धारण में स्थायी सदस्य दूसरे बीटो का प्रयोग कर सकते हैं। संक्षेप में, इन प्रावधानों के कारण ऐसा कहा जाता है कि दोहरी बीटो की शक्ति के कारण महाशक्तियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा वे सुरक्षा परिषद् की किसी भी कार्यवाही को रद्द करवा सकती हैं।

11.12.3 निषेधाधिकार का प्रयोग- इस संस्था के संस्थापकों का यह पूरा विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत महा शक्तियाँ अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए सहयोग से काम करेंगी क्योंकि युद्ध के समय उन्होंने सहयोग से काम किया था। परन्तु शीघ्र ही उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। चार्टर के निर्माण के शीघ्र ही बाद निषेधाधिकार का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया गया। सोवियत संघ ने 16 फरवरी, 1946 को पहली बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया। लेबनान तथा सीरिया ने अपने देशों से ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी सेना हटाये जाने का आग्रह किया था। अमरीका का प्रस्ताव था कि सेनाएं शीघ्र न हटायी जायें। सोवियत संघ चाहता था कि सेनाएं तुरन्त हटा ली जायें। इसलिए सोवियत संघ ने अमरीकी प्रस्ताव को बीटो द्वारा निरस्त कर दिया। दिसम्बर, 1946 में महासभा की बैठक होने के समय तक आठ बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया गया। उनमें से चार तो सिर्फ स्पेन के प्रश्न पर प्रयुक्त किए गए थे और चार नये सदस्यों के प्रवेश के प्रश्न पर। सन् 1945 से 1947 के बीच के दो वर्षों की अवधि में 23 बार बीटो या निषेधाधिकार का प्रयोग किया गया। वैसे देखने पर निषेधाधिकार का सबसे अधिक प्रयोग अकेले सोवियत रूस ने किया है। नवम्बर, 1968 तक सोवियत संघ ने 105 बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में केवल सोवियत संघ ही सुरक्षा परिषद् का ऐसा स्थायी सदस्य नहीं है जिसने निषेधाधिकार का प्रयोग किया है। ब्रिटेन फ्रांस अमरीका तथा राष्ट्रवादी चीन ने भी इस अधिकार का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, सन् 1946 तथा 1947 की अवधि में परिषद् में गैर-कारबाई विषयों पर 165 बार मतदान हुए। इसमें 23 बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया गया, जिसमें 21 बार सोवियत संघ ने तथा फ्रांस ने दो बार किया। पर, इसी अवधि में संयुक्त राज्य अमरीका ने 34 बार, ब्रिटेन ने 29 बार, फ्रांस ने 23 बार तथा चीन ने 27 बार निषेधात्मक मत दिए। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया कि एक विषय पर कई बार मतदान कराकर निषेधाधिकार का हर बार प्रयोग करने को बाध्य किया गया। उदाहरणार्थ, दिसम्बर 1947 में भारत, पाकिस्तान रांघर्ष के गांगले पर 24 घंटे के भीतर ही योनिभ्रत संघ को दो या तीन बार निषेधाधिकार का प्रयोग करने को बिबरण होना पड़ा। शीत युद्ध की समाप्ति के पूर्व तक 279 बार 'बीटो' का प्रयोग किया जा चुका था। परन्तु शीत युद्ध की समाप्ति के बाद विशेषकर मई 1990 के बाद 'बीटो' का प्रयोग नहीं किया जा रहा है।

क्या बीटो के बार-बार प्रयोग के लिए पूर्व सोवियत संघ को दोषी ठहराना तर्क संगत है? यह सच है कि अब तक पूर्व सोवियत संघ ने ही सबसे अधिक बार बीटो का प्रयोग किया परन्तु इसके साथ सोवियत संघ की कठिनाइयों को भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए। पूर्व सोवियत संघ किसी भी दशा में अपनी बीटो शक्ति के द्वारा संयुक्त राष्ट्र को पंगु नहीं बनाना चाहता था। क्योंकि इसकी स्थापना में उसकी प्रमुख भूमिका थी। पश्चिमी राष्ट्रों ने यदि प्रारम्भ से ही सोवियत संघ को विश्वास में लेकर कार्य करना प्रारम्भ किया होता तो सोवियत संघ के बीटो के कारण अभ्यास प्रश्नावली अनिर्णीत नहीं रह पाते। संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं की यह इच्छा कभी नहीं थी कि इस संगठन को पश्चिमी राष्ट्रों के हित-साधन का एक माध्यम समझ लिया जायेगा। अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र पर अपना अधिकार यह कहकर बनाये रखने का प्रयास किया है कि वह संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश व्यय का भार वहन करता है। कुछ आलोचकों का मत है कि अमरीका तथा उनके मित्र-राष्ट्र अपना आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक प्रभाव बढ़ाने के लिए संयुक्त राष्ट्र का खुलकर प्रयोग करने लगे। इसलिए सोवियत संघ को बार-बार बीटो का प्रयोग करना पड़ा। वस्तुतः सुरक्षा परिषद् में बीटो का प्रयोग शीत-युद्ध का दूसरा रूप था। सन् 1991 के बाद पूर्व सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् सुरक्षा परिषद् में 'बीटो' या निषेधाधिकार का प्रयोग अत्यल्प हो गया है। साम्यवादी चीन तथा रूस ने भी 'बीटो' का प्रयोग नहीं किया है।

11.5 सारांश

सुरक्षा परिषद् के संगठन और कार्यों के अध्ययन के बाद वह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि विश्व संस्था के संस्थापकों ने इसे विश्व समुदाय की शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का एक प्रभावी साधन बनाना चाहा था। इसीलिए संघ के कार्यकारी और

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में परिषद् की रचना की गयी तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने का मुख्य दायित्व परिषद् पर ही डाला गया। यह विश्व-समुदाय के लिए एक सजग प्रहरी के रूप में काम कर सके, इसके लिए इसे आरक्षी दायित्व से सम्पन्न किया गया। विश्व के किसी भी कोने में होने वाला अन्तर्राष्ट्रीय विवाद इसके सामने लाया जा सकता है। इसका सत्र कभी समाप्त नहीं होता। कोई भी अन्तर्राज्य विवाद युद्ध का रूप न ले ले और युद्ध शुरू हो जाने पर जल्द से जल्द उसे खत्म करने के हेतु उसे प्रभावी तथा व्यापक निरोधात्मक कार्रवाई करने के अधिकार दिये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी प्रधान अंगों में सिर्फ़ इसे ही निर्णय लेने का अधिकार है। पर, मात्र अधिकार दे देने से ही कोई संस्था पूर्णतया प्रभावी नहीं हो सकती। यह बहुत कुछ उसके कार्यकरण पर निर्भर करता है। सुरक्षा परिषद् के सम्बन्ध में भी यह बात पूर्णतया सत्य है। चार्टर के द्वारा उसे सारे अधिकारों से विभूषित किया गया है किन्तु व्यवहार में वह उन अधिकारों के प्रयोग में सक्षम नहीं हो पायी है। लगभग सभी यह स्वीकार करते हैं कि सुरक्षा परिषद् अपने निर्माताओं की आशाएँ पूरी नहीं कर सकी हैं, क्योंकि महाशक्तियों ने सुरक्षा परिषद् को अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए औजार की तरह प्रयोग किया है। इनकी इच्छा के विपरीत किसी भी तरह का निर्णय वहां सम्भव नहीं है जिससे वह स्पष्ट हो जाता है कि सुरक्षा परिषद् का निर्णय बीटो सम्पन्न राष्ट्रों का निर्णय है। इस तरह से बीटो की व्यवस्था ने सुरक्षा परिषद् की भूमिका को प्रभावहीन बनाया है। ऐसी स्थिति में, संयुक्त राष्ट्र की महासभा का प्रभाव बढ़ना एक अनिवार्य तथ्य हो गया है। महासभा के पास भी कोई स्पष्ट शक्ति तो नहीं है परन्तु वह विश्व की संसद का स्वरूप धारण करतो जा रही है। 3 नवम्बर, 1950 के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है। संक्षेप में, महासभा का बढ़ता हुआ महत्त्व सुरक्षा परिषद् की भूमिका के हास का कारण माना जा सकता है।

फिर भी शान्ति और सुव्यवस्था के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद् की भूमिका उत्साहवर्धक रही है। कोरिया, कांगो, अरब-इजरायल, भारत-पाक, हिन्द चीन और खाड़ी युद्ध के समाधान करने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के गठन, कार्य प्रणाली तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के कार्यों का वर्णन कीजिए और सुरक्षा परिषद् के साथ उसके सम्बन्धों का निरूपण कीजिए।
3. विश्व शान्ति बनाए रखने के सम्बन्ध में साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् की शक्तियों में आप क्या अन्तर कर सकते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निषेधाधिकार शक्ति क्या है? संयुक्त राष्ट्र गें यह किरो प्राप्त है?
2. चार्टर में व्यक्त विश्व शांति बनाए रखने (स्थापित करने) की भूमिका निभाने में सुरक्षा परिषद् अधिक प्रभावशाली क्यों नहीं हो सकीं?
3. महासभा और सुरक्षा परिषद् के फैसलों में मुख्य अन्तर क्या होता है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सुरक्षा परिषद् में कितने सदस्य होते हैं?
2. दोहरा निषेधाधिकार से क्या तात्पर्य है?
3. सबसे पहले निषेधाधिकार का प्रयोग कब तथा किसने किया?
4. आजकल संयुक्त राष्ट्र संघ के किस अंग की सदस्यता में वृद्धि की मांग की जा रही है?

न्यासपरिषद् : संगठन एवं भूमिका

संरचना

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 न्यास परिषद् का संगठन
- 12.3 न्यास परिषद् के उद्देश्य
- 12.4 न्यास परिषद् के प्रदेश
- 12.5 न्यास परिषद् की कार्यप्रणाली
- 12.6 न्यास परिषद् के अधिकार और कार्य
 - 12.6.1 वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार
 - 12.6.2 प्रार्थना-पत्रों का परीक्षण
 - 12.6.3 निरीक्षण मण्डल भेजने का अधिकार
- 12.7 न्यास व्यवस्था तथा मैण्डेट व्यवस्था : तुलना
- 12.8 सारांश

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत न्यास परिषद् की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं इसके संगठन एवं कार्यों का उल्लेख किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- न्यास परिषद् के उद्भव का कारण समझ सकेंगे,
- न्यास परिषद् के उद्देश्यों और जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- न्यास व्यवस्था तथा मैण्डेट व्यवस्था का तुलनात्मक विश्लेषण समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

यूरोपीय औपनिवेशिक राष्ट्रों ने 20 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विशाल भूखण्डों पर अपना क्रूरतम शासन स्थापित कर रखा था। इन पराधीन क्षेत्रों के लोगों के साथ बहुत अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन पराधीन प्रदेशों के लोगों ने अपने-अपने क्षेत्रों में 'आत्म-निर्णय' के अधिकार की मांग की और स्वशासन की प्राप्ति के लिए मुक्ति आन्दोलन प्रारम्भ किया। वर्साय सन्धि के पश्चात् इस धारणा में आमूल परिवर्तन हुआ कि उपनिवेश केवल साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शक्तियों के हितों के लिए विद्यमान है। सिद्धान्त रूप में, यह कहा जाने लगा कि उपनिवेशों को अन्ततः स्वशासन प्रदान किया जायगा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्र संघ की मैण्डेट पद्धति में यह सिद्धान्त अन्तर्निहित था। जब द्वितीय विश्व युद्ध चल ही रहा था तभी मित्र राष्ट्रों ने 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह सर्वविदित है कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय एक ओर पश्चिमी यूरोप के अधिकांश एशियाई उपनिवेशों पर जापान ने अधिकार कर लिया था और उसने पूर्वी एशिया एवं प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर ली थी, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका अत्यन्त चिन्तित हो गया था तो दूसरी ओर एशिया के अधिकांश पराधीन देशों के लोग जागृत हो चुके थे और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में अमरीका के लिए इन पराधीन क्षेत्रों को स्वाधीनता का आश्वासन देना अत्यावश्यक हो गया। अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने पराधीन लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया,

परन्तु ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल साम्राज्यवाद का राग ही अलापते रहे और उपनिवेशवाद की समाप्ति से पीछे नहीं हटा। जब संयुक्त राष्ट्र से चार्टर का प्रारूप तैयार हो रहा था, उससे बहुत पहले ही भावो संगठन सम्बन्धी, अमरीकी प्रारूप 14 जुलाई, 1943 को प्रकाशित हो चुका था। उक्त प्रारूप के अनुच्छेद 12 में कहा गया था : “ऐसे पराधीन क्षेत्रों में जहां के लोग अभी पूरी तरह स्वशासन प्राप्त नहीं कर सके हैं, ‘न्यास पद्धति’ का सिद्धान्त लागू किया जायेगा, जिसके अन्तर्गत स्थानीय लोगों के हितों को सर्वोपरि मानकर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में रखा जाएगा। इस पद्धति का अन्तिम उद्देश्य यह होगा कि इन पराधीन क्षेत्रों के लोग राजनीतिक परिपक्वता प्राप्त कर सकेंगे और आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों का शासन-भार स्वयं ग्रहण करेंगे।”

12.2 न्यास परिषद् का संगठन

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अध्याय 12 में अनुच्छेद 75 से 85 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था का और अध्याय 13 में अनुच्छेद 86 से 91 तक न्यास परिषद् की रचना, शक्तियों, कार्यविधियों आदि का उल्लेख किया गया है। पहले राष्ट्र संघ में संरक्षण व्यवस्था थी और अब इसके स्थान पर इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती न्यास व्यवस्था अपनाई गई है। इस परिषद् में संघ के निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं-

- (1) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य चाहे, वे न्यास प्रदेश पर प्रशासन करते हैं अथवा नहीं।
- (2) संयुक्त राष्ट्र संघ के वे सदस्य जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हों, एवं
- (3) महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित उन्नें सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास-प्रदेशों पर शासन करने वाले और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

12.3 न्यास परिषद् के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 76 में न्यास परिषद् के उद्देश्य का विश्लेषण किया गया है, जो निम्नलिखित रूप से है -

- (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देना,
- (2) संरक्षित प्रदेशों के मनुष्यों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में योग देना तथा स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता के क्रमिक विकास को प्रोत्साहन देना,
- (3) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव के बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान बढ़ाना,
- (4) सामाजिक, आर्थिक तथा वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों एवं उनके प्रजाजनों के लिए समानता के व्यवहार का आश्वासन देना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा एक सामान्य आदेश जारी किया गया कि पराधीन क्षेत्रों पर शासन करने वाले सभी सदस्य-राज्य, चाहे वे संरक्षण पद्धति के अधीन हों या न हों, इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें कि इन क्षेत्रों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं और इसलिए वे इन प्रदेशों की उन्नति, न्याय, स्वतन्त्रता, स्वशासन, शान्ति, सुरक्षा, विकास, खोज, सहयोग, अच्छे पड़ोस आदि की भावनाओं को प्रोत्साहन दें और सुरक्षात्मक व वैधानिक प्रयोजनों की दृष्टि से आवश्यक परिमिति का ध्यान रखते हुए महासचिव के समक्ष आवश्यक तथ्यों को प्रस्तुत करें। इस प्रकार न्यास प्रणाली राष्ट्र संघ की समाजा पद्धति से भिन्न एक नवीन व्यवस्था है।

12.4 न्यास पद्धति के प्रदेश

न्यास पद्धति का क्षेत्र मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। यह व्यवस्था केवल उन उपनिवेशों तक सीमित थी, जो शान्त राज्यों से छीने गये थे, परन्तु न्यास पद्धति सभी पराधीन देशों से सम्बन्ध रखती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी पराधीन देशों और उपनिवेशों को दो बर्गों में विभाजित किया गया है : (1) अ-स्वशासित प्रदेश तथा (2) संरक्षित प्रदेश।

अ-स्वशासित प्रदेश में वे सब पराधीन देश और उपनिवेश आते हैं, जो संरक्षित प्रदेश न बना दिए गए हों। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में शासक देशों से क्षेत्र के लोगों के हित को सर्वोपरि मानकर कार्य करने को कहा गया है। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र के महासचिव को उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं शिक्षा सम्बन्धी स्थितियों के सम्बन्ध में सूचना देने को कहा गया है, परन्तु इसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में नहीं की गयी है।

संरक्षण प्रदेश के अन्तर्गत वे प्रदेश आते हैं जो न्यास-समझौते के द्वारा संरक्षित प्रदेश बना दिये जाते हैं। ये समझौते सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं, पर उन पर महासभा की स्वीकृति आवश्यक होती है। निम्नलिखित तीन प्रकार के प्रदेश संरक्षित बनाये जा सकते हैं-

- (1) मैण्डेट व्यवस्था के अधीन प्रदेश,
- (2) द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से छीने गये प्रदेश, तथा
- (3) ऐसे प्रदेश, जिन्हें उनके शासन के लिए उत्तरदायी राज्यों द्वारा स्वतः इस व्यवस्था के अन्तर्गत रख दिया गया हो।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत आरम्भ में निम्नलिखित 11 प्रदेश थे।

न्यास प्रदेश	प्रशासक देश
1. न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया
2. रूआण्डा-उरुण्डी	बेल्जियम
3. फ्रेंज कैमरून	फ्रांस
4. फ्रेंच टोगोलैण्ड	फ्रांस
5. पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड
6. टांगानिका	ग्रेट ब्रिटेन
7. ब्रिटिश कैमरून	ग्रेट ब्रिटेन
8. ब्रिटिश टोगोलैण्ड	ग्रेट ब्रिटेन
9. नीरू	आस्ट्रेलिया
10. प्रशान्त महासागर के द्वीपों का न्यास प्रदेश	संयुक्त राज्य अमरीका
11. सुमालीलैण्ड	इटली

इनमें से अधिकांश प्रदेश स्वतन्त्र हो गये हैं।

12.5 न्यास परिषद् की कार्य प्रणाली

चार्टर की धारा 9 में संरक्षण परिषद् की भत्तान प्रणाली का उल्लेख है। इसके अनुसार परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक वोट होगा। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित तथा घर देने वाले सदस्यों के बहुमत से किये जायेंगे। न्यास परिषद् अपनी कार्यविधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने का ही वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती हैं। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक भी बुलायी जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओं से सहायता ले सकती है।

12.6 न्यास परिषद् के अधिकार और कार्य

चार्टर, न्यास परिषद् को संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिष्ठित करता है। परन्तु आर्थिक और सामाजिक परिषद् की भाँति, यह महासभा के अधीन है। यह महासभा के लिए गैर-सामाजिक न्यास क्षेत्रों की और सुरक्षा परिषद् के लिए सामरिक न्यास क्षेत्रों की देखरेख करती है। एक दृष्टि से यह आर्थिक और सामाजिक परिषद् से भी शक्तिहीन है। जहाँ आर्थिक और सामाजिक परिषद् अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों के सम्बन्ध में उद्घोषणाएँ कर सकती हैं और कुछ परिस्थितियों में वे कानून का रूप भी दे सकती हैं। वहाँ न्यास परिषद् अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों के सम्बन्ध में महासभा को केवल सिफारिशें कर सकती है। अतः यह मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करती है, जिनका विवरण निम्नलिखित प्रकार से हैं -

12.6.1 आर्थिक प्रतिवेदनों पर विचार करना - संरक्षित प्रदेशों पर शासन करने वाले प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह संरक्षित प्रदेश के निवासियों के राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और शैक्षणिक विकास के सम्बन्ध में किये गये कार्यों की विस्तृत सूचना प्रतिवर्ष न्यास परिषद् को भेजे। न्यास परिषद् उस प्रतिवेदन पर विचार करती है। प्रतिवेदन पर विचार करते समय प्रशासकीय

राज्य का प्रतिनिधि परिषद् के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उपस्थित रहता है। इसके बाद वह सिफारिशों सहित यह प्रतिवेदन महासभा को देती है। लियोनार्ड का मत है कि “यह प्रश्नावली एक वास्तविक रूप से विलक्षण लेखा है और एक संरक्षित प्रदेश के प्रशासन चलाने में जो समस्याएँ आती हैं, इसमें उनका अत्यन्त गहन विश्लेषण किया गया है और इसके कारण प्रशासनकर्ता अधिकारियों पर अपने प्रशासन-कार्यों की जाँच करने व उनका अर्थ निकालने का पूर्ण दायित्व आ जाता है।”

12.6.2 प्रार्थना-पत्रों का परीक्षण- न्यास परिषद् का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य संरक्षित भू-भागों के निवासियों के लिखित एवं मौलिक आवेदन-पत्रों पर विचार करना है। परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष लेसली नोक्स मुनरो के अनुसार “आवेदन-पत्रों पर विचार करना संरक्षण परिषद् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण गतिविधियों में से है क्योंकि चार्टर द्वारा प्रत्याभूति आवेदन-पत्र देने का अधिकार संरक्षित प्रदेशों की जनता तथा परिषद् के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है।” ये प्रार्थना-पत्र संरक्षित प्रदेश के निवासियों की व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक कठिनाइयों के सम्बन्ध में होते हैं। जो प्रार्थना-पत्र अभी तक प्राप्त किये गये हैं उनमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुविधाओं जैसे- विद्यालयों को खुलावाना, रंग-भेद, बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध और आर्थिक एवं सामाजिक शोषण जैसे समाप्त करने की माँग की गयी है। परिषद् इन प्रार्थना-पत्रों को प्रशासकीय अधिकारियों के पास उनकी टिप्पणी के लिए भेजती है, इसके बाद प्रार्थना-पत्रों पर निर्णय लेकर सम्बन्धित पक्षों को आवश्यक निर्देश जारी करती है।

12.6.3 निरीक्षण-मण्डल भेजने का अधिकार- न्यास परिषद् का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य संरक्षित प्रदेशों में समय-समय पर निरीक्षक-मण्डल भेजना है। सामान्यतः दो वर्ष में एक बार प्रत्येक संरक्षित प्रदेश में यह मण्डल पहुंचता रहता है। ये मण्डल संरक्षित प्रदेशों की अन्तर्राष्ट्रीय जाँच-पड़ताल के बड़े प्रभावशाली साधन हैं। राजनीतिक संस्थाओं, कृषि सम्बन्धी स्थानों, सार्वजनिक सेवाओं, विद्यालयों, कारखानों और स्वास्थ्य सम्बन्धी संगठनों को देखने से निरीक्षक मण्डल यह भली-भाँति मालूम कर सकता है कि अमुक क्षेत्र में न्यास परिषद् के सिद्धान्तों को कहाँ तक लागू किया गया है। संरक्षण परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष रोजर गैरो ने कहा है कि पिछड़े हुए प्रदेशों की जटिल समस्याओं का ज्ञान इन निरीक्षक मण्डलों से भली प्रकार हो जाता है। न्यास परिषद् के प्रति ही उत्तरदायी होने के कारण ये स्वतन्त्र और निष्पक्ष अन्वेषण कर सकते हैं। स्थानीय जनता निरीक्षक मण्डलों के सम्मुख अपनी समस्या रख सकती है। संरक्षित प्रदेशों में जाकर निरीक्षक मण्डल बहुत-सी आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करते हैं जो परिषद् के कार्य में सहायक होती हैं।

12.7 न्यास व्यवस्था तथा मैण्डेट व्यवस्था : तुलना

न्यास व्यवस्था की तुलना राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित मैण्डेट व्यवस्था से करना प्रासंगिक होगा। किंतु प्राप्ति विद्वानों का मत है कि संयुक्त राष्ट्र की न्यास व्यवस्था राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के समान एक ‘चमकीला धोखा’ है। शूर्मां के अनुसार, न्यास व्यवस्था नयी वास्तविकता न होकर, औपचारिकता ही अधिक है। जबकि राल्फ जे बून्चे के अनुसार, न्यास व्यवस्था एक विस्तृत क्षेत्र रखती है तथा इसमें अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण सम्भव है। अतः दोनों प्रणालियों में कौन-सी प्रणाली सही है, इसकी जानकारी के लिए दोनों प्रणालियों में पायी जाने वाली विभिन्नताओं का ज्ञान आवश्यक है, जिन्हें निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है -

(1) न्यास प्रणाली का क्षेत्र विस्तृत है। मैण्डेट प्रणाली केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेशों तक सीमित थी, किन्तु न्यास पद्धति न केवल शूरु से छीने गये प्रदेशों के लिए है, अपितु स्वशासन न करने वाले पराधीन और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का शिकार बने सभी क्षेत्रों पर लागू होती है।

(2) न्यास व्यवस्था में न्यास प्रदेशों पर शासन करने वाली शक्तियों पर मैण्डेट प्रणाली की अपेक्षा अधिक कड़ा निरीक्षण है। मैण्डेट प्रणाली में मैण्डेट कमीशन को न तो मैण्डेट वाले प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार था और न ही वह मैण्डेट के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रार्थना-पत्रों पर विचार कर सकता था जबकि न्यास पद्धति में परिषद् आवेदन-पत्र सुन सकती है और अपने निरीक्षक-मण्डल भेज सकती है।

(3) मैण्डेट प्रणाली विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सीधा सम्मिलित करने का आवरण मात्र थी, जबकि न्यास पद्धति में स्वशासन का सुस्पष्ट विचार है और शासन करने वाले देशों का यह दायित्व बताया गया है कि वे अपने प्रदेशों को स्वशासन और स्वतन्त्रता के लिए समर्थ तथा योग्य बनायें।

(4) मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत मैण्डेटों की समस्या मुख्य रूप से स्थायी मैण्डेट आयोग का क्षेत्र समझी जाती थी, परन्तु न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत न्यास परिषद् के अतिरिक्त महासभा और सुरक्षा परिषद् भी पराधीन देशों की समस्या में दिलचस्पी लेती है।

(5) न्यास परिषद् की रचना और संगठन स्थायी मैण्डेट कमीशन की अपेक्षा अधिक सन्तुलित, स्वतन्त्र और सुसंगठित है। मैण्डेट कमीशन में केवल विशेषज्ञ होते थे, जबकि न्यास परिषद् में न केवल प्रशासन करने वाले देश हैं, इनके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य तथा इनकी संख्या सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य तथा इनकी संख्या के बराबर महासभा से चुने जाने वाले सदस्य हैं। इससे इस परिषद् में केवल शक्तियों की प्रधानता नहीं रहती, किन्तु दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व होने से सन्तुलन बना रहता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास प्रणाली पुराने राष्ट्र संघीय मैण्डेट पद्धति का केवल विकसित रूप ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण की एक नवीन व्यवस्था है। एक आदर्श एवं पूर्ण व्यवस्था न होते हुए भी यह मैण्डेट व्यवस्था से श्रेष्ठतर है।

12.8 सारांश

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंगों में न्यास परिषद् ही एक ऐसा अंग है जिसे अपने उद्देश्यों में सफलता प्रिली है। अपने लगभग 50 वर्ष के कार्य-काल में न्यास परिषद् और अन्य सम्बन्धित निकायों ने बहुत ही उपयोगी कार्य किये हैं। विश्व को और पिछड़े हुए व्यक्तियों को भली भाँति मालूम हो गया है कि अब उनकी उपेक्षा नहीं की जाएगी। मैण्डेट प्रणाली की अपेक्षा न्यास पद्धति में संरक्षित प्रदेशों की जनता के आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक विकास को प्राथमिकता दी गयी है। इसके कारण उपनिवेशवाद की परि समासि में काफी योगदान मिला है। यारह संरक्षित प्रदेशों में अधिकांश स्वतन्त्र हो चुके हैं। ब्रिटिश टोगलैण्ड, फांसीसी टोगलैण्ड, ब्रिटिश कैमरून, फ्रांसीसी कैमरून, सोमालीलैण्ड, टांगानिका, पश्चिमी समोआ तथा रूआंडा-उरुंडी को स्वतन्त्रता मिल चुकी है। इस प्रकार केवल पैसीफिक आइलैंड्स के न्यास क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी न्यास क्षेत्र या तो स्वतन्त्र हो गए या पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों में मिल गए। इससे न्यास पद्धति की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अतः The Nation नामक अमरीकी पत्रिका का यह विचार कि मैण्डेट प्रणाली की भाँति न्यास प्रणाली भी एक चमकीला धोखा है, उचित नहीं प्रतीत होता है। न्यास परिषद् में राष्ट्रों की स्वतंत्रता में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है।

अन्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यास परिषद् के संगठन का तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास परिषद् के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 1949 में न्यास परिषद् में कौन-कौन से प्रदेश रखे गये थे।
2. न्यास व्यवस्था तथा मैण्डेट व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यास परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन कैसे होता है?
2. न्यास परिषद् में कुल कितने सदस्य होते हैं?

आर्थिक और सामाजिक परिषद्

संरचना

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 आर्थिक और सामाजिक परिषद् का संगठन
 - 13.2.1 मतदान प्रक्रिया एवं सत्र
 - 13.2.2 परिषद् के पदाधिकारी
- 13.3 आर्थिक और सामाजिक परिषद् के कार्य
 - 13.3.1 अध्ययन एवं प्रतिवेदन
 - 13.3.2 विचार विमर्श और सिफारिश
 - 13.3.3 आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता कार्य
 - 13.3.4 मानव अधिकारों का विकास
 - 13.3.5 सहयोग एवं समन्वय
- 13.4 परिषद् के विभिन्न आयोग तथा समितियाँ
 - 13.4.1 कार्यात्मक आयोग
 - 13.4.2 प्रादेशिक आयोग
- 13.5 सारांश

13.0 उद्देश्य

यह इकाई संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे महत्वपूर्ण गैर राजनीतिक विकासात्मक अंग आर्थिक सामाजिक परिषद् के संगठन का उल्लेख करता है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- आर्थिक सामाजिक परिषद् के कार्य एवं वर्तमान स्थिति को समझ सकेंगे,
- आर्थिक सामाजिक परिषद् के गार्भ्या रो विश्व के वर्तगान विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,

13.1 प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जिसका स्वरूप राजनीतिक तथा गैर राजनीतिक दोनों ही है। इसकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में संघर्ष और सहयोग दोनों प्रवृत्तियों का समावेश रहा है। यद्यपि इसका जन्म द्वितीय विश्व युद्ध के सन्दर्भ में हुआ और इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्बन्ध युद्ध और शान्ति की समस्याओं से होना स्वाभाविक भी था। परन्तु फिर भी इसने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि अनेक गतिविधियों में अधिक रूचि प्रदर्शित की है। वस्तुतः इन गतिविधियों को युद्ध और शान्ति की समस्या से एकदम अलग भी नहीं किया जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कई तनावों के पीछे सामाजिक तथा आर्थिक कारण होते हैं। जहाँ सामाजिक तथा आर्थिक असन्तोष का वातावरण होता है वहाँ स्थायी शान्ति और व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसा कि वै-डेनबोश तथा होगन ने लिखा है : “आर्थिक संकट तथा सामाजिक असन्तोष निराशा तथा तनाव को जन्म देते हैं। जिससे व्यवस्था स्थायित्व तथा सुरक्षा समाप्त हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में केवल शक्ति के आधार पर ही यथास्थिति को बनाये रखकर शांति कायम रखी जा सकती है।” परन्तु ऐसी स्थिति अवश्य ही अस्थायी तथा विस्फोटक होगी।” अतः संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के निर्माण के लिए हुए सैनकांसिस्कों सम्मेलन में आये हुए प्रतिनिधियों ने आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए भावी संघ में एक प्रमुख अंग की व्यवस्था पर काफी जोर दिया ताकि आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग का उद्देश्य अन्य उद्देश्य से कम महत्वपूर्ण न रह जाए। उनके प्रयास

के चलते ही चार्टर में विश्व-संस्था के लिए पिछड़े लोगों के जीवन स्तर का उन्नयन, सबको पूर्ण रोजगार की व्यवस्था, मूलभूत मानव अधिकारों की स्वीकृति, दुनिया के लोगों के अभाव एवं दरिद्रता से मुक्ति आदि व्यापक उद्देश्य स्वीकृत किये गये। उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए चार्टर में संघ के छः प्रमुख अंगों में आर्थिक और सामाजिक परिषद् को प्रमुख स्थान दिया गया।

13.2 आर्थिक और सामाजिक परिषद् का संगठन-

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 61 में आर्थिक और सामाजिक परिषद् के संगठन का उल्लेख है। मूल विधान में यह कहा गया था कि परिषद् में 18 सदस्य होंगे। परन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि प्रतिनिधित्व के दृष्टिकोण से परिषद् की सदस्य संख्या अपर्याप्त है। अतः 1963 में चार्टर में संशोधन स्वीकार करके सदस्यों की संख्या 27 कर दी गयी। यह संशोधन सदस्य राज्यों की संपुष्टि के बाद 31 अगस्त, 1965 ई. को लागू हुआ। 20 दिसम्बर, 1971 में महासभा ने धारा 61 में संशोधन का एक दूसरा प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार परिषद् की सदस्य संख्या 27 से बढ़ाकर 54 कर दी गयी। अतः वर्तमान समय में इसके 54 सदस्य हैं। परिषद् के सदस्यों का चुनाव महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से करती है। परन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष पदमुक्त होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य की अवधि 3 वर्ष होती है। परन्तु अवकाश ग्रहण करने वाला सदस्य तुरन्त पुनः निवाचित हो सकता है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक ही प्रतिनिधि होता है। यद्यपि आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के लिए कोई स्थायी सदस्यता का उपबन्ध नहीं है तथापि व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि महा शक्तियों तथा प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों को बार-बार निवाचित कर लिया जाता है।

13.2.1 मतदान प्रक्रिया एवं सत्र- आर्थिक और सामाजिक परिषद् में प्रत्येक सदस्य की सिर्फ एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। आवश्यकतानुसार उसके साथ अन्य वैकल्पिक प्रतिनिधि तथा परामर्शदाता भी भेजे जा सकते हैं। परन्तु प्रत्येक सदस्य राज्य को सिर्फ एक ही मत प्राप्त है। परिषद् में निर्णय उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से लिया जाता है। परिषद् किसी ऐसे गैर सदस्य-राज्य को भी अपनी कार्रवाई में भाग लेने के लिए आवंत्रित कर सकती है जिसका इसके सम्मुख किसी विचाराधीन मामले से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। परन्तु आपनीति सदस्य को मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता है।

नियम के अनुसार परिषद् की बैठकें वर्ष में तीन बार होने का विधान है किन्तु सामान्यतया दो बार अप्रैल तथा जुलाई में बैठकें होती हैं जो चार से छह सप्ताह तक चलती हैं। आवश्यकता पड़ने पर परिषद् की विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। इस तरह की विशेष बैठक परिषद् के सदस्यों के बहुमत के अनुरोध पर बुलायी जाती है। चार्टर की धारा 72 (2) में कहा है: “आर्थिक और सामाजिक परिषद् का अधिवेशन जब आवश्यक हो, उसके अपने नियमों के अनुसार होगा। इन नियमों के अनुसार जब कभी उसके सदस्यों का बहुमत अनुरोध करे तो उसका अधिवेशन बुलाया जाय।”

13.2.2 परिषद् के पदाधिकारी- प्रत्येक वर्ष अपनी प्रथम बैठक के प्रारम्भ में ही परिषद् एक अध्यक्ष तथा दो उपाध्यक्षों का चुनाव करती है। ये पदाधिकारी केवल 1 वर्ष के लिए ही चुने जाते हैं। किन्तु अपनी अवधि समाप्त होने के बाद वे पुनः निवाचित किये जा सकते हैं। जैसे ही उनके देश की परिषद् की सदस्यता समाप्त हो जाती है, उनकी सेवा-अवधि भी समाप्त हो जाती है। अध्यक्ष का चुनाव करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि वह बड़े राष्ट्रों से न आता हो। वह परिषद् के अधिवेशन के आरम्भ और स्थगन की घोषणा करता है। वह परिषद् में वाद-विवाद को निर्देशित तथा संचालित करता है तथा प्रक्रिया-सम्बन्धी नियमों का पालन करवाता है। वह किसी प्रश्न को मतदान के लिए प्रस्तावित करता है और मतदान के बाद उसके निर्णय की घोषणा करता है।

13.3 आर्थिक और सामाजिक के कार्य- संयुक्त राष्ट्र का कार्य तथा उद्देश्य सिर्फ राजनीतिक विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करना ही नहीं है वरन् आर्थिक, सामाजिक स्वास्थ्य, संस्कृति तथा मानवीय क्षेत्रों में कार्य करना भी है। इसके निर्माताओं ने राष्ट्र संघ के अनुभव से लाभ उठाकर यह अनुभव किया था कि विश्व शांति और सुव्यवस्था के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्रों भी प्रभावशाली ढंग से कार्य करना होगा। उनका विचार था कि आर्थिक असन्तोष और सामाजिक विषमता युद्ध के कारणों को जन्म देते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को यदि स्थायी आधार देना है तो इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करना होगा। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए चार्टर में सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उत्थान पर अधिक जोर दिया गया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सदस्य राज्यों में भलाई और दृढ़ता स्थापित करने के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा राष्ट्रों में मैत्री एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होंगे। चार्टर की धारा 1 में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य विश्व की आर्थिक, सामाजिक या मानवतावादी समस्याओं के समाधान करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान को बढ़ावा देना तथा उसे प्रोत्साहित करना है।

संयुक्तराष्ट्र संघ के चार्टर में आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में जिन महान् उद्देश्यों की चर्चा की गयी है उनके निर्वहन के साधन के रूप में आर्थिक और सामाजिक परिषद् की रचना की गयी है। दूसरे शब्दों में, संयुक्त राष्ट्र संघ के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा उससे सम्बद्ध कार्यों को सम्पादित करने का दायित्व आर्थिक और सामाजिक परिषद् को सौंपा गया है। सूत्र रूप में यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं पर स्वयं या किसी संस्था द्वारा अध्ययन करा सकती है, तथा इस प्रकार के किसी भी मामले से सम्बन्धित अपनी सिफारिशें साधारण सभा, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों तथा तत्सम्बन्धित विशिष्ट एजेंसियों से कर सकती है। यह मानव अधिकारों एवं सभी के लिए मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान एवं पालन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से भी सिफारिशें कर सकती हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले मामलों के सम्बन्ध में वह महासभा के सामने पेश करने के लिए कन्वेंशनों के मसविदे तैयार कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार वह अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले मामलों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी बुला सकती है। इस प्रकार आर्थिक-सामाजिक परिषद् का कार्य क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। अतः सुविधा के लिए आर्थिक-सामाजिक परिषद् के कार्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं,

13.3.1 अध्ययन एवं प्रतिवेदन - चार्टर की धारा 62 के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद् को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा उससे सम्बद्ध विषयों के सम्बन्ध में अध्ययन आरम्भ करने तथा रिपोर्ट तैयार करने का अधिकार है। परिषद् का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आधारभूत तथ्यों की जानकारी के लिए भी कोई भी संस्था समस्या का निदान नहीं हूँ द सकती है। राष्ट्र संघ के सन्दर्भ में हम परिषद् के इस कार्य का महत्व समझ सकते हैं। जिस समय राष्ट्र संघ ने अपना कार्य प्रारम्भ किया था उस समय आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित पर्याप्त परिगणना एवं अन्य सूचनाओं का विश्व में काफी अभाव था। राष्ट्र संघ ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किये। इसके तत्त्वावधान में जनसंख्या, परिवर्जन, जल-साधनों, नियोजन तथा औद्योगिक एवं कृषि से सम्बद्ध विषयों पर आँकड़ों को संकलित करने का प्रयास किया गया। परन्तु उसने अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार नहीं किया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने व्यापक पैमाने पर इस कार्य को प्रारम्भ किया है। जैसा कि ब्रेन्डेनबॉश तथा होगन ने लिखा है : “राष्ट्र संघ ने इस कार्य को जहाँ छोड़ा था, संयुक्त राष्ट्र ने वही से प्रारम्भ किया है।” उदाहरण के लिए युद्ध काल में लाखों व्यक्ति लापता हो गये थे जिनकी सम्पत्ति तथा बीमे की अदायगी के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई। अतः इसके सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए तथ्यों का संकलन आवश्यक था। परिषद् ने खोये हुए व्यक्तियों के सम्बन्ध में मृत्यु-घोषणा का प्रारूप तैयार कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्धारण किया है। इसने आर्थिक और सामाजिक समस्या के अध्ययन एवं प्रतिवेदन के द्वारा सामान्य हित के प्रश्नों के जीव एकात्मकता स्थापित करने की कोशिश की है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में यह काफी महत्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता है। यद्यपि परिषद् के इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ हैं फिर भी इसके तत्त्वावधान में जो अध्ययन हुआ है और जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये गये हैं, वे सदस्य-राष्ट्रों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

13.3.2 विचार-विमर्श और सिफारिश- आर्थिक और सामाजिक परिषद् का दूसरा कार्य अपने क्षेत्र से सम्बद्ध विषयों पर विचार-विमर्श करना तथा उन पर अपना सुझाव देना है। धारा 62 (1) में यह कहा गया है कि यह आर्थिक, सामाजिक तथा उससे सम्बद्ध किसी भी विषय के सम्बन्ध में महासभा, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य तथा सम्बन्धित विशिष्ट अधिकारणों को सिफारिशें कर सकती हैं। परन्तु इसकी सिफारिशों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है। उन्हें मानना या न मानना सदस्य राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है। उसके प्रभाव की महत्ता उसी सीमा तक है जहाँ इसे स्वीकार किया जाता है। ऐसा देखा गया है कि परिषद् कि सिफारिशों पर सदस्य राज्य उतना ध्यान नहीं देते हैं। निश्चय ही स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है लेकिन परिषद् द्वारा फिर भी सिफारिशों की जाती हैं और उन पर अमल करने के लिए सदस्य-राष्ट्रों से अपील की जाती है। इसका तरीका या ढंग समझाने-बुझाने का है न कि शक्ति-प्रयोग का।

परिषद् ने विचार-विमर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद ही इसने विश्व के खाद्यान्नाभाव की समस्या पर गम्भीर विचार करने तथा उसके सम्बन्ध में वैयक्तिक रूप से अथवा खाद्य और कृषि संगठन के सहयोग से आवश्यक कदम उठाने के निमित्त अपने सदस्य राज्यों से अपील की। इसी तरह जुलाई 1967 में परिषद् के 42 वें अधिवेशन में प्राकृतिक साधनों के विकास से सम्बन्धित निर्णय सर्वसम्मति से लिए गये।

13.3.3 आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता कार्य : आर्थिक और सामाजिक परिषद् का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य विश्व के पिछड़े हुए देशों को आर्थिक और प्राविधिक सहायता देना है। विश्व की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या अल्प विकसित देशों में निवास

करती है, जिनका जीवन स्तर अत्यन्त निम्न या कमजोर स्तर का है। आर्थिक दृष्टि से उन लोगों का विकास करके ही उनका सामाजिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत आर्थिक और प्राविधिक सहायता देने का कार्य आर्थिक और सामाजिक परिषद् को सौंपा गया है। अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए परिषद् का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सहायता तकनीकी विशेषज्ञता एवं आवश्यक उपकरणों, यंत्रों, मशीनों आदि को उपलब्ध कराकर दी जाती है। विभिन्न सरकारों को परामर्श देने तथा स्थानीय कर्मचारियों को आर्थिक क्षेत्रों में प्रशिक्षित करने के लिए परिषद् द्वारा तकनीकी विशेषज्ञ भेजे जाते हैं। अल्पविकसित देशों के नागारिकों को विदेशों में अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। प्राविधिक क्षेत्रों में विचारों तथा अनुभव के विनिमय या आदान प्रदान के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों तथा विचार गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है तथा विकास-योजनाओं को सफल बनाने के लिए उपकरणों और सामग्री की सहायता दी जाती है। इस कार्य के लिए एक प्राविधिक सहायता बोर्ड की स्थापना की गयी है। यह अपना प्रतिवेदन तथा कार्यों का लेखा-जोखा परिषद् की प्राविधिक समिति को प्रस्तुत करता है। यह समिति प्राविधिक सहायता के भावी कार्यक्रम पर विचार करती है और योजनाओं की कार्यान्वित करती है।

13.3.4 मानव अधिकारों का विकास- प्रत्येक देश के लोगों को जाति, धर्म, नस्ल या रंग के आधार पर बिना भेद-भाव किए मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो, इसके लिए प्रयत्नशील होना विश्व-संस्था का परम दायित्व है। यह महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक-सामाजिक परिषद् को दिया गया है। परिषद् को यह अधिकार है कि वह इन अधिकारों की सुरक्षा करने तथा इन्हें साकार करने के लिए योजनाएँ बनाये। अपने इस अधिकार के अन्तर्गत सन् 1948 में परिषद् ने मानव अधिकार आयोग की स्थापना की। इस आयोग को निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में अपनी सिफारिश तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए कहा गया—अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार पत्र, महिलाओं की स्थिति, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, जाति, लिंग, नस्ल, धर्म एवं भाषा के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव को रोकना आदि।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मानव कल्याण एवं अधिकार सम्बन्धी उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब राज्य सरकारें अधिकाधिक परिषद् के कार्यों में योगदान करें। परिषद् तो केवल समस्याओं का अध्ययन कर सकती है, उपलब्ध सामग्री के तथ्यों के आधार पर अनुशंसा कर सकती है, उन्हें लागू कराने की क्षमता उसमें नहीं है। अतः चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों को यह दायित्व-बोध होना चाहिए कि नस्ल, वर्ण, जाति या धर्म के आधार पर किसी वर्ग के लोगों को मानव अधिकारों से वंचित करना घोषणा-पत्र का उल्लंघन है। वे ऐसा करने से अपने आपको बचावे।

13.3.5 सहयोग एवं समन्वय- आर्थिक और सामाजिक परिषद् विश्व के आर्थिक और सामाजिक विकास के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रधान संस्था के रूप में कार्य करती है। परन्तु इस क्षेत्र में अनेक विशिष्ट अभिकरण तथा गैर-सरकारी संगठन भी कार्य करते हैं। इन संगठनों के कार्य एक-दूसरे से सम्बन्धित है। अतः उनके कार्यों की पुनरावृत्ति तथा अनावश्यक आर्थिक व्यय को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उनके कार्यों के बीच सामंजस्य कायम रखा जाए। यह कार्य परिषद् के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। धारा 6 यह स्पष्ट उल्लेख करती है कि “‘आर्थिक और सामाजिक परिषद् विशिष्ट अभिकरणों के कार्य-कलापों में विचार-विमर्श और सिफारिशों द्वारा समन्वय स्थापित कर सकती है।’” इस प्रकार परिषद् आर्थिक और सामाजिक सहयोग का एक प्रधान साधन बन गयी है। इसके अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिषद् ही विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है।

13.4 परिषद के विभिन्न आयोग तथा समितियाँ

आर्थिक और सामाजिक परिषद् को काफी महत्वपूर्ण और व्यापक उत्तरदायित्व प्रदान किये गये हैं। जिनको साकार करने के लिए परिषद् को सहायक अंगों की स्थापना करने का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत परिषद् ने आयोगों और समितियों की स्थापना की है जो इसके कार्यों का सम्पादन करते हैं। इन आयोगों के सदस्यों का निर्वाचन परिषद् स्वयं करती है। कुछ आयोगों के सदस्यों का निर्वाचन सदस्य देश भी करते हैं। महासचिव भी परामर्श देते हैं ताकि प्रत्येक आयोग के अधीन विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित प्रतिनिधित्व हो सके। ये आयोग दो प्रकार के होते हैं—(1) कार्यात्मक आयोग, (2) प्रादेशिक।

13.4.1 कार्यात्मक आयोग

1. आर्थिक, रोजगार तथा विकास आयोग,
2. यातायात एवं संचार आयोग,
3. वित्तीय आयोग,
4. सांख्यिकी आयोग,
5. जनसंख्या आयोग,
6. मानव अधिकार आयोग,
7. महिलाओं की स्थिति पर आयोग तथा
8. नशीले पदार्थों सम्बन्धी आयोग

13.4.2 प्रादेशिक आयोग

1. अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग- मुख्यालय-इथोपिया (आदिस अबाबा)
2. एशिया व प्रशान्त के लिए आर्थिक तथा सामाजिक आयोग- मुख्यालय- थाइलैण्ड (बैंकाक)
3. यूरोप के लिए आर्थिक आयोग- मुख्यालय- स्विटजरलैण्ड (जिनेवा)
12. लैटिन अमेरिका के लिए- मुख्यालय- चिली (सैन्टिआगो)
13. पश्चिमी एशिया के लिए- मुख्यालय- इराक (बगदाद)

उपर्युक्त आयोगों की स्थापना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् अपने कार्यों का सम्पादन अनेक आयोगों, स्थायी एवं तर्द्ध समितियों तथा अनेक विशिष्ट अभिकरणों की सहायता से करती है। विश्व के लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा उनकी मौलिक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान में इन आयोगों तथा संगठनों ने काफी सराहनीय कार्य किया है। इन संगठनों या अभिकरणों के कारण विश्व के सभी भागों में इस परिषद् के प्रति जागरूकता तथा चेतना में अभिवृद्धि हुई है।

13.5 सारांश

आर्थिक-सामाजिक परिषद् के उद्देश्य काफी विस्तृत तथा इसका कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी है। मानव के जीवन-स्तर का उन्नयन, उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रगति के लिए कार्यों का समायोजन एवं दिशा-निर्देश-निश्चित ही इसके विस्तृत कार्य हैं। यह संस्था संयुक्त राष्ट्र को राष्ट्र संघ की तुलना में अधिक व्यापक और जनकल्याणकारी संस्था बना देती है। शरणार्थियों, राज्यविहीन-व्यक्तियों, टेड्र यूनियनों के अधिकारों, दासता तथा बेगर जैसी बुराइयों पर परिषद् द्वारा सतत विचार-विमर्श होता रहता है। परिषद् ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी राष्ट्रीय, नस्ली तथा धार्मिक समुदाय को पूर्णतया समाप्त करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया है। आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता तथा योजनाओं से पिछड़े हुए राष्ट्रों का विकास इस परिषद् का उद्देश्य है। आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त जातियों एवं समुदायों के सामाजिक स्तर को ऊपर उठाया जाता है। परिषद् के द्वारा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को विशेषज्ञों का सहयोग दिया जाता है, साथ ही उन्हें यन्त्रों, उपकरणों आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए आर्थिक सहयोग उपलब्ध कराया जाता है। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् पद्धतियों से उत्पादन बढ़ाने में सहयोग देकर गरीबी-निवारण में सहयोग देती है। यह आवश्यक उपकरणों, यन्त्रों, मशीनों, भवनों, सड़कों एवं बन्दरगाहों को उपलब्ध कराकर व्यापार, उद्योग तथा वृद्धि त्री उन्नति में सहयोग देती है।

इस परिषद् की उल्लेखनीय सफलताएं रही हैं। यद्यपि इसे आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर विधान बनाने की क्षमता प्राप्त नहीं है, तथापि इसने विश्व को अभाव, दरिद्रता, रोग और निरक्षरता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। इसने सन् 1948 की मानव अधिकारों की घोषणा और 1952 के महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित सम्मेलन द्वारा मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति वास्तविक जन-जागृति पैदा करने का प्रयत्निक विकास किया है। वास्तव में, द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिकाओं से पीड़ित मानव जाति के अविकसित एवं नवोदित राष्ट्रों के लिए यह एक प्रेरणा व सहायता का स्रोत रही है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की उपलब्धियों का मूल्यांकन करिए।
2. आर्थिक सामाजिक परिषद् के कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्थिक सामाजिक परिषद् के अन्तर्गत कार्यरत आयोगों के नाम लिखिये।
2. आर्थिक सामाजिक परिषद् वर्तमान में महत्व का उल्लेख कीजिये।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्थिक सामाजिक परिषद् में कुल कितने सदस्य होते हैं?

इकाई - 14

सचिवालय

संरचना

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 सचिवालय का संगठन
- 14.3 सचिवालय के कार्य
- 14.4 महासचिव का पद एवं भूमिका
 - 14.4.1 महासचिव के अधिकार एवं कार्य
- 14.5 सारांश

14.0 उद्देश्य

यह इकाई संयुक्त राष्ट्र का स्थायी एवं गैर राजनीतिक मुख्य अंग सचिवालय का संगठन एवं शक्तियों का उल्लेख करता है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थायी निकाय के रूप में सचिवालय की वास्तविक भूमिका जान सकेंगे,
- महासचिव की भूमिका को समझ सकेंगे,
- सचिवालय द्वारा महासभा एवं सुरक्षा परिषद के बीच संबंधों की स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के रक्षक तथा सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में की गई थी। अतः घोषणा पत्र के द्वारा उसे न केवल अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने का दायित्व सौंपा गया वरन् राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करने, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने, रोग, अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि से मानव को उन्मुक्त करने आदि के महत्वपूर्ण दायित्व भी सौंपे गये। इस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य काफी महत्वपूर्ण तथा काबिनेत्र विस्तृत हैं। इन अनगिनत कार्यों का सम्पादन करने के लिए इनके अंगीभूत शाखाओं तथा सम्बद्ध संस्थाओं की संख्या हजारों में हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना में सचिवालय की व्यवस्था उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति के साधन के रूप में ही की गयी है। इसके बिना विश्व-संगठन अपने बहुदेशीय और बहुपक्षीय कार्यों का निर्वहन समुचित तथा प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकता। इसके अभाव में उसमें वह क्षमता भी नहीं आ पाती है। जिससे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र पर कुछ स्वतन्त्र प्रभाव डाल सके। यही कारण है कि विश्व संस्था की योजना से सचिवालय को संघ के प्रमुख अंगों की कोटि में रखा गया है। सचिवालय ही संघ के सभी अंगों को विशिष्ट सूचनाएँ प्रदान करता है जिससे नीति-सम्बन्धी निर्णय लेना आसान हो जाता है। यह एक स्थायी संस्था है जिसका काम निरन्तर चलता रहता है। इसके महत्व के विषय में मैक्सवेल कोहन ने ठीक ही लिखा है : “संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व वाला अंग सचिवालय ही है, जो महासभा एवं सुरक्षा परिषद् के नियतकालिक अधिवेशनों को वास्तविक, स्थायी एवं शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में वह केन्द्र बिन्दु है। इसके अभाव में सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र सूचना व सहयोग के केन्द्रों से वंचित हो जायेगा।” अतः सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को एक स्थायी एवं सशक्त संगठन बनाता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ को जीवन्तता, गतिशीलता तथा प्रभावी स्वरूप प्रदान करता है।

14.2 सचिवालय का संगठन

संयुक्त राष्ट्र का सचिवालय एक स्थायी तथा गैर राजनीतिक संस्था है। चार्टर की धारा 97 में उल्लिखित है कि “सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा करेगी वही संघ का प्रमुख प्रशासकीय पदाधिकारी होगा।”

चार्टर के अनुसार महासचिव को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है। सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में ही यह तय हो गया था कि महासचिव को सहायक महासचिवों की नियुक्ति करने की पूर्ण छूट रहेगी। परन्तु चार्टर का अनुच्छेद 101 इस बात की व्यवस्था करता है कि कर्मचारियों की भर्ती व्यापक भौगोलिक आधार पर की जानी चाहिए। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य सचिवालय सेवाओं में अधिकाधिक देशों को प्रतिनिधित्व देना था अर्थात् उनका अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना है। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय में लगभग 8,700 कर्मचारी नियमित बजट के अन्तर्गत नियुक्ति पाकर न्यूयार्क स्थित मुख्यालय और संघ के अन्य केन्द्रों पर कार्यरत हैं।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक वृहत् प्रशासनिक तन्त्र है, जिसे आठ विभागों में विभक्त किया गया है। 1. सुरक्षा परिषद् सम्बन्धी कार्यों का विभाग, 2. आर्थिक विभाग, 3. सामाजिक कार्यों का विभाग, 12. न्यास एवं स्वशासितर सेवों में सूचना विभाग, 5. सार्वजनिक सूचना विभाग, 14. सम्मेलन तथा सामान्य सेवा विभाग, 7. प्रशासनिक तथा वित्तीय सेवा विभाग और 8. विधि विभाग। इन विभागों के अध्यक्ष महासचिव के प्रमुख परामर्शदाता हैं जिनसे वह आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत रूप से परामर्श कर सकता है। ये विभाग महासचिव को वांछित सूचनाएँ प्रदान करते हैं।

14.3 सचिवालय के कार्य

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य प्रशासकीय निकाय है और महासचिव उसका प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी है। सचिवालय संघ के लिए अतिआवश्यक, अनगिनत एवं विभिन्न प्रशासनिक कार्यों का प्रबन्ध करता है। इस दृष्टि से सचिवालय इस संस्था की रीढ़ की हड्डी है। यह संघ के अंगों, आयोगों या अधिकरणों की बैठकों का प्रबन्ध करता है तथा उन्हें सेवाएँ प्रदान करता है। सचिवालय बैठकों से सम्बन्धित सूचनाएँ एकत्रित करता है, उनका अध्ययन करता है, उनकी जाँच, समीक्षा और व्याख्या करता है, बैठकों के बिचाराधीन विषयों पर एकत्रित साग्रही प्रस्तुत बरता है, आवश्यकता पड़ने पर बैठकों में अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, बैठकों के प्रस्तावों, निर्णयों आदि का रिकार्ड रखता है तथा आवश्यकतानुसार उन्हें विश्व भर में प्रसारित करता है। सचिवालय के प्रतिवेदन सूचनाओं को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करते। अतः वे अधिक विश्वसनीय होती हैं। सूचना केन्द्र संयुक्त राष्ट्र संघ की भावना अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास करने में अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। ये केन्द्र विश्वव्यापी हैं।

14.4 महासचिव का पद एवं भूमिका

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय के प्रधान को महासचिव कहा जाता है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख कार्यपालक होता है। चार्टर की धारा 97 में यह कहा गया है। ‘महासचिव संघ का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी है’ परन्तु यह धारा महासचिव की वास्तविक स्थिति का पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं कर पाती क्योंकि उसके अधिकार केवल प्रशासकीय कार्यों तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः आज उसकी स्थिति एक राजनीतिक पदाधिकारी सी हो गयी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत उसे कुछ ऐसे अधिकारों तथा दायित्वों का निर्वहन करना पड़ता है जिनका राष्ट्र संघ में पूर्णतया अभाव था। अपने व्यापक अधिकारों तथा दायित्वों के कारण महासचिव का पद विश्व-संगठन में काफी गौरव, प्रतिष्ठा शक्ति, तथा सम्मान का पद बन गया है।

महासचिव की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए होती है। पहली फरवरी, 1946 को नार्वे के त्रिग्वे ली महासचिव नियुक्त किये गये थे। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल तीन वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। 10 अप्रैल, 1953 को स्वीडन के डॉग हैमरशोल्ड को उनके स्थान पर महासचिव नियुक्त किया गया। कांगो में विमान दुर्घटना में डॉग हैमरशोल्ड की मृत्यु हो जाने के बाद सितम्बर 1961 को बर्मा के उ-थाण्ट अस्थायी काल के लिए महासचिव बनाये गये। बाद में नियमित रूप से उनका चुनाव हुआ। उनको 1966 में अगले 5 वर्षों के लिए पुनः चुन लिया गया। 22 सितम्बर, 1971 को डॉ कुर्ट वाल्डहाईम को इस पद पर नियुक्त किया गया। वे 10 वर्ष तक इस पद पर बने रहे। सन् 1982 से जेवियर पेरेज डी क्वैया महासचिव पद पर कार्यरत थे। वे भी 10 वर्ष तक अपने पद पर रहे। 1 जनवरी, 1992 को डॉ. बुतरस घाली (मिस्ट्र) तथा 1 जनवरी, 1997 को

कोफी अन्नान ने महासचिव पद का कार्यभार संभाला। कोफी अन्नान वर्तमान में भी इस पद पर कार्यरत है। महासचिवों की नियुक्ति से स्पष्ट है कि वे प्रायः छोटे एवं तटस्थ राष्ट्रों के विष्यात नागरिकों में से होते हैं।

14.4.1 महासचिव के अधिकार एवं कार्य- संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की शक्तियाँ काफी व्यापक हैं और उनको गुरुतर दायित्व सौंपा गया है। उसका पद अत्यन्त गौरव, गरिमा तथा प्रतिष्ठा का है। यद्यपि चार्टर की धारा 97 में महासचिव को केवल मुख्य प्रशासकीय अधिकारी बतलाया गया है किन्तु उसके कार्य केवल प्रशासकीय दायित्वों तक ही सीमित नहीं है। वह अन्य अनेक बहुमुखी कार्यों का भी सम्पादन करता है। उसकी स्थिति को विभिन्न शब्दों में चिह्नित किया गया है। डॉलवे के मतानुसार “महासचिव को जितने विस्तृत रूप में अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त हैं, वे शायद ही आज तक दुनिया के किसी एक व्यक्ति को प्राप्त हुए हों।” क्लॉड ने लिखा है “संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को वह संवैधानिक शक्ति प्राप्त है कि वह जितना बड़ा आदमी बनना चाहे बन सकता है।” ट्रीग्वीली के अनुसार “शांति और सभ्यता की आशाएँ महासचिव के पद में निहित हैं।” उपर्युक्त सभी विचारों का सारांश यदि हम निरूपित करें तो कहा जा सकता है कि विश्व में महासचिव का पद महत्व का है और उसके कार्यों की सीमा निर्धारित करना बड़ा कठिन है। सन् 1947 में प्रस्तावक आयोग ने महासचिव के कार्यों को निम्नलिखित बर्गों में विभाजित किया था। विभिन्न राजनीतिक समीक्षक भी उसके कार्यों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित करते हैं -

(1) **प्रशासकीय कार्य-** चार्टर की धारा 97 में महासचिव को संघ का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी घोषित किया गया है। इस स्थिति में महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् की सभी बैठकों में भाग लेता है तथा वह सभी कार्य सम्पादित करता है जो इन अंगों द्वारा उसे सौंपे जाते हैं। महासचिव सुरक्षा परिषद् को छोड़कर अन्य अंगों की असाधारण बैठक बुलाता है, सभी अधिवेशनों से सम्बद्ध कागजातों को रखता है, विभिन्न अंगों, आयोगों तथा विशिष्ट संस्थानों के लिए कर्मचारियों की व्यवस्था करता है, उनके सभी कागजातों का प्रकाशन करता है। वही संस्था के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट महासभा को प्रेषित करता है। वास्तव में, महासभा का वार्षिक अधिवेशन महासचिव की रिपोर्ट से प्रारम्भ होता है।

(2) **प्राविधिक कार्य-** प्रशासकीय कार्यों के साथ-साथ महासचिव को कुछ प्राविधिक कार्यों का भी सम्पादन करना पड़ता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत, महासचिव के अनेक कार्य आते हैं, जैसे- समस्याओं का आवश्यक अध्ययन, सृति-पत्र, प्रतिवेदन, वैधानिक तथ्यों में सुझाव तथा सर्वेक्षण आदि। संघ के अन्य अंगों के अनुरोध पर आवश्यक अध्ययन की व्यवस्था की जाती है तथा आवश्यकतानुसार विशेष सुझाव प्रदान किया जाता है। सचिवालय में एक परिणाम विभाग की स्थापना की गयी है जो सरकारों, विशिष्ट अभिकरणों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों की जाँच तथा विश्लेषण करता है। वह विभाग उपयोगी सूचनाओं को प्रकाशित करता है। महासचिव अधिवेशनों में भाग लेता है, आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता है तथा प्राविधिक विषयों में परामर्श देता है।

(3) **वित्तीय कार्य-** महासचिव को कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय कार्यों का भी सम्पादन करना पड़ता है। उसका मुख्य कार्य महासभा के अधिकार एवं नियमों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट तैयार करना है। उसके आय-व्यय का संचालन सुचारू रूप से हो रहा है अथवा नहीं, इसका सम्पूर्ण दायित्व महासचिव पर होता है। इस कार्य हेतु उसे सहायता देने के लिए एक विभाग का गठन किया गया है। इसका कार्य बजट बनाना, धन की माँग करना, सदस्य-राज्यों के अनुदानों को निश्चित करना तथा उनसे प्राप्त अनुदानों को एकत्रित करना है। यह आलेख का भी कार्य करता है। चूंकि वह विभाग महासचिव का सहायक निकाय है अतः इसके द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों का अन्तिम दायित्व महासचिव का ही है। सारांश यह कि महासचिव संयुक्त राष्ट्र का बजट तैयार करता है, धन का बँटवास करता है तथा व्यय पर नियन्त्रण रखता है। वही संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्राविधिक सहायक कार्य में खर्च किये जाने वाले धन तथा अन्य व्यय की देख-रेख करता है। उसके ये कार्य उसे शक्तिशाली स्थान प्रदान करते हैं।

(4) **प्रतिनिधित्वात्मक कार्य-** महासचिव सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रतिनिधि होता है। इस दृष्टिकोण से सचिवालय का ही अध्यक्ष नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व संस्था का महासचिव होता है। इस दृष्टिकोण से उसकी स्थिति काफी सुदृढ़ तथा महत्वपूर्ण है। संघ के विभिन्न अंगों में बहुत से सदस्य होते हैं। और प्रत्येक अंग का अपना अलग-अलग दायित्व होता है। परन्तु सम्पूर्ण संघ का केवल एक ही महासचिव होता है। इस दृष्टि से वह संघ के किसी भी अंग की बैठक में उपस्थित हो सकता है या अपना प्रतिनिधि भेज सकता है। इस संस्था के विभिन्न अंगों तथा संस्थाओं के बीच संचार-सूत्र महासचिव का कार्यालय ही होता है। उसी के माध्यम से इनके मध्य सूचनाओं का आदान-प्रदान होता है। वह संघ का प्रमुख प्रवक्ता होता है। अतः वह संघ की नीतियों को स्पष्ट करता है तथा समाचार-

पत्र और प्रतिनिधियों के प्रश्नों के उत्तर देता है। विश्व जनमत, सरकारी अधिकारियों एवं मन्त्रियों के वक्तव्यों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है, वे प्रचार-मात्र समझे जाते हैं। परन्तु महासचिव के वक्तव्यों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा नहीं है। वह एक निष्पक्ष पदाधिकारी समझा जाता है। संक्षेप में, यह विश्व की भावनाओं, अपेक्षाओं तथा संवेदनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

(5) राजनीतिक कार्य- संयुक्त राष्ट्र का महासचिव कुछ राजनीतिक कार्य भी सम्पादित करता है। उसकी राजनीतिक शक्तियों का स्रोत चार्टर की धारा 99 है। उसे यह दायित्व प्रदान किया गया है कि विश्व समुदाय में शांति और व्यवस्था बनी रहे, इस पर वह सदैव सतर्क रहे तथा कहीं भी इन पर किसी तरह का खतरा उत्पन्न होने पर सुरक्षा परिषद् का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट करे। विश्व में कहीं भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा राज्य-सम्बन्धी कोई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद, जिससे विश्व शान्ति के लिए संकट उत्पन्न होने पर महासचिव को उसकी ओर विश्व-संस्था का ध्यान अविलम्ब आकृष्ट कराने का दायित्व दिया गया है। महासचिव को महासभा की कार्यसूची में कई अतिरिक्त या अन्य विषय जोड़ने का भी अधिकार दिया गया है। वह सुरक्षा परिषद् के समक्ष उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को रख सकता है जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो।

महासचिव को अपने कर्तव्यों के निर्वहन के लिए आवश्यक घोषणा करने और सुझाव रखने का अधिकार है। वह चाहे तो सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव भी रख सकता है। अनेक ऐसे अवसर आये हैं, जब सुरक्षा परिषद् की कार्रवाई के बीच महासचिव ने उसके समक्ष विचारार्थ अपने प्रारूप-प्रस्ताव पेश किये हैं। उदाहरण के लिए सन् 1950 में जब कोरिया-समस्या पर विचार-विमर्श करने के लिए सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलायी गयी तो महासचिव ने ही इस समस्या पर सर्वप्रथम प्रकाश डाला और उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने की अपील की। इस प्रकार धारा 99 के अन्तर्गत, जो महासचिव के राजनीतिक अधिकारों का स्रोत हैं, महासचिव को विस्तृत एवं व्यापक दायित्व एवं अधिकार-सेवा प्रदान किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की राजनीतिक भूमिका का इतना अधिक विकास हुआ है कि न केवल संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत यह पद राष्ट्र संघ में इस पद की अपेक्षा कहीं शक्तिशाली और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, बरन् मार्गन्थाऊ ने तो यहाँ तक कह दिया कि “इस प्रकार महासचिव संयुक्त राष्ट्र का एक प्रकार का प्रधानमंत्री बन गया।” निससदेह, उसकी स्थिति, सत्ता या भूमिका विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली बन गई है।

14.5 सारांश

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता कि सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि चार्टर के अन्तर्गत उसे बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है फिर भी इस विभाजित विश्व में जहाँ राज्य अपनी सम्प्रभुता के प्रबल समर्थक तथा दूसरे राज्यों के हितों को हेय नजर में रखते हैं, सचिवालय ही एक ऐसा अंग है जो विश्व संस्था का वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करता है।

सचिवालय के अन्तर्गत महासचिव का पद वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण है। भले ही राष्ट्रों की सम्प्रभु एकता के सिद्धान्त के कारण उसकी शक्तियों का क्षेत्र सीमित दियों न हो गया हो फिर भी यह स्पष्ट है कि उसकी शक्तियाँ बढ़ी हैं और बढ़ती जा रही हैं।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय का संगठन शक्तियाँ और कार्यों का वर्णन करो ?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद की भूमिका का वर्णन कीजिए ?

लघूतराज्यक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ महासचिव कितने वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता है ?
2. महासचिव की नियुक्त कौन करता है ?
3. महासचिव की स्थिति बताइये।

इकाई-15

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

संरचना

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संगठन
 - 15.2.1 पदाधिकारी
 - 15.2.2 मुख्यालय
 - 15.2.3 न्यायालय की कार्यप्रणाली
- 15.3 न्यायालय का क्षेत्राधिकार
 - 15.3.1 ऐच्छिक क्षेत्राधिकार
 - 15.3.2 वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार
 - 15.3.3 परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार
- 15.4 सारांश

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थायी मुख्य न्यायिक अंग अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन कार्यविधि और क्षेत्राधिकार का उल्लेख करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन को समझ सकेंगे,
- न्यायालय के क्षेत्राधिकार की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- न्यायालय के निर्णयों का विश्लेषण कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के अन्तिम वर्षों में जब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की बात लगभग स्वीकृत हो रही थी और इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाए जाने लगे थे, तो अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जैसी संस्था की स्थापना अपरिहार्य समझी गयी। जिस बढ़े ऐमाने पर भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की बात हो रही थी, उसके सन्दर्भ में यह भावना भी जोर पकड़ रही थी। कि भावी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पूरे अर्थ में विश्व न्यायालय के रूप में गठित किया जाये।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के निर्माण हेतु 4 सितम्बर, 1944 को आयोजित डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना करने के प्रश्न पर विचार किया गया। यह निर्णय लिया गया कि भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में एक न्याय-विभाग का विधान अवश्य होगा। किन्तु यह तय नहीं हो सका कि पुराने न्यायालय को ही बनाये रखा जाय अथवा उसकी जगह एक नये न्यायालय का निर्माण हो। केवल इस बात पर सहमति हो पायी कि न्यायालय नया हो या पुराना, वह संयुक्त राष्ट्र संघ का अभिन्न अंग होगा, तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य स्वतः न्यायालय के सदस्य होंगे। 20 अप्रैल 1945 को सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में नये अथवा पुराने के इस कठिन प्रश्न का समाधान हो जाने के बाद नये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधान स्वीकार कर लिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में 92 से 96 तक के अनुच्छेदों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधान है। अनुच्छेद 92 का मन्तव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का न्याय सम्बन्धी प्रधान उपकरण होगा। उसका काम उस विधान के अनुसार होगा जो परिशिष्ट रूप में चार्टर के साथ संलग्न है। अनुच्छेद 94 के अनुसार प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह न्यायालय के निर्णयों का ठीक तरह से पालन करे। यदि एक पक्ष पालन न करे तो दूसरे पक्ष को अधिकार है कि सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर उपर्युक्त कार्यवाही करने के लिए आकृष्ट करे।

इस तरह चार्टर पर हस्ताक्षरकर्ता राज्य एवं शर्तों को स्वीकार करने वाले राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में विश्वास व्यक्त करते हैं, तथा इसके विभिन्न प्रावधानों का लाभ बढ़ा सकते हैं।

15.2 संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कुल 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका निर्वाचन महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा होता है। महासभा और सुरक्षा परिषद् में अलग-अलग मतदान होता है। निर्वाचित होने के लिए प्रत्याशी को महासभा तथा परिषद् दोनों में पृथक्-पृथक् बहुमत का समर्थन मिलना आवश्यक है। जिस व्यक्ति को महासभा तथा परिषद् दोनों में आधे से अधिक बहुमत प्राप्त हो जाता है उसे न्यायाधीश निर्वाचित कर देते हैं। यदि एक बार मतदान से सब स्थानों के लिए आवश्यक समवर्ती बहुमत प्राप्त न हो सके तो पुनः मतदान होगा। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन बार मतदान होगा। यदि फिर भी कोई स्थान रिक्त रह जाय तो एक संयुक्त सम्मेलन द्वारा विचार होगा जिसमें महासभा और परिषद् के तीन-तीन प्रतिनिधि होंगे। जिनके पक्ष में सम्मेलन के आधे से अधिक सदस्य हों, उनके नामों को परिषद् तथा सभा के स्वीकारार्थ भेजा जायेगा। यदि सम्मेलन कोई निर्णय नहीं कर पाये तो न्यायालय के निर्वाचित न्यायाधीश रिक्त स्थानों को भरने के लिए महासभा और सुरक्षा परिषद् में मत प्राप्त व्यक्तियों में से चुनाव करेंगे।

न्यायाधीशों का चुनाव महासभा तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है। न्यायाधीशों का चुनाव जाति भेद, रंग भेद तथा धर्म भेद के आधार पर न होकर योग्यता के आधार पर होता है। ये व्यक्ति अपने राष्ट्र में विधिवेत्ता के रूप में ख्याति पा चुके होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ माने जाते हैं। संविधान में कहा गया है कि न्यायाधीशों का नैतिक चरित्र उच्च होना चाहिए और उनमें वे योग्यताएं होनी चाहिए जो उनके देश की न्याय सम्बन्धी उच्च संस्थाओं के उच्च न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए आवश्यक हों। इतना होने पर भी यह ध्यान रखा जाता है कि एक से अधिक न्यायाधीश एक ही राष्ट्र के न हों।

15.2.1 पदाधिकारी- न्यायालय के न्यायाधीश अपने में से अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का चुनाव करते हैं। इनका कार्यकाल 3 वर्ष का होता है और इनका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है।

15.2.2 मुख्यालय- वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्थायी कार्यालय नीदरलैण्ड या हालैण्ड के हेग नगर में स्थित शान्ति भवन में है जो अमरीकी दानबीर कार्नेगी की भैंट है।

15.2.3 न्यायालय की कार्य-प्रणाली- न्यायालय के समक्ष वे सब विवाद आ सकते हैं, जिनको दोनों पक्ष उसके सामने रखना चाहें या जिनका संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर अधिकारी किसी संघीय के अनुसार न्यायालय में लाया जाना अनिवार्य हो। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मुकदमों में वादी और प्रतिवादी के बीच राष्ट्र ही हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं। ऐसे राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं हैं, अपने विवाद का निर्णय इस न्यायालय द्वारा किया सकते हैं, किन्तु सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों को मानना पड़ेगा। सुरक्षा परिषद् भी ऐसी शर्तें नहीं रख सकती जिनके कारण गैर-सदस्य राष्ट्रों में असमानता (छोटे-बड़े का भेद) दृष्टिगत हो।

न्यायालय के विधान के मन्तव्य के अनुसार न्यायालय स्वयं या विवाद में संलग्न एक पक्ष की प्रार्थना पर कार्यवाही को मुक्त रख सकता है। न्यायालय स्वयं इस बात का निर्धारण करता है कि किसी विवाद में उसका क्षेत्राधिकार है या नहीं? न्यायालय के निर्णय बहुमत के आधार पर उद्घोषित किये जाते हैं। यदि बहुमत प्राप्त न हो तो अध्यक्ष निर्णयक मत का प्रयोग कर सकता है। यदि कोई न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से सहमत न हो तो वह अपने पृथक् विचारों को संलग्न कर सकता है। न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती है। यद्यपि नवीन तथ्यों के प्रकाश में आने पर न्यायालय स्वयं अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य यदि किसी विवाद के पक्षकार हों तो वे निर्णय का अनुपालन करने के लिए वचनबद्ध हैं। यदि विवाद में संलग्न पक्ष न्यायालय के निर्णय को स्वीकार नहीं करता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् की सहायता ले सकता है।

15.3 न्यायालय का क्षेत्राधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की उत्तराधिकारी संस्था है। अतः इसका अधिकार क्षेत्र पुराने न्यायालय के समान है। वैसे देखने से लगता है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार विश्व व्यापी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य-राज्य अनिवार्यतः इसके भी सदस्य हैं और अपना अन्तर्राष्ट्रीय विवाद इसके समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

प्रत्येक मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य नहीं है। सेनक्रांसिस्को सम्मेलन में न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार के प्रश्न पर काफी विचार-विमर्श हुआ था। सम्मेलन में आये हुए अधिकांश देशों के प्रतिनिधि चाहते थे कि न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्रदान किया जाये। परन्तु संवित तंत्र और संयुक्त राज्य अमेरिका भिन्न-भिन्न कारणों के चलते न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। परिणामस्वरूप न्यायालय के विधान में उसके अनिवार्य क्षेत्राधिकार की कोई व्यवस्था नहीं की गयी। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अपने विवादों को न्यायालय के समक्ष रखने के लिए बाध्य नहीं है इस प्रकार न्यायालय की क्षमता एवं क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

15.3.1 ऐच्छिक क्षेत्राधिकार- न्यायालय के विधान के 36 वें अनुच्छेद के अनुसार न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है, जिनसे सम्बन्धित राज्य पारस्परिक सहमति से उन विवादों को न्यायालय के विचारार्थ उपस्थित करें।

इस प्रकार कोई भी मामला विवादग्रस्त राज्यों की सहमति से ही न्यायालय के समक्ष लाया जा सकता है। किसी भी राज्य को न्यायालय के समक्ष आने के लिए इसलिए बाध्य नहीं किया जा सकता कि उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई विवाद लाया गया है। प्रतिवादी राज्य की सहमति से ही न्यायालय किसी मुकदमें की सुनवाई कर सकता है। राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था में ऐसी स्थिति की सहमति से ही न्यायालय किसी मुकदमें की सुनवाई कर सकता है। राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था में ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्योंकि राष्ट्रीय न्यायालयों को अपने राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों पर अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका में दीवानी तथा फौजदारी मामलों में प्रतिवादी को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होना ही पड़ता है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें न्यायालय की मानहानि का दण्ड भुगतना पड़ता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यक्तियों का स्थान सम्प्रभु राज्य ले लेते हैं। जो अपनी सहमति के बिना न्यायालय में उपस्थित होने के लिए तैयार ही नहीं होते। परिणाम स्वरूप उनको सहमति के बिना न्यायालय किसी मामले पर विचार ही नहीं कर सकता है।

15.3.2 वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार- न्यायालय के विधान 36 (2) के अनुसार कोई भी राज्य किसी भी समय यह घोषणा कर सकता है कि यदि अन्य राज्यों ने ऐसा ही किया हो तो वह निम्नलिखित चार बातों से सम्बन्धित सभी वैधानिक विवादों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वतः अपने लिए आवश्यक मानते हैं:

- (1) किसी सन्धि की व्याख्या
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई प्रश्न
- (3) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को भंग करने वाले तथ्यों की स्थिति तथा
- (4) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन करने पर उसके लिए दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा और स्वरूप।

राज्यों की घोषणा द्वारा उत्पन्न किया गया न्यायालय का वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार भी न्यायालय का ऐच्छिक क्षेत्राधिकार है। यह तभी उत्पन्न होता है जब राज्यों ने किसी प्रतिज्ञा द्वारा न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वीकार किया हो। इस क्षेत्राधिकार की दुर्बलता यह है कि राज्य घोषणा करते समय उसे शर्तों से प्रतिबन्धित कर सकते हैं। इस तरह न्यायालय का क्षेत्राधिकार अत्यन्त सीमित और राज्यों की इच्छा एवं स्वीकारोक्ति पर निर्भर करता है। राज्यों को न्यायालय के समक्ष विवाद प्रस्तुत करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। प्रो. ओपेनहाइम के अनुसार, सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है।

15.3.3 परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार- अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य भी किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श मांग सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार-क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना-पत्र में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज होते हैं जो प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं। न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है, जिसे मानने के लिए किसी भी संस्था को बाध्य नहीं किया जा सकता है।

15.4 सारांश

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं फिर भी जब से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाया जा चुका है। एम. सी. छागला के अनुसार, “यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण न्यायालय है। यद्यपि उसके पास वे शक्तियाँ एवं अधिकार नहीं जो इसे वास्तव में प्राप्त होने चाहिए थे, फिर भी यह महान् उद्देश्यों की एक साकार प्रतिमा है।” न्यायालय के कार्य संचालन में विभिन्न देशों तथा गुटों ने बाधा डाली है। राज्यों की अवहेलना तथा असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण वह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है। फिर भी अनेक कठिनाइयों के बावजूद न्यायालय के कीर्तिमान को नगण्य नहीं माना जा सकता है। अनेक मामलों में न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय विषमता और तनाव कम करने में योगदान किया है। उदाहरणतः ग्रेट ब्रिटेन और अल्बानिया के मध्य कोर्फू चैनल विवाद, कोलम्बिया और पेरु के मध्य पेरुवियन राजनीतिक नेता हया डे ला टोरे को शरण देने के सम्बन्ध में विवाद, नार्वे और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य मछली विवाद, मोरक्को में अमरीकी नागरिकों के अधिकार सम्बन्धी विवाद, एंगलो-ईरानियन तेल विवाद, भारतीय प्रदेशों से पूर्तगाल को भार्ग देने के अधिकार सम्बन्धी विवाद आदि पर अपने निर्णय दिये हैं। इन निर्णयों के अतिरिक्त न्यायालय ने विवादों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करके उसके विकास में सहयोग दिया है। इस न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इसकी उपयोगिता, प्रासंगिकता तथा महत्व निर्विवाद है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संगठन और क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन कैसे होता है।
2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कितनी हैं ?
2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्यालय कहाँ स्थित है ?

इकाई-16

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य एवं उपलब्धियाँ

संरचना

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्य
 - 16.2.1 सोवियत संघ-ईरान विवाद
 - 16.2.2 यूनान विवाद
 - 16.2.3 सोरिया-लेबनान का मामला
 - 16.2.4 बर्लिन का संकट
 - 16.2.5 कोरिया संकट
 - 16.2.6 बर्मा में चीनी सेनाएं
 - 16.2.7 कश्मीर समस्या
 - 16.2.8 स्वेज नहर संकट
 - 16.2.9 हंगरी का प्रश्न
 - 16.2.10 कांगों की समस्या
 - 16.2.11 यमन की समस्या
 - 16.2.12 साइप्रस की समस्या
 - 16.2.13 डोमोनिकी गणराज्य
 - 16.2.14 अरब-ईजरायल
 - 16.2.15 दक्षिणी रोडेशिया
 - 16.2.16 वियतनाम
 - 16.2.17 नाइजीरिया
 - 16.2.18 चेकोस्लोवाकिया संकट
 - 16.2.19 अफगानिस्तान की समस्या
 - 16.2.20 फॉकलैण्ड विवाद
 - 16.2.21 ग्रेनेडा घे अमरीकी हस्तक्षेप
 - 16.2.22 ईरान-इराक युद्ध विराम
 - 16.2.23 नामांबिया की स्वतन्त्रता
 - 16.2.24 अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी
 - 16.2.25 कुवैत को इराकी कब्जे से मुक्त कराना
 - 16.2.26 युगोस्लाविया
 - 16.2.27 सोमालिया
 - 16.2.28 कम्बोडिया
 - 16.2.29 लेबनान में संयुक्त राष्ट्र अन्तरिम बल
 - 16.2.30 सियरा लियोन

- 16.2.31 कोसोवो
 16.2.32 खाड़ी संकट
 16.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर राजनीति कार्य
 16.3.1 आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य
 16.3.2 सामाजिक विकास सम्बन्धी कार्य
 16.3.3 शैक्षणिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी कार्य
 16.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ
 16.4.1 राजनीतिक विवादों का समाधान
 16.4.2 साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का उन्मूलन
 16.4.3 गैर राजनीतिक क्षेत्रों में सफलता
 16.4.4 व्यापक समर्पक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का निर्माण करने का मंच
 16.4.5 संयुक्त राष्ट्र संघ एक नियन्त्रक शक्ति के रूप में
 16.4.6 अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण
 16.4.7 नैतिक दबाव का साधन
 16.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास
 16.4.9 स्वतन्त्रता का प्रतीक
 16.5 संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलताएं
 16.5.1 निरस्त्रीकरण में असफलता
 16.5.2 सुरक्षा परिषद् द्वारा सामूहिक कार्रवाई पर प्रश्न चिह्न
 16.5.3 संघ के सदस्य राष्ट्रों द्वारा चार्टर की अवहेलना करना
 16.5.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक स्थिति का कमज़ोर होना
 16.5.5 संयुक्त राष्ट्र संघ अमरीका के हाथ की कड़पुतली
 16.5.6 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार का प्राप्त न होना
 16.5.7 स्वतन्त्र सेना का अभाव
 16.6 सारांश

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बहाल करने में जन्म से अब तक उसकी बदलती भूमिका क्या रही है, इन सभी का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- शीत युद्ध के पूर्व और पश्चात् संयुक्त राष्ट्र की बदलती भूमिका समझ सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनैतिक एवं गैर राजनैतिक कार्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ की कठिपय उपलब्धियों और असफलताओं का विश्लेषण कर सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका की सीमाओं तथा संभावनाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

दो विश्व युद्धों तथा अणु-युग के उदय की भूमिका पर स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य विश्व में शान्ति कायम रखने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था? अतः इसका घोषणा-पत्र का आरम्भ आने वाली पीढ़ियों को युद्ध के अभिशाप से मुक्ति दिलाने के पवित्र संकल्प से किया गया और राष्ट्रों के बीच उत्पन्न राजनीतिक और राजनीयिक विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाना संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य निर्धारित किया गया। इस प्रकार चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौते की व्यवस्थाएं की गई हैं। जब से संघ की स्थापना हुई है तब से आज तक, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा

सम्बन्धी अनेक विवाद इसके समक्ष उपस्थित हुए हैं। इन विवादों को सुलझाने में यद्यपि संघ सदैव सफल नहीं हुआ, तथापि अनेक बार युद्ध की सम्भावनाओं को टालकर विश्व-शान्ति की दिशा में उसने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म के बाद ही इसे ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा जो उस समय तृतीय विश्व युद्ध को जन्म दे सकती थीं। बर्लिन समस्या तथा कोरिया युद्ध ऐसे प्रकरण थे जिनसे तात्कालिक परिस्थितियों में राजनीतिज्ञों और जन-साधारण को युद्ध की सम्भावनाएं दिखायी पड़ती थीं। वर्तमान युग में राजनीति के क्रिया-कलाप केवल राजनीति के प्रकरण से ही बंधे नहीं हैं, अनेक समस्याएं राजनीतिक स्वरूप को लेकर विवाद के रूप में शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा बन सकती हैं। अणु शस्त्रास्त्रों के विस्तार को रोकने का प्रश्न, कहीं रंग-भेद नीति, कहीं सीमा-विवाद तथा अन्य क्षेत्रीय या स्थायी हितों से सम्बद्ध समस्याएं, विवादों का कारण बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में यदि उस पर पूर्ण नियन्त्रण न भी पाया जा सके और उसे विश्व-शान्ति को समाप्त कर देने वाली परिस्थितियों में न विकसित होने दिया जाय तो यह भी अपने आप में एक सफलता है, जो विश्व राजनीति की गतिविधियों को प्रभावित करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसी संस्था है जहां विवादों के निपटाने के लिए एक ओर तो विचार-विमर्श किया जाता है दूसरी ओर युद्ध की सी स्थितियों अथवा सम्भावित स्थितियों के निराकरण के लिए प्रस्तावों के रूप में उपाय सुझाये जाते हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन एक सरकार का संगठन नहीं है और न ही इसकी कार्य-प्रणाली ही सरकारी है फिर भी यह अपने सदस्यों के सहयोग से जो कदाचित आज विश्व-युद्ध को एक प्रकार से अमान्य कर चुके हैं, पर्याप्त रूप से विवाद की स्थिति पर नियन्त्रण पाने, उसका निराकरण करने अथवा उसे विस्तृत विवाद का क्षेत्र न बनाने देने के लिए आधार प्रस्तुत करता है। यहां विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को संक्षिप्त रूप से देखने से संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकेगा—

16.2 संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्य

संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्य राजनीतिक समस्याओं पर विचार करना है। अतः साधारण मनुष्य उसकी सफलताओं और विफलताओं का मूल्यांकन उसके राजनीतिक कार्यों के आधार पर ही करता है। चूंकि राजनीतिक समस्याओं का संसार के समाचार-पत्रों में अधिक प्रचार होता है इसलिए यदि राजनीतिक क्षेत्र में संघ को सफलता प्राप्त हो जाती है तो विश्व भर में उसका प्रचार हो जाता है। चार्टर के अन्तर्गत राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने का महत्वपूर्ण कार्य मुख्य रूप से सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में महासभा भी इनमें योगदान कर सकती है। महासभा की शक्तियों पर केवल एक प्रतिबन्ध है कि वह उन राजनीतिक समस्याओं पर विचार नहीं कर सकती जो सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन हैं जब तक कि सुरक्षा परिषद् उसे ऐसा करने की अनुमति न दे दे। विवादों को तय करने का सुरक्षा परिषद् के पास कोई विशेष विकल्प नहीं है। वह अनेक विकल्पों में से समयानुसार किसी भी को अपना सकती है। सुरक्षा परिषद् द्वास के बाल राजनीतिक विवादों पर ही विचार किया जा सकता है, जबकि वैधानिक विवादों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विचार करता है। अपने जीवन के अल्प काल में संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष कई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आये हैं जिनको उसने सुलझाने का प्रयास किया है। उनका समाधान करने में जहाँ इसे उल्लेखनीय सफलताएं मिली हैं, वहां महाशक्तियों की अडंगेबाजियों के फलस्वरूप उसे गम्भीर असफलताओं का मुख भी देखना पड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष लाये गये कुछ महत्वपूर्ण विवादों तथा उनको सुलझाने के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयासों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से है :

16.2.1 सोवियत संघ-ईरान विवाद- पहला अन्तर्राष्ट्रीय विवाद जो संयुक्त राष्ट्र संघ के विचारार्थ उपस्थित किया गया, ईरान से सम्बन्धित था। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् को सूचना दी कि सोवियत फौजें उसके आजरवाइजान प्रान्त में घुसी हुई हैं और इसे खाली नहीं कर रही हैं। उसने यह भी आरोप लगाया कि सोवियत रूस उसके घेरलू मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के उत्पन्न होने की संभावना है। तब ईरान ने सुरक्षा परिषद् में शिकायत की। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी देशों ने ईरान का समर्थन किया। जवाब में सोवियत प्रतिनिधि ने परिषद् से प्रार्थना की कि यूनान में उपस्थित ब्रिटिश सैनिकों को निकालने के लिए कार्यवाही की जाए। सोवियत संघ ने इसी विवाद में अपने बीटों का प्रथम प्रयोग किया। सुरक्षा परिषद् ने सोवियत संघ से आग्रह किया कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी सेनाएँ हटा लें। बाद में मामला दोनों देशों की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझा लिया गया। इस प्रकार इस क्षेत्र में शान्ति स्थापना हो गयी।

16.2.2 यूनान विवाद- 3 जनवरी, 1946 को सुरक्षा परिषद् से यूनान ने शिकायत की कि विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद भी ब्रिटिश सेनाएँ उसकी भूमि पर जमी हुई हैं और यूनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही हैं। इस पर

सुरक्षा परिषद् में विचार-विमर्श के समय यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य समझती है। इस समिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय किया। दिसम्बर, 1946 में यूनान ने परिषद् से शिकायत की कि पड़ोसी साम्यवादी देश छापामारों को सहायता दे रहे हैं और यूनान में तनाव उत्पन्न कर रहे हैं। सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 में इस शिकायत की पुष्टि की। इस पर परिषद् ने जब आगे जाँच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया, तो सोवियत संघ ने बीटों का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जाँच-पड़ताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बुल्गारिया और यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में तीन प्रमुख कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया-

- (1) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देश छापामारों को पूरी सहायता नहीं दे सके,
- (2) टीटो-स्टालिन विवाद के कारण यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया की सहायता बंद हो गई एवं
- (3) संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूरी-पूरी आर्थिक व सैनिक सहायता मिली।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से यूनान की समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान सम्भव हो सका तथा इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित हो गई।

16.2.3 सीरिया-लेबनान का मामला- सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में सीरिया तथा लेबनान ने अपने देश से फ्रांसीसी सेना हटाने की मांग की थी। 4 फरवरी, 1946 को उन्होंने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत रखी। उन्होंने कहा कि विदेशी सेनाओं की उपस्थिति, संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों की अवहेलना करती थी, अतः इन सेनाओं को शीशातिशीश हटाने की व्यवस्था की जाय। संयुक्त अमरीका ने इस पर यह प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा परिषद् को विश्वास है कि वे फौजें यथासम्भव शीघ्र ही हटा ली जायेंगी। सोवियत संघ ने इसका विरोध करते हुए यह प्रस्ताव रखा कि वे सेनाएँ तत्काल हटा ली जायें। पहला प्रस्ताव सोवियत संघ के निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण गिर गया। फिर भी ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों ने प्रस्ताव की भावना को स्वीकार करते हुए यह घोषणा की कि वे अपनी फौजें हटा लेंगे और बाद में उन्होंने यह वचन पूरा भी किया। इस प्रकार इस मामले में भी संघ को सफलता मिली।

16.2.4 बर्लिन का प्रश्न- 1945 के पोट्स्डम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन और अमरीका के नियन्त्रण में विभक्त कर दिया गया था। इसका पूर्वी भाग सोवियत रूस के तथा पश्चिमी बर्लिन के तीन भाग फ्रांस, अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के नियन्त्रण में थे। यह भी तय हुआ था कि दोनों जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जायेगी। परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नयी मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर सोवियत संघ ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल-थल मार्ग बंद कर दिये। इस पर फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका ने सुरक्षा परिषद् से यह शिकायत की कि सोवियत संघ द्वारा जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्रों और बर्लिन के मध्य यातायात तथा संचार के साधनों पर प्रतिबंध लगा देने से एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई है। सोवियत संघ ने पश्चिमी शिकायत का विरोध करते हुए यह मत प्रकट किया कि सुरक्षा परिषद् को बर्लिन के सम्बन्ध में विचार करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। अंततः चारों देशों के विदेश मंत्रियों की पश्चिम न समझौता किया और सोवियत संघ ने बर्लिन का घेरा उठा लिया। इस प्रकार समस्या का समाधान संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहर हुआ, परन्तु सुरक्षा परिषद् ने भी इसमें योगदान दिया।

16.2.5 कोरिया संकट- 25 जून, 1950 को संयुक्त राष्ट्र को सूचना दी गयी कि उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया है। उसी दिन सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई और उसमें यह घोषणा की गयी कि इस सशस्त्र आक्रमण से शान्ति भंग हुई है। परिषद् ने युद्ध विराम की मांग की परन्तु दो-तीन दिन तक युद्ध चलते रहने पर परिषद् ने सिफारिश की कि संघ के सदस्यगण दक्षिण कोरियाई गणराज्य को उस सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तथा उस क्षेत्र में शान्ति की स्थापना करने में सहायता दें। 27 जून, 1950 को संघ ने यह घोषणा की कि उसने अपनी वायु तथा जल सेनाओं को और बाद में स्थल सेनाओं को भी दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए आज्ञा दे दी है। कोरिया का युद्ध वास्तव में संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध था। 1 वर्ष के युद्ध के बाद दोनों पक्षों में विराम-सन्धि की चर्चा चलने लगी। भारत की अध्यक्षता में तटस्थ देशों का आयोग बनाया गया एवं 27 जुलाई, 1953 को पानमुनजोन में कोरिया युद्ध की विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर होने से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी पहली सैनिक कार्यवाही समाप्त हुई। कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रभावशाली और सफल कार्यवाही के अनेक कारण थे। पहला कारण सोवियत संघ द्वारा परिषद् का

बहिष्कार था। दूसरा कारण जापान में अमरीकी फौजों की उपस्थिति और अमरीका द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को इन फौजों को लड़ने के लिए सहायता प्रदान करना था।

16.2.6 बर्मा में चीनी सेनाएं- सन् 1953 में बर्मा ने महासभा से शिकायत की कि उसके प्रदेश में चीनी सेनाएं घुस आई हैं। ये बर्मा में विद्रोह भड़काने का कार्य कर रही हैं। महासभा ने एक प्रस्ताव में बर्मा में विदेशी सैनिकों की उपस्थिति की निन्दा की। कुछ देशों की 'संयुक्त सैनिक समिति' ने बर्मा से चीनी सैनिकों को निकालना प्रारम्भ किया और यह समस्या शान्तिपूर्वक हल हो गयी।

16.2.7 कश्मीर समस्या- 15 अगस्त, 1947 को भारतीय उपमहाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्र - भारत और पाकिस्तान अस्तित्व में आये। स्वतन्त्रता देने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को यह स्वतन्त्रता दे दी कि वे अपनी इच्छानुसार, चाहे तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो सकती हैं। कश्मीर भी एक देशी रियासत थी। इसने स्वतन्त्र रहने का निर्णय लिया। पाकिस्तान की इच्छा प्रारम्भ से ही इसको जबर्दस्ती हड़पने की थी, अतः 22 अक्टूबर, 1947 को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के कबाइलियों द्वारा इस पर आक्रमण करवा दिया। पाकिस्तान की सेना ने इस आक्रमण में भाग लिया। राजधानी श्रीनगर का पतन शान्तिकट देखकर जम्मू-कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरिसिंह ने 26 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार से कश्मीर को भारत में विलय करने तथा अविलम्ब सैनिक सहायता प्रदान करने का अनुरोध किया। उन्होंने राज्य के भारत में विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद भारत सरकार द्वारा जम्मू-कश्मीर में भारतीय सेनाओं द्वारा पाकिस्तानी आक्रमणकारियों को खदेड़ा प्रारम्भ किया गया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। भारतीय सेनाओं द्वारा जम्मू-कश्मीर का बहुत बड़ा भाग मुक्त करा लिया गया।

1 जुलाई, 1948 को भारत ने सुरक्षा परिषद में यह शिकायत की कि पाकिस्तान के इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का संकट उत्पन्न हो गया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण, स्वयं भारत पर आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने घोषणा की कि कश्मीर का भारत में स्थायी विलय वहाँ जनमत संग्रह के आधार पर होगा। सुरक्षा परिषद् ने एक मध्यस्थता आयोग नियुक्त किया जिसे युद्ध बन्दियों की अदला-बदली और जनमत संग्रह का कठिन कार्य सौंपा गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिए दोनों देशों पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए जिन्हें पाकिस्तान ने भंग कर दिया। जम्मू-कश्मीर में परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गईं और भारत तथा पाकिस्तान में समझौता कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास सफल नहीं हो सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। 1954 में जम्मू-कश्मीर संविधान सभा ने राज्य के भारत में विलय का विधिवत् अनुमोदन कर दिया। 1956 में राज्य के लिए एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा जम्मू-कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का अभिन्न अंग बन गया। इससे कश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई अर्थ नहीं रह गया। पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उतारा गया, लेकिन भारत के दृढ़ रूपये और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत संघ द्वारा किये जाने वाले निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके। सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धों के बाद स्थिति में निर्णायक परिवर्तन आया और पाकिस्तान को यह अहसास हो गया कि सुरक्षा परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा। अभी भी पाकिस्तान कश्मीर प्रश्न को विवादास्पद मानता है, जबकि भारत इसे अपना अभिन्न अंग मानकर इसे विवाद का विषय नहीं मानता है।

16.2.8 स्वेज नहर संकट- 1869 में निर्मित स्वेज नहर का संचालन स्वेज नहर कम्पनी करती थी, जिसमें ब्रिटेन और फ्रेंच के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार नहर-क्षेत्र में अपनी सेना रखती थी। परन्तु 26 जुलाई, 1956 को फ्रांस के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा करते हुए मिस्र में स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति को जब्त कर लिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने इसका विरोध किया और वे इस मामले को सुरक्षा परिषद् में ले गये। परन्तु सोवियत निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् कोई कार्रवाई नहीं कर सकी। 29 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा से इजरायल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। 31 अक्टूबर, 1956 को फ्रांस और ब्रिटेन ने भी स्वेज नहर की सुरक्षा के बहाने पोर्ट सर्हिद पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांसीसी निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा सकी। 1 नवम्बर, 1956 से आरम्भ होने वाले महासभा के पहले विशेष अधिवेशन में इस पर बड़ा कदु तथा उग्र विवाद हुआ। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा ने संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव, जिसमें ब्रिटिश, फ्रांस तथा इजरायली सैनिक कार्रवाई पर चिन्ता व्यक्त करते हुए अविलम्ब युद्ध-

विराम की माँग की जिसे भारी बहुमत से पारित कर दिया। 4 नवम्बर, 1956 को महासभा ने संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड से युद्ध विराम की देखभाल के लिए एक संयुक्त राष्ट्र संघीय आपातकालीन सेना की योजना प्रस्तुत करने को कहा। प्रारम्भ में ब्रिटेन और फ्रांस ने इस प्रस्ताव को मानने में आनाकानी की। 5 नवम्बर को सोवियत संघ ने धमकी दी कि यदि एक निश्चित समय में मिस्र पर हमला बंद नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी। ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध बन्द कर दिया। 22 दिसम्बर, 1956 तक ब्रिटिश और फ्रांसीसी सेनाएँ मिस्र से हट गयी। मिस्र में युद्ध बंद करने तथा विदेशी सेनाएँ हटाने में संयुक्त राष्ट्र संघ को पूरी सफलता मिली।

16.2.9 हंगरी का प्रश्न- द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद हंगरी सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया था। 18 अगस्त, 1949 को वहाँ सोवियत समर्थक 'जनता का गणराज्य' स्थापित हुआ। 23 अक्टूबर, 1956 को वहाँ सोवियत संघ विरोधी क्रान्ति हुई जिसके परिणामस्वरूप इमरेनेगी के प्रधानमंत्रित्व में एक संयुक्त सरकार का निर्माण हुआ। इस सरकार ने बारसा-पैकट का परित्याग और संयुक्त राष्ट्र संघ से अपनी तटस्थता की रक्षा करने की प्रार्थना की। परन्तु शीघ्र ही सोवियत संघ समर्थक जानोस काडार ने एक सामान्तर सरकार की स्थापना कर सोवियत संघ से सहायता माँगी। 4 नवम्बर को रूसी सेनाएँ काडार सरकार की सहायता के लिए हंगरी में घुस आईं। इमरेनेगी ने सुरक्षा परिषद् से अपने देश को रक्षा की प्रार्थना की। 4 नवम्बर, 1956 को सुरक्षा परिषद् में संयुक्त राज्य अमरीका ने यह प्रस्ताव रखा कि यह परिषद् सोवियत संघ को हंगरी में सशस्त्र हस्तक्षेप रोकने को और उसे अपनी सेनाओं को हंगरी से जल्दी से जल्दी बुलाने को कहे। रूसी निषेधाधिकार के कारण यह प्रस्ताव रद्द हो गया। सुरक्षा परिषद कोई कार्रवाई नहीं कर सकी। सोवियत संघ के विघटन तक यहाँ सोवियत समर्थक सरकार का अस्तित्व बना रहा।

16.2.10 कांगों की समस्या- कांगों अफ्रीका महाद्वीप का महत्वपूर्ण राष्ट्र है। सन् 1960 में बेल्जियम ने इसे स्वतन्त्रता प्रदान की। यहाँ के छः प्रान्तों में बसी हुई विभिन्न जातियाँ स्वार्थी और महत्वाकांक्षी नेताओं के बहकावे में आकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगीं। इससे गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस गृह-युद्ध की-सी स्थिति ऐसे अपने नागरिकों की सुरक्षा का तर्क देते हुए बेल्जियम सरकार ने अपनी सेनाएँ कांगों में भेज दीं। इस पर 12 जुलाई, 1960 को कांगो की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र से यह प्रार्थना की कि बेल्जियम के आक्रमण से कांगो की रक्षा के लिए तुरन्त सैनिक सहायता दी जावे। सुरक्षा परिषद् के निर्णय पर संयुक्त राष्ट्र सेना के 10 हजार से कुछ अधिक सैनिक कटंगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रान्तों में पहुंच गये। महासचिव हैमरशोल्ड ने स्थिति को गम्भीर देखकर बेल्जियम से अपील की कि वह कटंगा से अपनी सेनाएँ बाप्स बुला ले। 1961 में कांगो की स्थिति का अध्ययन करने और वहाँ के नेताओं से प्रत्यक्ष बातचीत करने के उद्देश्य से स्वयं महासचिव कांगो के लिए रवाना हुए किन्तु मार्ग में वायुवान दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उनका देहान्त हो गया। नए महासचिव ऊ-थॉट ने इस दिशा में प्रयत्न जारी रखे। अन्त में विरोधी प्रान्त कटंगा ने घुटने टेक दिए और जनवरी, 1963 में कांगो में शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ का शान्ति-स्थापना का कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ। यह संयुक्त राष्ट्र संघ की बहुत बड़ी सफलता थी।

16.2.11 यमन की समस्या- 19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गई। 12 सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा यमन में राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गई और क्रान्तिकारी परिषद् ने वहाँ गणराज्य की स्थापना कर दी। शहजादा ने सऊदी अरब में जिद्दा नामक स्थान पर यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनों यमन सरकारें एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्न करती रहीं। अक्टूबर के समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों के मध्य भीषण संघर्ष शुरू हो गया अर्थात् यमन में गृहयुद्ध की स्थिति बन गई। सऊदी अरब और जार्डन ने राजतन्त्रवादियों की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृहयुद्ध को व्यापक बनाने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने हस्तक्षेप किया। मार्च, 1963 में संघ की ओर से रात्फ बुँच ने दोनों पक्षों को इस बात के लिए सहमत करा लिया कि वे अपने-अपने सैनिकों को बाप्स बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान करें। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों के फलस्वरूप शनैः शनैः बाह्य शक्तियों ने अपनी सेनाएँ हटा ली और यमन में शान्ति स्थापित हो गई।

16.2.12 साइप्रस की समस्या- 13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश दासता से मुक्त हुआ। वहाँ के नवीन संविधान में बहुसंख्यक यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामंजस्य और शान्ति कायम रखने की व्यवस्था की गई। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान में ऐसे संशोधन का प्रस्ताव रखा जिसमें दोनों जातियों के मध्य सन्तुलन और सामंजस्य समाप्त हो गया। फलस्वरूप दोनों जातियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। इस समस्या का समाधान करने के लिए यूनान, तुर्कों और साइप्रस के बीच

इंग्लैण्ड में शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस में नाटो सेनाएं भेजने का बड़यन्त्र रचा। यूनानी राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963 में सारा मामला सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत कर संयुक्त राष्ट्र संघ से पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति सम्भालने की माँग की। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 1964 में साइप्रस में शान्ति स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की शांति सेना भेजने का निर्णय किया गया। शीघ्र ही शान्ति सेना साइप्रस पहुँच गई जिससे वहां कानून और व्यवस्था स्थापित रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपातकालीन सेना की अधिक बढ़ाई जाती रही। साइप्रस में स्थायी शान्ति स्थापित होते ही इस आपातकालीन सेना को हटा लिया गया। वर्तमान में साइप्रस में शान्ति का वातावरण है तथा इस समस्या का स्थायी समाधान हो गया है।

16.2.13 डोमोनिकी गणराज्य- वैस्टइण्डीज के इस छोटे-से टापू में 25 अप्रैल, 1965 को एकाएक गृह-युद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों ने अमरीका समर्थित सरकार को उखाड़कर शासन पर अधिकार जमाने के लिए भीषण युद्ध शुरू कर दिया। अमरीकी नागरिकों की रक्षा के बहाने अमरीका ने अपने 14 हजार सैनिक इस टापू पर भेज दिये। मई, 1965 को सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् की बैठक में यह प्रस्ताव रखा कि अमरीका ने डोमोनिकी गणराज्य के आन्तरिक मामले में जो हस्तक्षेप किया है उस पर विचार किया जाये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना एक मिशन यहाँ स्थापित किया एवं जब चुनाव के बाद नवी सरकार स्थापित हो गयी। तब संयुक्त राष्ट्र मिशन को सन् 1966 में वापस बुला लिया गया। यह संघ की एक महान् सफलता थी। अब इस समस्या का भी समाधान हो गया है।

16.2.14 अरब-इजरायल- 1956 में स्वेज विवाद में युद्ध होने पर संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी, ताकि इजरायल और अरब राष्ट्रों में पुनः किसी सशस्त्र संघर्ष का अवसर न आये। 18 मई, 1967 को मिस्र के विदेश मन्त्री डॉ. महमूद ने महासचिव से इस सेना को गाजा पट्टी से शीघ्र हटा लेने को कहा। महासचिव ने इसके उत्तर में कहा कि शान्ति सेना हटाने का परिणाम अच्छा नहीं होगा। लेकिन सेना मिस्र सरकार की सहमति से ही वहां रह सकती थी, अतः सेना को वहां से हट जाने के लिए आदेश जारी कर दिये गये।

संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना के हट जाने का परिणाम यह हुआ कि अरब राष्ट्रों और इजरायल की सेनाएँ फिर आमने-सामने हो गयीं। इस समय अरब राज्य इजरायल के विरुद्ध अनर्गल प्रचार कर रहे थे, ऐसी स्थिति में इजरायल ने 5 जून, 1967 को अचानक अरब राज्यों पर आक्रमण कर दिया। छः दिनों बाद सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से जिस समय युद्ध-विराम हुआ, उस समय तक इजरायल की सेना अपने देश के क्षेत्र के चार गुने क्षेत्र पर अधिकार कर चुकी थी। जहाँ तक इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने का प्रश्न था सन् 1948 में इजरायल की आक्रमणकारी कार्यवाहियों की चिन्दा की जा चुकी है। इसके बाद भी स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हुई। दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा, इसका परिणाम था 1973 का अरब-इजरायल संघर्ष। इस युद्ध में भी मिस्र को पराजय का सामना करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से दोनों देशों के बीच युद्ध विराम हुआ। इसके बाद अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर के प्रयत्नों से मिस्र और इजरायल के बीच “कैम्प डेविड समझौता” हुआ। लेकिन इससे समस्या का स्थायी समाधान नहीं निकल सका। संयुक्त राष्ट्र संघ प्रयत्नों के कारण इजरायल तथा मिस्र भी शान्ति है। लेकिन जोर्डन, सीरिया, लेबनान तथा फिलस्तीन के साथ इजरायल के विवाद बरकरार हैं। इजरायल ने स्वायत्तशासी फिलस्तीन की स्थापना की है, और इस क्षेत्र से यहूदी बसियों को भी हराने का निर्णय लिया है फिर भी इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हुई है।

16.2.15 दक्षिणी-रोडेशिया- अफ्रीका की एक ज्वलंत समस्या दक्षिणी रोडेशिया के संकट के रूप में नवम्बर 1965 में उग्र रूप में प्रकट हुई। 11 नवम्बर, 1965 को इआन स्मिथ की अल्पसंख्यक गोरी सरकार ने एकपक्षीय स्वतान्त्रता की घोषणा कर दी। 13 नवम्बर को महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके दक्षिणी रोडेशिया की सरकार के कार्य की घोर निन्दा की तथा सब सदस्य राज्यों से अनुरोध किया कि वे इसके साथ व्यापार करना बन्द कर दें। महासभा ने नवम्बर, 1967 में शक्ति का प्रयोग करने पर बल दिया, किन्तु ब्रिटेन ने ऐसी कार्यवाही नहीं की। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप 17 अप्रैल 1980 को भीषण छापामार युद्ध के बाद रोडेशिया स्वतन्त्र हो गया और जिम्बाब्वे के नाम से संयुक्त राष्ट्र का 153 वां सदस्य बन गया। अब यहाँ राबर्ट मुगाबे के नेतृत्व में स्वतंत्र सरकार कार्य कर रही है।

16.2.16 वियतनाम- हिन्द चीन के बारे में 1954 के जेनेवा समझौते को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। 1960 से ही वियतनाम संघर्ष में तो महाशक्तियां रूचि लेने लगीं और 1964 में तो अमरीका की सैनिक

गतिविधियों उग्रतर हो गयीं। 1974 तक वियतनाम का संघर्ष चलता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी समस्या को सुलझाने के लिए पहल अवश्य की थी, किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। अब वहां से अमरीकी फौजें स्वदेश वापस चली गयी हैं और वियतनाम की समस्या वस्तुत हल हो गयी है। दोनों वियतनामों का एकीकरण हो चुका है, और यहां साम्यवादी सरकार सत्ता में है।

16.2.17 नाइजीरिया- 1960 में नाइजीरिया ने ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त की। इसके कुछ ही समय बाद वहां गृह-युद्ध छिड़ गया तथा 1967 में बियाफ्रा का भाग इससे अलग हो गया। बियाफ्रा के स्वतन्त्र राज्य की घोषणा के फलस्वरूप नाइजीरिया में भीषण युद्ध छिड़ गया। संघीय नेताओं ने बियाफ्रा के प्रदेश को चारों ओर से घेरकर वहां के लोगों को भूखा मारने की नीति अपनायी। जनवरी, 1970 को बियाफ्रा के सेनापति के पलायन से गृह-युद्ध समाप्त हो गया, किन्तु इससे अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गयी। युद्ध-विध्वस्त बियाफ्रा के पुनर्निर्माण तथा शरणार्थियों की पुनः स्थापना में संयुक्त राष्ट्र संघ भरपूर सहयोग दे रहा है। इस समस्या के समाधान की दिशा में प्रयत्न जारी है।

16.2.18 चेकोस्लोवाकिया संकट- अगस्त 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत संघ और वारसा पैकट के अन्य देशों ने सैनिक कार्यवाही करके हंगरी की घटनाओं को फिर से ताजा कर दिया। इस सैनिक कार्यवाही का प्रमुख कारण यह बताया गया कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शक्तियों से बचाने के लिए हस्तक्षेप करना अवश्यक हो गया था। यह मामला संयुक्त संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा परिषद् के 7 सदस्यों ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें सोवियत संघ की कार्यवाही को एक स्वतन्त्र और सम्प्रभु राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर निन्दा की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह मांग की कि सोवियत संघ और वारसा पैकट के अन्य राष्ट्रों के सैनिकों को तुरन्त वहां से हटा लिया जाय। परन्तु यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। चूंकि स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। चेकोस्लोवाकिया के मामले पर संघ की भूमिका एक मूकदर्शक से अधिक नहीं रही। अन्ततोगत्वा इस संकट का समाधान साम्यवादी देशों का एक आन्तरिक मामला बनकर रह गया। सोवियत संघ के विघटन तक उसका इस राष्ट्र पर प्रभुत्व रहा। बाद में इस राष्ट्र का दो भागों में विभाजन चेक तथा स्लोवाकिया गणराज्य के रूप में हो गया।

16.2.19 अफगानिस्तान की समस्या- 27 दिसम्बर, 1979 सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप करके बबरक कमाल को काबुल की गद्दी पर बिटा दिया। 28 दिसम्बर, 1979 को हफीजुल्लाह अमीन की हत्या कर दी गयी। उस समय से लेकर सन् 1988 तक अफगानिस्तान में सोवियत सेना निरन्तर जनी रही। यह संकट इसलिए गम्भीर हुआ क्योंकि पहली बार सोवियत संघ ने साम्यवादी धरों से बाहर निकलकर एक गुटनिरेक्षा देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करके उसकी अखण्डता और स्वतन्त्रता को संकट में डाल दिया। इस संकट के कारण दक्षिण एशिया के अन्य देशों को खतरा उत्पन्न हो गया। उन्हें इस बात का भय उत्पन्न हो गया कि किसी भी समय उसकी स्वतन्त्रता का भी अपहरण हो सकता है। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की इस कार्रवाई ने शक्ति-सन्तुलन बिगड़ दिया और हिन्दमहासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ गयी। इससे शीतयुद्ध का एक नया दौर शुरू हो गया।

अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों को हटाने की लगातार मांग होती रही। संयुक्त राष्ट्र संघ इस दिशा में कोई ठोस कार्रवाई नहीं कर सका। जनवरी, 1980 में सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित करके सोवियत संघ से अफगानिस्तान में अपनी गतिविधियों को समाप्त करके अपने सैनिकों को वापस बुलाने की माँग की जिसे सोवियत संघ ने निषेधाधिकार का प्रयोग करके उसे निरस्त कर दिया। इसी समय महासभा की आपातकालीन बैठक हुई। इस बैठक में प्रस्ताव पारित करके यह माँग की गयी कि सोवियत संघ अफगानिस्तान से उत्काल अपनी सेनाएँ वापस बुला ले। परन्तु सोवियत संघ की ओर से इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वह अपनी सेनाएँ किसी-न-किसी बाहने वहाँ बनाये रहा। सन् 1988 में जेनेवा समझौता के अन्तर्गत सोवियत सेनाओं की वापसी हो गयी। उसके बाद अफगानिस्तान में गृहयुद्ध का बातचरण रहा और मुल्ला उमर के नेतृत्व में तालिबान का शासन रहा। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ने सैनिक कार्रवाई करके तालिबान के शासन को भी समाप्त कर दिया। वहाँ का तालिबानी शासक मुल्ला उमर कहीं भाग गया। वर्तमान में वहाँ हामिद कारजई के नेतृत्व में अमरीकी समर्थित लोकतान्त्रिक सरकार सत्ता में है।

16.2.20 फॉकलैण्ड विवाद- अर्जेन्टाइना के समीप अटलांटिक महासागर में स्थित फॉकलैण्ड का द्वीपसमूह सन् 1949 से ब्रिटेन के अधिकार में आ रहा था। अर्जेन्टाइना इस पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करता था। 12 अप्रैल, 1982 को अर्जेन्टाइना की सेनाओं ने इन द्वीपों पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने फॉकलैण्ड द्वीप से अर्जेन्टाइना की सेनाओं को निकालने के लिए

उनकी नाकेबन्दी कर दी। ब्रिटिश नौ सेना फॉकलैण्ड के लिए रवाना हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पेरेज द कुइयार ने विवाद को निपटाने के लिए शान्ति-योजना बनायी। परन्तु यह प्रयास सफल नहीं हुआ। अन्त में 14 जून 1982 को अर्जेन्टाइना की सेनाओं ने ब्रिटेन के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। इस तरह इस विवाद का अन्त हुआ है और फॉकलैण्ड द्वीप पर ब्रिटेन का कब्जा हो गया।

16.2.21 ग्रेनेडा में अमरीकी हस्तक्षेप- ग्रेनेडा कैरेबियन सागर में एक छोटा-सा द्वीप है। वहां 25 अक्टूबर, 1983 में प्रधानमंत्री मोरिस बिशप की हत्या करके सैनिक शासन की स्थापना कर दी गयी, जिसका समर्थन क्यूबा की सेनाएं कर रही थीं। 25 अक्टूबर, 1983 को अमरीका ने यह घोषणा करते हुए कि “निर्दोष व्यक्तियों के प्राण बचाने” और “विधि का शासन व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है,” अपनी सेनाएं ग्रेनेडा में भेज दीं। विश्व के अधिकांश देशों ने अमरीका के इस कार्य की निन्दा की। 28 अक्टूबर, 1983 को सुरक्षा परिषद् में 15 में से 11 सदस्यों ने अमरीकी आक्रमण की निन्दा करने के प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। परन्तु अमरीका ने ‘बीटो’ का प्रयोग करके इसे निष्फल कर दिया। कुछ दिन बाद ग्रेनेडा में एक आन्तरिक सरकार की स्थापना करके अमरीकी सेनाएं वहाँ से हट गयीं।

16.2.22 ईरान- इराक युद्ध-विराम- 11 सितम्बर, 1980 से ईरान-इराक युद्ध प्रारम्भ हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप 9 अगस्त, 1988 को दोनों देशों के बीच अनौपचारिक युद्ध विराम हो गया। जुलाई, 1987 में सुरक्षा परिषद् ने एक सर्वसम्मत प्रस्ताव (प्रस्ताव संख्या 598) पारित करके ईरान व इराक से अपील की कि वे तुरंत युद्ध बन्द करें। तब संयुक्त राष्ट्र महासचिव के सक्रिय प्रयत्नों से दोनों पक्षों को युद्ध बन्द करने के लिए राजी किया गया। दोनों देशों की 1,200 किलोमीटर लम्बी सीमा पर संयुक्त राष्ट्र की 350 सदस्यीय सेना आवश्यक स्थानों पर तैनात कर दी गयी। वह विवाद समाप्त हो गया है।

16.2.23 नामीबिया की स्वतन्त्रता- संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों के बावजूद नामीबिया की स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक समस्या बनी हुई थी। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत की अवहेलना करके वहां दक्षिण अफ्रीका की कठपुतली सरकार बनी हुई थी। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनेक प्रस्ताव पारित किये किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों की खुली अवहेलना की क्योंकि उसे अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस जैसी शक्तियों का परोक्ष समर्थन प्राप्त था इसलिए जब सन् 1974 में दक्षिण अफ्रीका को संयुक्त राष्ट्र संघ से निष्कासित करने सम्बन्धी प्रस्ताव रखा गया तो उसे ‘त्रिविधि निषेधाधिकार’ द्वारा रद्द कर दिया गया। इस तरह 1976 ‘शस्त्र नियन्त्रण प्रस्ताव’ को भी ‘त्रिविधि निषेधाधिकार’ द्वारा रद्द कर दिया गया। अन्त में सन् 1978 में सुरक्षा परिषद् ने अपने संकल्प 435 में नामीबिया को स्वतन्त्रता दिलाने की योजना को पुष्टि प्रदान की। सन् 1978 से महासभा निरन्तर इस बात पर बल देती रही कि दक्षिण अफ्रीका संकल्प 435 का बिना शर्त पालन करे। इस हेतु दबाव डालने के लिए सभा ने सभी राज्यों को दक्षिण अफ्रीका से सभी सम्बन्ध तोड़ने के लिए और सुरक्षा परिषद् से उसके विरुद्ध आदेशात्मक विशद दंड लागू करने के लिए कहा। फिर भी मामला किसी-न-किसी रूप में टलता रहा। अन्त में संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों से 13 दिसम्बर, 1988 को कांगों की राजधानी ब्राजविले में दक्षिण अफ्रीका, क्यूबा और अंगोला में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुआ। इस समझौते के फलस्वरूप सन् 1989 में नामीबिया की स्वाधीनता के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। यहाँ से समस्त विदेशी सेनाएँ हट गयीं और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसार चुनाव हुए। इस प्रकार मार्च 1990 में नामीबिया का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ।

16.2.24 अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी- 21 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने अंगोला से क्यूबाई 50 हजार सैनिकों की वापसी की देखरेख के लिए वहां संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों का दल तैनात करने का सर्वसम्मति से निर्णय किया। यहाँ से क्यूबा ने अपनी सेनाओं को हरा लिया है।

16.2.25 कुवैत को इराकी कब्जे से मुक्त कराना- संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने 2 अगस्त, 1990 को कुवैत पर इराकी आक्रमण से लेकर 29 नवम्बर, 1990 तक खाड़ी संकट पर 12 प्रस्ताव पारित किये। संयुक्त राष्ट्र संघ के झाण्डे तले मित्र-राष्ट्रों की सेना ने कुवैत को इराक से मुक्त (1991) कराया। अब कुवैत पुनः संप्रभु राष्ट्र है।

16.2.26 यूगोस्लाविया- भूतपूर्व यूगोस्लाविया में सर्ब, क्रोएट और मुस्लिम समुदायों के बीच आन्तरिक जातीय संघर्ष 1992-95 की दर्दनाक घटना है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत के ले. जनरल सतीश नाम्बियार, के नेतृत्व में 25,000 सैनिकों की एक सुदृढ़ शान्ति सेना शान्ति बहाल करने के लिए वहां भेजी। ये सैनिक 25 देशों के थे। बोस्निया में संयुक्त राष्ट्र को कोई खास सफलता नहीं

मिली। 14 दिसम्बर, 1995 को बोस्निया समझौते पर पेरिस में हस्ताक्षर हुए। संयुक्त राष्ट्र को पीछे-पीछे धकेलते हुए बोस्निया में शान्ति स्थापना का दायित्व नाटो ने ग्रहण कर लिया। यूगोस्लावाकिया का विभाजन करके बोस्निया हर्जेंगोहिना की स्थापना की गई।

16.2.27 सोमालिया- अफ्रीकी देश सोमालिया में पिछले कुछ वर्षों से कई लड़ाकू ग्रुप गृहयुद्ध में लिप्स हैं। 1991 के मध्य में सोमालिया के राष्ट्रपति मोहम्मद सैयद का तखा पलटे जाने के बाद यह गृहयुद्ध और तेज हो गया। इसके साथ ही सोमालिया को भीषण अकाल का सामना भी करना पड़ा। कुछ समय पहले कई देशों, मुख्य रूप से अमरीका से खाद्य सहायता की आपूर्ति शुरू हुई किन्तु जैसे ही खाद्य सामग्री की खेपें उतारी जाने लगीं, विभिन्न सशस्त्र गिरोहों द्वारा उन्हें लूटना शुरू कर दिया गया और भुखमरी से ग्रस्त लोगों तक खाद्य सामग्री नहीं पहुंच पायी। इसलिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृति दिये जाने के बाद 9 दिसम्बर, 1992 को 1,700 अमरीकी नौ सैनिक सोमालिया में उतरे। संयुक्त राष्ट्र के अकाल राहत प्रयासों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कुल मिलाकर 35,000 सैनिक भेजने का फैसला किया गया। इन प्रयासों को 'आपरेशन रेस्टोर होप' की संज्ञा दी गई। वर्तमान में यहाँ स्थिति नियंत्रण में तो है, लेकिन हिंसा की घटनाएं होती रहती हैं।

16.2.28 कम्बोडिया- राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक के सत्ताच्युत होने के बाद कम्बोडिया को गृहयुद्ध की स्थिति का सामना करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा कम्बोडिया में शान्ति स्थापना करने के उद्देश्य से संघर्षरत सभी गुटों का एक मंच पर लाने के अथक् प्रयत्न किये गये। फलस्वरूप 23 अक्टूबर, 1991 को पेरिस में कम्बोडिया के संघर्षरत गुटों के बीच शान्ति की स्थापना की दिशा में समझौता हुआ। इसके फलस्वरूप मई, 1993 में कम्बोडिया में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन हुए और निर्वाचन के पश्चात् राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक के नेतृत्व में एक लोकप्रिय सरकार संस्थापित हुई। निर्वाचन के पश्चात् राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक ने राष्ट्राध्यक्ष पद पर आसीन होने के साथ ही स्थायी शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

16.2.29 लेबनान में संयुक्त राष्ट्र संघ का अन्तरिम बल- लेबनान में संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तरिम बल की अवधि को जनवरी 2000 के अन्त माह के लिए बढ़ाने की अनिवार्यता पर सुरक्षा परिषद् में 30 जुलाई, 1999 को मतदान हुआ। अपने सर्वसम्मति प्रस्ताव में सुरक्षा परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप से मान्यता प्राप्त सीमओं के भीतर लेबनान की प्रादेशिक अखण्डता, सम्प्रभुता और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए अपने दृढ़ समर्थन की पुनः पुष्टि की।

16.2.30 सियरा लियोन- संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने सियरा लियोन में संयुक्त राष्ट्र मिशन की स्थापना करते हुए 22 अक्टूबर, 1999 को प्रस्ताव संख्या 1,270 पारित किया। इसमें सियरा लियोन में 6,000 सशक्त संयुक्त राष्ट्र शान्ति स्थापना बल की तैनाती के लिए प्राधिकृत किया गया है। इस शान्ति स्थापना को पहला दल 29 नवम्बर, 1999 को सियरा लियोन पहुंचा। इन्होंने शान्ति स्थापना करने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया।

16.2.31 कोसोवो- कोसोवो में संकट का समाधान करने की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों से एक करार तैयार किया गया जिसे 10 जून, 1999 के संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव संख्या 1,244 द्वारा कानूनी रूप प्रदान किया गया। इसके द्वारा यूगोस्लावाकिया सेनाएं को सोवो से हटाई जाएंगी ताकि नाटो के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएं और संयुक्त राष्ट्र के ध्वज के नीचे एक समानान्तर असैनिक अन्तरिम प्रशासन की वहां अपना दायित्व संभाल सकें। कोसोवो से सम्बद्ध संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव में स्पष्ट उल्लेख था कि कोसोवो के लिए राजनीतिक समाधान जी-8 संगठन द्वारा निरूपित सिद्धान्तों पर आधारित होगा।

16.2.32 खाड़ी संकट - इराक में सक्षम हुसैन के तानाशाह शासन की समाप्ति में संयुक्तराज्य अमेरिका की प्रभुत्वपूर्ण भूमिका रही। उसके बाद यहाँ की समस्या के समाधान में संयुक्तराष्ट्रसंघ के महासचिव कोफी अन्नान ने सकारात्मक भूमिका का निर्वाह किया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है गत 60 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद प्रस्तुत हुए हैं संयुक्त राष्ट्र संघ ने उनमें से अनेक समस्याओं का समाधान करने और अनेक बार युद्धों को रोकने में सफलता प्राप्त की है। यह ठीक है कि यह महाशक्तियों के शीत युद्ध को नहीं रोक सका है परन्तु इसने शीत युद्ध को वास्तविक युद्ध में परिणत होने से रोकने में सफलता अवश्य प्राप्त की है। इसने यूनान, कश्मीर, फिलिस्तीन, इण्डोनेशिया, पश्चिमी गिरी, अरब-इजराइल में युद्ध समाप्त करवाने में सफलता प्राप्त की है। इसने बर्लिन, ईरान, यूनान, कश्मीर, कोरिया मिस्र, कांगो, क्यूबा, आलोस-साइप्रस आदि से सम्बन्धित विवादों के समाधान में

महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसने सीरिया, लेबनान, ईरान, बर्मा और कांगो आदि से विदेशी सेनाओं को हटवाया है। इनमें से कुछ समस्याओं के उग्र रूप को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास प्रशंसनीय रहे हैं।

16.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्य

संयुक्त राष्ट्र संघ न केवल शांति-स्थापक के रूप में राष्ट्र संघ से अधिक सफल हुआ है वरन् यह आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सराहनीय भूमिका का निर्वाह करता रहा है। लेकिन साधारण जनता उसके आर्थिक और सामाजिक कार्यों से भली प्रकार अवगत नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ऊ थॉट ने कहा था कि इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आर्थिक और सामाजिक कार्य अधिक उपयोगी हैं, लेकिन इन कार्यों का अधिक प्रचार नहीं हुआ है। चार्टर के 62 वें अनुच्छेद में आर्थिक-सामाजिक परिषद् को यह अधिकार दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी व अन्य सम्बन्धित क्षेत्र का अध्ययन करे और रिपोर्ट तैयार करे। इन सब क्षेत्रों के सम्बन्ध में महासभा संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों और विशेष एजेंसियों को अपनी सिफारिशें भेजना इस परिषद् का कार्य है। यह परिषद् आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करती है। यह प्रतिवर्ष विश्व की आर्थिक व्यवस्था का अवलोकन करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

16.3.1 आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य- आर्थिक और सामाजिक प्रगति को प्रोत्साहन देने के लिए संघ की आर्थिक सामाजिक परिषद् ने निष्काम भाव से पिछड़े देशों को आर्थिक व तकनीकी सहायता प्रदान की है। इस परिषद् के अन्तर्गत अनेक आयोग व संगठन कार्य करते हैं, जैसे— अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि। इन संगठनों अथवा अभिकरणों का मुख्य उद्देश्य विश्व में हर सम्भव तरीकों से आर्थिक कल्याण को प्रोत्साहित करना है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन ने श्रमिकों की दशा सुधारने उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, उत्पादन वृद्धि और श्रमिकों की क्षमता के साधनों में उन्नति तथा बिजली घर बनाने के लिए विश्व बैंक के द्वारा ऋण दिये गये हैं। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनियम सम्बन्धी व्यवहार में आने वाली कठिनाइयों को दूर किया है। बीसवीं सदी के मध्य तक दुनिया की आर्थिक तथा आँकड़ों का कोई विश्वसनीय सूचना स्रोत उपलब्ध नहीं था। आँकड़ों एवं जानकारी के अभाव में इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई योजना या कार्यक्रम बनाना बहुत ही कठिन होता था। संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता से उसके स्थापना-काल से ही यह काम प्रारम्भ किया गया है। 19 जनवरी, 1948 को संघ ने 'विश्व की आर्थिक स्थिति के मूल तत्व' नामक एक रिपोर्ट प्रकाशित की। उसके बाद इसने धूरोप, एशिया और लैटिन अमरीका की आर्थिक दशाओं का सर्वेक्षण किया और इन सर्वेक्षण रिपोर्टों को प्रकाशित किया। इसने वित्तीय आँकड़ों एवं जनसंख्या-सम्बन्धी मामलों पर अनेक अधिकारपूर्ण प्रकाशन प्रकाशित किये। इनके अन्तर्गत विश्व के आर्थिक साधनों एवं व्यवस्था पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इससे नई परियोजनाओं, योजनाओं तथा विकास कार्यों को मूर्तरूप प्रदान किया जा सकता है।

विकासशील देशों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का आर्थिक कार्य काफी महत्वपूर्ण है। ज्यों ही कोई राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। वैसे ही संयुक्त राष्ट्र संघ अपने हांगे से उसमें रूचि लेने लगता है। वह उसके आर्थिक व सामाजिक ढाँचे को सुधार करने का प्रयास करता है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के समय बहुत से राज्यों के पास शासन-कार्य के लिए न तो प्रशिक्षित कर्मचारी होते हैं और न उनकी आर्थिक और वित्तीय स्थिति सन्तोषजनक होती है। संयुक्त राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि नये स्वतन्त्र राष्ट्रों की इन कमियों को दूर करे। विश्व की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या अल्प विकसित देशों में निवास करती है जिनका जीवन-स्तर अत्यन्त निम्न स्तर का है। ऐसे देशों की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहायता की जानी चाहिए। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर 1948 में महासभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, तथा विशिष्ट समितियाँ इन समस्याओं पर अधिकाधिक ध्यान दे रही हैं।

16.3.2 सामाजिक विकास सम्बन्धी कार्य- संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का एक मुख्य उद्देश्य सामाजिक विकास और न्याय तथा उच्चतर जीवन-स्तर को प्रोत्साहन देना है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की अनेक संस्थाएं, संगठन एवं समितियाँ सदस्य-राज्यों को सहायता प्रदान करके उक्त लक्ष्यों की प्राप्ति करने के लिए कार्यरत हैं। इन संस्थाओं और संगठनों में कुछ के नाम इस प्रकार हैं : आर्थिक सामाजिक परिषद् का सामाजिक आयोग, सचिवालय का सामाजिक कार्य विभाग तथा अनेक विशेष एजेंसियाँ एवं आयोग। इन संस्थाओं के तत्वावधान में सामाजिक विषमता दूर करने, जीवन का उन्नयन, मादक द्रव्य निषेध, शिशु-कल्याण, सामाजिक न्याय तथा सुरक्षा आदि के प्रश्नों पर अध्ययन, शोध प्रचार, लोकमत, निर्माण एवं सीमित सहायता के कार्य सम्पन्न

होते हैं। तकनीकी सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र द्वारा विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान की जाती है। यह सहायता विभिन्न प्रकार से दी जाती है : परामर्शदाता, छात्रवृत्ति, सामान, सामाजिक सेवाएं, सामुदायिक विकास, सामाजिक कार्यों के लिए प्रशिक्षण, अपराध निरोध, नगरीकरण, प्रवास एवं योजना तथा जनसंख्या के सम्बन्ध में गोष्ठियों का गठन।

16.3.3 शैक्षणिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी कार्य- संयुक्त राष्ट्र संघ अनेक शैक्षणिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक कार्य भी करता है। इन कार्यों के लिए उसने यूनेस्को नामक संगठन बनाया है। इसका मूल उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक माध्यम से विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सदूचाव को प्रश्रय देना तथा इन माध्यमों से अंतर्राज्य एवं अंतर्राजीय विद्वेष फैलने की रोकथाम करना है। अपनी स्थापना के समय से ही यह संस्था अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। सांस्कृतिक क्षेत्र में इसने संगीत, नाटक, साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला, स्थापत्य तथा अन्य कलारूपों का संरक्षण, उन्मेष एवं समन्वय के कार्यों में विशेष दिलचस्पी है। अनेक प्राचीन कलात्मक तथा ऐतिहासिक अवशेषों का संरक्षण इसके प्रयासों से सम्भव हो सका है। इसने दार्शनिक तथा रचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहन देने के कई कार्यक्रम पूरे किये हैं। इसने भारत, चीन, मिस्र तथा उरुग्वे में अपने विज्ञान कार्यालय खोल रखे हैं। बंजर तथा ऊसर जमीनों को उर्वर बनाने में संगठन ने योगदान किया है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में जलाभाव की समस्या को दूर करने के उद्देश्य से इस विषय में शोध-कार्यों को प्रोत्साहन देने हेतु इस संगठन ने जनवरी, 1963 में अन्तर्राष्ट्रीय हाइड्रोलॉजिकल दर्शक मनाने का निर्णय किया है। यूनेस्को ने निरक्षरता उभूलन, नवीन ज्ञान के विश्वव्यापी प्रसार तथा सांस्कृतिक कार्यों में बड़ा सहयोग दिया है। इस संस्था ने मानव-अधिकारों के संरक्षण की दिशा में भी अथक प्रयास किये हैं। इन अधिकारों के सन्दर्भ में विभिन्न गृष्णों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद होने के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस सम्बन्ध में लोकमत तथा लोक चेतना जाग्रत रखने का प्रयास जारी रखा है।

उपर्युक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्र के गैर-राजनीतिक कार्यों का क्षेत्र राजनीतिक कार्यों से अधिक विस्तृत है। उनकी सफलता और महत्ता राजनीतिक कार्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

16.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ

इसमें संदेह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ को शत-प्रतिशत सफलता नहीं मिली है और यह पूरी तरह उन आशाओं को पूरा नहीं कर सका है जिसकी कल्पना इसके निर्माताओं ने की थी। हमें इस बात को भी स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ असफल रहा है और युद्ध के कारणों का निवारण जो उसका प्रधान उद्देश्य है, अभी तक नहीं कर सका है। विश्व में ऐसी अनेकानेक समस्याएं बनी हुई हैं जिनको लेकर किसी भी क्षण युद्ध हो सकता है। परन्तु केवल इसी आधार पर यह मान बैठना कि संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य अंधकारमय है और पुराने राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ भी विश्व शांति को बनाये रखने में असफल ही रहेगा, उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन, कार्य-प्रणाली और प्रभावशीलता की दृष्टि से राष्ट्र संघ की तुलना में बहुत अधिक सुधरे हुए स्थिति में है, यद्यपि इसकी कतिपय असफलताएं भी हैं किन्तु इसने इन कतिपय असफलताओं के साथ-साथ महत्वपूर्ण सफलताएं भी प्राप्त की हैं। मानवता से सम्बद्ध किसी विश्व संस्था के इतिहास में छह दशकों की अवधि बहुत छोटी ही है। संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य महान् है और महान् उद्देश्यों की प्राप्ति में अनेक बाधाएँ आती ही हैं। निरन्तर प्रयत्न करने से ही सफलता मिल सकती है। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ वह सब कुछ जो हम चाहते थें, नहीं कर सका है, तो इसका एकमात्र कारण यही है कि यह एक मानवीय संगठन है और इस प्रकार के मानवीय संगठन से किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती है। इन सीमाओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ को कुछ उल्लेखनीय सफलताएँ भी मिली हैं जिन्हें निम्नांकित क्रम में सूचिबद्ध किया जा सकता है :

16.4.1 राजनीतिक विवादों का समाधान - संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा है। इस क्षेत्र में यद्यपि इसको पूर्ण सफलता नहीं मिली है परन्तु इसे आंशिक सफलता का श्रेय अवश्य है। सर्वत्र विश्व के राजनीतिक वातावरण में शीतयुद्ध तथा शक्ति-राजनीति प्रचलित थी, फिर भी अनेक राजनीतिक विवादों को सुलझाने में संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रयत्न एक सीमा तक प्रशंसनीय है। उदाहरणतः इसने ईरान के मामले को सुलझाने में सफलता प्राप्त की है। 1947 ई. इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर इण्डोनेशिया के लोगों व नीदरलैण्ड के बीच युद्ध शुरू हुआ तो युद्ध का अन्त कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बड़ी सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया और संघ के हस्तक्षेप के कारण युद्ध बन्द हो गया और राजनीतिक वार्ता प्रारम्भ हुई। बाद में पश्चिम

इरियन को लेकर इन दोनों में पुनः तनाव बढ़ा तो संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने अपने प्रयास से इस समस्या के समाधान में सहायता पहुँचाई। यद्यपि यह कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं कर सका है लेकिन इस विवाद में संघ की सफलताओं को नजर अन्दर नहीं किया जा सकता है। प्रारम्भ में कश्मीर के प्रश्न को लेकर भारत-पाकिस्तान के बीच जो युद्ध हुआ उसको बन्द कराने का श्रेय संयुक्त राष्ट्र संघ को ही है। इसके बाद लगभग 18 वर्ष तक कश्मीर में युद्ध-विराम रेखा पर पहरा देकर दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ने से रोका है। अन्त में 1965 में जब दोनों देशों में सशस्त्र युद्ध शुरू हो गया तो उस युद्ध को बन्द कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ को सफलता मिली। पामर और परकिन्स युद्ध-विराम व्यवस्था को एक सफल प्रयास मानते हैं। पण्डित नेहरू ने भी संयुक्त राष्ट्र के कर्मचारी वर्ग की प्रशंसा की थी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने पैलेस्टाइन में अच्छा कार्य किया। यह ठीक है कि यह अरब इजरायल समस्या को हल करने में असमर्थ रहा परन्तु फिर भी इसने इजरायल और अरब राष्ट्रों के बीच युद्ध-विराम कराकर तनाव को कम कराने का प्रयास किया था। सन् 1960 में संघ ने दक्षिण कोरिया को उत्तरी कोरिया के आक्रमण से बचाया, बर्लिन के घेरे के प्रश्न को सुलझाया, स्वेज के मामले में ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल के आक्रमण से मिस्र की रक्षा की तथा युद्ध को रोकने में सफलता हासिल की। दूसरक, सीरिया तथा लेबनान से विदेशी सेनाएँ हटाने में सहायता की एवं साइप्रस को लेकर तुर्की और यूनान के बीच युद्ध छिड़ने से रोका। 1962 में क्यूबा को लेकर सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका में परमाणु युद्ध छिड़ सकता था। इस संकट को समाप्त करने में भी संघ ने सराहनीय कार्य किया। इसके अतिरिक्त अनेकों क्षेत्रों में शान्ति स्थापना के लिए यह प्रयत्नशील रहा है।

इन उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र ने कई ऐसे संकटों को विश्व युद्ध में परिणत होने से रोका है यदि संयुक्त राष्ट्र संघ नहीं होता तो अनेक राजनीतिक विवादों को लेकर युद्ध हो जाता और विश्व शान्ति खतरे में पड़ जाती। पण्डित नेहरू ने लिखा था : “संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार हमारे उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है। इसके बिना हम आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।”

16.4.2 साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का उन्मूलन- संयुक्त राष्ट्र ने गैर-स्वशासित देश के लोगों की भलाई के लिए भी प्रयत्न किये हैं। 24 दिसम्बर, 1960 को महासभा ने प्रस्ताव द्वारा उपनिवेशवाद को पूर्ण रूप से समाप्त करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। इसने घोषित किया कि मनुष्यों को दूसरे देशों के अधीन रखना और शोषण करना मानव के मौलिक अधिकारों की अवहेलना करना है। विश्व-संस्था के रंगमंच से इस तरह की घोषणा का अपने आप में महत्व है। इस घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए औपनिवेशिक राज्यों से अनुरोध किया कि वे अपने अधीन क्षेत्रों को स्वतन्त्रता प्रदान करें। संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक परतन्त्र राज्य स्वतन्त्र हो चुके हैं। इण्डोनेशिया, भारतको, द्यूनिसिया तथा अल्जीरिया को स्वतन्त्र कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास काफी प्रशंसनीय रहे हैं। प्रारम्भ में इन देशों को स्वतन्त्रता के प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया गया किन्तु अन्त में उपनिवेशवादी राज्य को विश्व होना पड़ा और उन्हें स्वतन्त्रता देनी पड़ी।

16.4.3 गैर राजनीतिक क्षेत्रों में सफलता- राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता विवादास्पद हो सकती है, किन्तु इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि गैर-राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ को बहुत महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मानवतावादी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियाँ प्रशंसनीय रही हैं। इस दृष्टि से इसकी कई विशिष्ट एजेंसियाँ उल्लेखनीय हैं। बूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान तथा साहित्य के विकास में योगदान दिया है। अज्ञानता को दूर करने के लिए इसने विभिन्न राष्ट्रों की सकारों को परामर्श दिया है और शिक्षा व विज्ञान-सम्बन्धी सामग्री के आदान-प्रदान में सहायता प्रदान की है। निरक्षरता उन्मूलन, नवीन ज्ञान के विश्व व्यापी प्रचार तथा सांस्कृतिक कार्यों में इसका योगदान काफी प्रशंसनीय है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा नागरिकों के स्वास्थ्य के स्तर को सुधारने और महामारियों पर नियन्त्रण स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी प्रकार बाल कल्याण कोष के द्वारा बच्चों तथा महिलाओं के स्वास्थ्य के विकास के लिए दवाइयाँ, खाना, बीमारियों के नियन्त्रण तथा प्रसृतिगृहों की स्थापना में सहयोग दिया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव-कल्याण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ निश्चित रूप से लाभ पहुँचाया है।

16.4.4 व्यापक सम्पर्क एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का निर्माण करने का मंच- संयुक्त राष्ट्र संघ विचारों के आदान-प्रदान, पूर्वाग्रह की गुणियों को सुलझाने, एक दूसरे के दृष्टिकोण को अच्छी प्रकार समझने तथा विश्व में व्यापक सम्पर्क एवं शान्ति के बातावरण का निर्माण करने का मंच है। सभी राष्ट्र इस सभा मंच पर एकत्रित होते हैं, वार्ताएँ करते हैं, एक दूसरे की समस्याओं को समझने तथा

उनके उचित समाधान करने का प्रयास करते हैं तथा सहयोग का वातावरण निर्मित करते हैं। इसके द्वारा स्थापित सक्रिय सम्पर्क की परिपाटी ने विश्व शान्ति को बल सुदृढ़ किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा ही प्लेटफॉर्म है जहाँ महान् राष्ट्र बैठकर अपनी समस्याओं पर विचार विमर्श कर सकते हैं।

16.4.5 संयुक्त राष्ट्र संघ एक नियन्त्रण शक्ति के रूप में- संयुक्त राष्ट्र ने एक नियन्त्रण शक्ति के रूप में भी काम किया है। इसका दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा का रहा। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में इसने एक सन्तुलन शक्ति का कार्य किया है। जब कभी भी कोई विवाद इसके समक्ष आया है, इसने शान्तिपूर्वक समाधान करने का कार्य किया है। इसी के चलते अनेक अवसरों पर स्थिति बिगड़ नहीं पायी है। इसके अस्तित्व के कारण ही बड़े-बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं। इस तरह युद्ध का भय कम हुआ है और छोटे राष्ट्रों का अस्तित्व संभव हुआ है। इसके अतिरिक्त महासभा को पर्याप्त अधिकार होने के कारण छोटे-छोटे सदस्य राष्ट्रों को अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के अवसर भी प्राप्त हुए हैं और उन्होंने अपने लाभार्थ इन अवसरों का पूरा उपयोग किया है।

16.4.6 अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण- अन्तर्राष्ट्रीय आचरण को पृष्ठ एवं संयत बनाने में संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को संरक्षण तथा स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को पंजीकृत करने का कार्य संघ द्वारा स्थापित आयोग, सचिवालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, मानव अधिकार आयोग आदि द्वारा किया जाता है। संघ द्वारा विभिन्न राष्ट्रों के मतभेद दूर करते समय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करते समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का हमेशा पालन किया गया है। इसका हर सम्भव प्रयास यह रहता है कि विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में इन कानूनों के प्रति आदर भाव पैदा किया जाय और कहीं भी किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन न किया जाए।

16.4.7 नैतिक दबाव का साधन- संयुक्त राष्ट्र संघ यद्यपि सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से एक व्यवस्थित और एकीकृत प्रणाली का उपयुक्त विकास नहीं कर पाया है किन्तु फिर भी यह विश्व जनमत का रणमंच और नैतिक दबाव का एक शक्तिशाली साधन है। इसके निर्णय विश्व के नैतिक प्रभाव को दर्शाते हैं। इसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और सदस्य संख्या के कारण इसके प्रस्तावों और सिफारिशों को बल मिलता है। यदि कोई राष्ट्र इसके निर्णय को टुकरा देता है तो विश्व के सब राष्ट्रों की नजर में वह नीचे गिर जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ से कम-से-कम यह तो सम्भव हो सकता है। कि यहाँ आक्रामक राष्ट्रों के इरादों का बहुत आसानी से भंडाफोड़ हो जाता है और विश्व जनमत उनसे पूर्ण रूप से अवगत हो जाता है। साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी शक्तियों के बर्बर कृत्यों तथा क्रूरतापूर्ण अत्याचारों की चर्चा जब यहाँ की गई तो उसके विरुद्ध जनमत जाग्रत हुआ। सभी देशों पर इसका प्रभाव पड़ता है। जनमत के भय से आक्रामक राज्य को विश्व-संस्था के समक्ष अपनी नीतियों की व्याख्या करने तथा उनको सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ आक्रामक राष्ट्रों पर अपना नैतिक दबाव डालकर उन्हें अच्छे रास्ते पर आने के लिए बाध्य करता है।

16.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास- संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण एवं इसके हजारों की संख्या में अन्तर्राष्ट्रीय सिविल सेवक, जो विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं, निरन्तर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सद्भावना और सहअस्तित्व की विचारधाराओं का विकास कर रहे हैं। इन अभिकरणों एवं सेवकों की भक्ति चार्टर के प्रति है और इनका उद्देश्य उसके सिद्धान्तों को साकार करना है। जब संघ के सदस्य एवं अभिकरण भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विविध सेवाएँ प्रदान करते हैं तो वे अपने साथ सद्भावना का सन्देश भी ले जाते हैं। जिन लोगों को कभी 'अजनबी' या 'शत्रु' समझा जाता था आज उन्हें 'सहायक' समझा जाता है। इससे भिन्न-भिन्न जातियों में अन्तर्राष्ट्रीय सुझावूँज और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का विकास होता है। डेविड मिट्रैनी का मत है कि "शैन: शैन: राष्ट्रों की सीमान्त रेखाएँ साहौन हो जायेंगी और लोग राष्ट्रोंतर दृष्टिकोण से सोचने-विचारने के अभ्यस्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय हित में कार्य करने लगेंगे।"

16.4.9 स्वतन्त्रता का प्रतीक- संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जो अस्वशासित क्षेत्रों की स्वतन्त्रता का प्रतीक है। उदाहरणतः न्यास पद्धति के अन्तर्गत रखे गये सभी 11 न्यास क्षेत्र आज स्वतन्त्रता का उपयोग कर रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों के फलस्वरूप ही नामीबिया 21 मार्च, 1990 को एक स्वतन्त्र राज्य बना। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उपनिवेशवाद को गैर-कानूनी घोषित किया है तथा जाति-भेद एवं उपनिवेशवाद जैसे शब्दों को बदनाम कर घृणित शब्द बना दिया है। महाशक्तियाँ अर्थिक एवं सैनिक सहायता द्वारा छोटे राष्ट्रों को पिछलगूँ बनाने का प्रयास करती हैं परन्तु वे उन्हें अपने उपनिवेश बनाने का साहस नहीं करतीं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व समाज, विश्व सरकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भावना को व्यवहार में लागू किया है।

16.5 संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलताएँ

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो उस समय एक अत्यन्त सुखद भविष्य की कल्पना की गयी। इसके चार्टर को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन बुराइयों से दूर रखने का प्रयत्न किया गया जिनके कारण पुराना राष्ट्र संघ असफल हो गया था और नये विश्व-संगठन को पहले की अपेक्षा एक उत्कृष्ट और शक्तिशाली संगठन बनाया गया। ऐसा लगता था कि संयुक्त राष्ट्र के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मात्र ही नहीं वरन् शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भी होने जा रही है। परिणामस्वरूप विश्व के लोगों में यह विश्वास होना स्वाभाविक था कि नया विश्व-संगठन संसार में स्थायी शान्ति और समृद्धि लाने में सफल होगा। परन्तु वर्तमान युग में संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रबलतम समर्थक भी इस बात को स्वीकार करेगा कि संयुक्त राष्ट्र से जो आशाएँ तथा अपेक्षाएँ की गयी थीं वे पूरी नहीं हो सकीं। यह मानवता को 'भय से मुक्ति' नहीं दिला पाया है। महायुद्ध का भय पूर्ववत बना हुआ है और संघ आधुनिक समस्याओं को सुलझाने में प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर पा रहा है। आतंकवाद के बढ़ते विस्तार ने काठन स्थिति उत्पन्न की है जैसा कि शूमाँ ने लिखा है : "एक मध्यस्थ अथवा समझौते की बातचीत के न्यायपीठ के रूप में उनका अभिनय युद्ध में लड़ने वाली सेनाओं के समकक्ष ही है। एक नैतिक अर्थ में भी आक्रमणों से पीड़ित लोगों के रक्षक के रूप में भी संयुक्त राष्ट्र का अभिनय आपत्तिजनक अपयोगिता का ही रहा है। शान्ति कराने वाले के रूप में उनका अभिनय अदृश्य ही है।" द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्ति के शीघ्र ही बाद संयुक्त राष्ट्र संघ 'शीत युद्ध' के भैंवरजाल में फँस गया। यह बड़े राष्ट्रों के बीच विभिन्नता एवं फूट ज्ञान अखाड़ा बन गया। कहा जाता है कि उसका नाम 'संयुक्त राष्ट्र' एक झूटा दिखावा, एक व्यंग मात्र रह गया। यह संयुक्त राष्ट्रों के बदले में विभाजित राष्ट्रों का संघ बन गया। बेंटविच और मार्टिन ने लिखा भी है : "जिस चीज की रचना विश्व शान्ति के एक यन्त्र के रूप में की गयी थी वह विश्व संघर्ष का एक मंच सिद्ध हुई।" इस प्रकार लगभग 60 वर्ष के जीवन में संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों में प्रायः विफलता का सामना ही करना पड़ा है। इसकी विफलताओं को हम निम्नलिखित ढंग से निरूपित कर सकते हैं :

16.5.1 निरस्त्रीकरण में असफलता- राष्ट्रों के बीच हथियारों की होड़ को रोकना संयुक्त राष्ट्र संघ का एक प्रधान उद्देश्य है। चार्टर में इसीलिए निरस्त्रीकरण के उपबन्ध रखे गये हैं। परन्तु बहुत से प्रयत्नों के बावजूद इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका है। संघ अभी तक इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच समझौता नहीं करा सका है। 15 जून, 1969 के अपने वार्षिक प्रतिवेदन में संघ के तत्कालीन महासचिव ऊर्थॉट ने संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों पर निराशा व्यक्त की थी। उन्हें यह देखकर अशान्ति का अनुभव हो रहा था कि परमाणु शस्त्रों की समस्या आज भी अधर में लटकी हुई है। परमाणु शस्त्रों का परीक्षण होता जा रहा है। विश्व में सेना पर किया जाने वाला व्यय निरन्तर रूप से बढ़ता जा रहा है। इनमें से सबसे अधिक भयानक बात परमाणु शस्त्रों की अबाध गति से चलने वाली होड़ है। संयुक्त राष्ट्र संघ इस होड़ को रोकने में सफल नहीं हुआ। आज भी संयुक्तराज्य अमेरिका, रूस तथा साम्यवादी चीन नवीनतम आणविक परीक्षण कर रहे हैं।

16.5.2 सुरक्षा परिषद द्वारा सामूहिक कार्रवाई पर प्रश्नचिह्न- संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ कहीं भी सशस्त्र आक्रमण हो वहाँ सुरक्षा के लिए सामूहिक एवं प्रभावपूर्ण कार्रवाई करना है। परन्तु इस कार्य में संयुक्त राष्ट्र संघ पूर्णतया असफल रहा है। यह ठीक है कि इसकी स्थापना से लेकर अब तक मानवता को तृतीय महायुद्ध का भीषण रूप देखने को नहीं मिला, परन्तु इसका पुरा श्रेय संयुक्त राष्ट्र को नहीं दिया जा सकता। यह इसलिए सम्भव हुआ, ज्योंकि युद्धों को सीमित करने में महाशक्तियों का सामान्य हित रहा है अथवा उनमें से कोई महायुद्ध का खतरा मोल लेने को तैयार चहीं हैं। कश्मीर का प्रश्न रहा हो या अरब-इजरायल का, दक्षिण रोडेशिया का प्रश्न रहा हो या कोरिया का विगत 60 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी बड़ी समस्या का स्थायी हल निकालने में सफल नहीं हो सका है। प्रत्येक बड़े युद्ध के बाद उसने युद्ध-विराम कराने की भूमिका ही निभायी है।

16.5.4 संघ के सदस्य राष्ट्रों द्वारा चार्टर की अवहेलना करना- संयुक्त राष्ट्र संघ के गत 60 वर्षों के कार्यकाल में अनेक राष्ट्रों द्वारा संघ के चार्टर और उद्देश्यों का अतिक्रमण किया है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों की अवहेलना की है। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माता मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रता में अधिक विश्वास रखते थे। इसलिए इनकी रक्षा के लिए घोषणा-पत्र में 6-7 उपबन्ध बनाये गये तथा 10 दिसम्बर, 1948 को साधारण सभा द्वारा मानव-अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को स्वीकार किया गया। परन्तु दुःख की बात यह है कि कुछ राज्यों ने चार्टर और घोषणा के शब्दों और भावनाओं की अवहेलना की। दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सरकार ने उसका अतिक्रमण किया। वह भारतीय तथा अश्वेत जातियों के साथ रंगभेद व्यवहार करके संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उद्घोषित मौलिक

मानवीय अधिकारों का उल्लंघन करती रही और संयुक्त राष्ट्र संघ उसको रोकने में विफल रहा। कई अन्य राज्यों ने भी संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के विरुद्ध कार्य किया है। सन् 1956 में इंगलैण्ड और फ्रांस ने स्वेज पर आक्रमण करके संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की उपेक्षा की थी। रूस ने महासभा के उस प्रस्ताव को दुकरा दिया था जिसके द्वारा रूस को हंगरी के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप न करने के लिए कहा गया था। यद्यपि हंगरी संयुक्त राष्ट्र का सदस्य है फिर भी उसने संयुक्त राष्ट्र के प्रेक्षकों को अपने क्षेत्र में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी। सन् 1967 के अरब-इजरायल संघर्ष में भी संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र का अपमान हुआ। इस अपमान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ से भी अधिक संयुक्त राज्य अमरीका उत्तरदायी था। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि संघ के चार्टर की अवहेलना की गयी है जिसके चलते संघ की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा है तथा वह अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर पा रहा है।

16.5.4 संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक स्थिति का कमज़ोर होना- आज संयुक्त राष्ट्र की सबसे बड़ी समस्या उसका वित्तीय संकट है। संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अपने सदस्य राष्ट्रों द्वारा दिये गये आर्थिक अनुदान पर ही निर्भर रहता है। सदस्य राष्ट्रों में यह मनोवृत्ति पायी जाती है कि वे संघ को उसी स्थिति में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं जबकि वह उनकी आकांक्षाओं और राष्ट्रीय हितों के अनुरूप कार्य करता है। यहाँ तक कि महाशक्तियाँ भी जब यह अनुभव करती हैं कि संघ उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर रहा है तो वे भी उसकी आर्थिक सहायता पर रोक लगा देती हैं। इन परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख आर्थिक संकट बना रहता है। एक ओर लगातार संघ के उत्तरदायित्वों में वृद्धि होती जा रही है, परन्तु उसके अनुपात में आर्थिक स्रोत उसके पास नहीं हैं। यह भी एक प्रमुख कारण है कि संघ अपने उद्देश्यों को अर्थाभाव के कारण पूर्ण नहीं कर पाता है।

16.5.5 संयुक्त राष्ट्र संघ अमरीका के हाथ की कठपुतली- संयुक्त राष्ट्र संघ शीत युद्ध के काल में जहाँ दो महाशक्तियों (अमरीका और पूर्व सोवियत संघ) के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया था वहाँ शीतयुद्धोत्तर काल में वह विश्व की एकमात्र महाशक्ति अमरीका के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ स्वेच्छा से अपने स्तर पर किसी भी कार्यवाही को करने में अक्षम है। वह केवल महाशक्ति के इशारे, आदेश, दबाव पर ही कार्य करता है और महासचिव, अन्य बड़ी (स्थायी) शक्तियाँ एवं विकासशील देश कायरतावश चुप्पी साध लेते हैं। खाड़ी युद्ध (कुवैत-इराक युद्ध) और इसके बाद जार्ज बुश द्वारा अफगानिस्तान पर हमला एवं इराक में सद्व्याप्त हुसैन को अपदस्थ करना आदि इसके प्रमाण हैं। अमरीका संयुक्त राष्ट्र संघ के झण्डे तले अनुचित कार्यवाही को उचित और निहित स्वार्थ की कार्यवाही को सामूहिक या मानवीय हित की कार्यवाही जताने में सक्षम है। इसी के नाम पर वह सदस्य देशों से धन बटोरता है। प्रो. शील के आसोपा की यह टिप्पणी सटीक है कि “संयुक्त राष्ट्र संघ दोहरे मानदण्डों का शिकार है। ताकतवर की उपस्थिति में डरता है और कमज़ोर पर हाथी होता है। वह पूरी तरह अमरीका की गिरफ्त में रहकर कार्य कर रहा है।”

16.5.6 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार का प्राप्त न होना- संयुक्त राष्ट्र संघ के ढाँचे के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना तो की गयी है लेकिन इस न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं, जिससे इस न्यायालय की स्थिति बहुत असहाय हो गयी है। जिस प्रकार एक देश के न्यायालयों को अपराधी नागरिकों के विरुद्ध कार्रवाई करने का अनिवार्य अधिकार प्राप्त होता है लगभग उसी प्रकार का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्राप्त होना चाहिए। इसका क्षेत्राधिकार, राष्ट्रों के घेरेलू मामलों तक लागू किया जाना चाहिए।

16.5.7 स्वतन्त्र सेना का अभाव- यद्यपि चार्टर में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का उल्लेख किया गया है और कोरिया, मिस्र और कांगों में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं ने कार्य भी किया है। परन्तु फिर भी अभी संयुक्त राष्ट्र संघ के पास विश्व शांति की रक्षा के लिए प्रभावशाली कार्रवाई करने के लिए अपनी कोई स्वतन्त्र सेना नहीं है। अपने आदेशों का पालन कराने के लिए उसे अपने सदस्य-राज्यों की सेना पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों में यह भी निश्चिय है कि किसी बड़ी सैनिक कार्रवाई के लिए सेना बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा ही उपलब्ध करायी जा सकती है। ऐसी स्थिति में संघ केवल छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध ही सैनिक कार्रवाई कर सकता है और वह भी तब जबकि बड़े राष्ट्र उसके लिए सेनाएँ देने को तत्पर हों। स्वयं बड़े राष्ट्रों अथवा उनका समर्थन प्राप्त छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध तो किसी भी प्रकार की सैनिक कार्रवाई की ही नहीं जा सकती।

16.6 सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति का रक्षक और सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति का अग्रदूत- इन दोनों ही रूपों में संयुक्त राष्ट्र संघ पुराने राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुआ है। अपनी दुर्बलताओं और विफलताओं के बावजूद यह मानवीय

बुद्धि द्वारा परिकल्पित अब तक का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ को एक आदर्श संस्था नहीं माना जा सकता। यह न केवल एक विश्व-सरकार के रूप में कार्य करने की स्थिति से बहुत दूर है वरन् एक अन्तर्राष्ट्रीय पंच और मध्यस्थ के रूप में भी अत्यन्त शक्तिहीन है। इसकी स्थापना के पिछले छह दशकों में विश्व रंगमंच पर जो कुछ हुआ है उसको देखते हुए अनेक क्षेत्रों में इस संस्था की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाये जा रहे हैं। कुछ निराशावादियों ने तो यहाँ तक कह डाला कि विश्व संस्था यदि मर नहीं चुकी है तो मरणोन्मुख हो रही है। उनके अनुसार जिन आदर्शों को लेकर तथा जिन आशाओं के साथ इसकी स्थापना की गयी थी उनमें आंशिक सफलताएं ही मिली हैं। आज कोई जबर्दस्त आशावादी भी यह नहीं सोचता कि संयुक्त राष्ट्र संघ किसी कल्पित विश्व संघ या महासंघ का आदि रूप बन सकता है। परन्तु इसकी कमियाँ मानव समाज की कमियाँ हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि कोई भी संस्था अपने सदस्यों की क्षमता के अनुरूप ही काम कर सकती है। सदस्यों की क्षमता ही उसकी शक्ति और सीमा होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसका अपवाद नहीं है। यह कोई रामबाण नहीं है और न कोई जादू की छड़ी। “यह तो एक मंच है या सांविधानिक ढाँचा है जिसमें सरकारों के बीच वार्तालाप होता है।” यह राजनीतिज्ञों के लिए एक नया शास्त्र है, सरकारों के लिए एक नया साधन है और राजनय की एक नयी प्रविधि है। यह सहयोग का एक साधन या एक अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी समिति के समान है। आधुनिक विश्व की वास्तविक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उस तरह के साधन अथवा मंच की सार्थकता निर्विवाद है। सम्प्रभुता के कट्टर समर्थक राज्यों के लिए भी एक विश्व-मंच अनिवार्यतः चाहिए ही। समस्या के कुछ मुख्य उलझते हैं तो कुछ सुलझते भी हैं। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ की सार्थकता तथा प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पिछले 60 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा क्या कार्य किये जाते हैं? क्या आप समझते हैं कि यदि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये जायें तो इसका भविष्य सुरक्षित रहेगा? इसको वास्तविक रूप में प्रभावशाली बनाने के लिए आप कौन-से सुधारों का सुझाव देंगे?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा कश्मीर समस्या पर किये गये प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के शान्ति प्रयासों से क्या अभिप्राय है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय कहाँ पर है?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ कब अस्तित्व में आया?

निःशस्त्रीकरण : प्रयास और समस्याएँ

संरचना

- 17.0 उद्देश्य
- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 निःशस्त्रीकरण : परिभाषा और अर्थ
- 17.3 निःशस्त्रीकरण का संक्षिप्त इतिहास
- 17.4 निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता
 - 17.4.1 शस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना
 - 17.4.2 शस्त्रीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होना
 - 17.4.3 शस्त्रीकरण पर व्यय से लोक-कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा
 - 17.4.4 शस्त्रीकरण नैतिकता के प्रतिकूल है
 - 17.4.5 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप
 - 17.4.6 शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होना
 - 17.4.7 शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम है
 - 17.4.8 शान्तिपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण बातावरण के लिए
 - 17.4.9 वायुमण्डल को दूषित होने से बचाना
 - 17.4.10 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
- 17.5 निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयास
 - 17.5.1 राष्ट्र संघ और निःशस्त्रीकरण
 - 17.5.2 संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा चिरस्त्रीकरण के प्रयास
 - 17.5.3 निःशस्त्रीकरण आयोग
 - 17.5.4 शान्ति के लिए परमाणु
 - 17.5.5 निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपसमिति
 - 17.5.6 अधिकारिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1963
 - 17.5.7 अणु अप्रसार सन्धि, 1968
 - 17.5.8 न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल सन्धि, 1971
 - 17.5.9 साल्ट वार्टाएँ एवं सामरिक अस्त्र परिसीमन सन्धि
 - 17.5.10 साल्ट-2 समझौता 1979
 - 17.5.11 संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण सम्मेलन 1982
 - 17.5.12 सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 सन्धि
 - 17.5.13 मास्को में ऐतिहासिक स्टार्ट-2 सन्धि
 - 17.5.14 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि

17.6 निःशस्त्रीकरण के मार्ग में आधाएँ

- 17.6.1 प्राथमिकता का प्रश्न
- 17.6.2 अनुपात की समस्या
- 17.6.3 राष्ट्रीय हित
- 17.6.4 राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता
- 17.6.5 आर्थिक कारण

17.7 सारांश

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत शस्त्रों की होड़ के अंतर्निहित कारणों, निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता और आम तौर पर पूर्ण निःशस्त्रीकरण की दिशा में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रयासों का अध्ययन किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात्, आप :

- शस्त्रों की होड़, शस्त्र नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण के अर्थ को समझ सकेंगे,
- निःशस्त्रीकरण के पक्ष में दिये जाने वाले विभिन्न तर्कों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये विभिन्न उपायों को समझ सकेंगे,
- इन उपायों की असफलता के कारण और निःशस्त्रीकरण की भावी सम्भावनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

विश्व युद्ध के बाद विश्व, जो दो महाशक्तियों के नेतृत्व में दो अलग-अलग गुटों में बंट गया था, उसके कारण इन दोनों गुटों में हथियारों की होड़ में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दोनों महाशक्तियों ने अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये ही नहीं, बल्कि अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा के लिये भी अनेक रौन्य रिझातों का विकारा किया। दून राक्षे परिणामवरूप नये हथियारों, विशेषकर नाशिकीय (चूकिलयर) व परम्परागत हथियारों का उत्पादन हुआ। दोनों महाशक्तियों- स्वयं तो भयकर शस्त्र-होड़ में लगी ही थीं उन्होंने विकासशील देशों में अपने समर्थक राज्यों को भी हथियार देना शुरू कर दिया। यह विश्व स्तर पर उनकी शत्रुता का तार्किक विस्तार था। विश्व में हथियारों की होड़ का तीसरा कारण विशुद्ध रूप से व्यावसायिक था अर्थात् धन कमाने के लिये तीसरी दुनिया के देशों को हथियार बेचना था। इस तरह विश्व में सैन्यीकरण की स्थिति बनी, जिसका अर्थ था विश्व के सभी भागों में हथियारों की होड़, सैन्य हथियारों की संख्या और स्तर में कई गुना वृद्धि होने लगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का मुख्य आधार यह था कि विरोधी को रोकने के लिये हथियारों का भारी भंडार जमा कर शांति को सुनिश्चित किया जा सकता है। लेकिन इस धारणा ने शांति को सुनिश्चित करना तो दूर, इस विश्व पर जीना दूर्भार कर दिया है। अब तक जितने नाभिकीय हथियार जमा हो चुके हैं वे पृथ्वी को कई-कई बार नष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इस भयावह स्थिति से हथियारों की पागल या अंधाधुंध होड़ पर तुरंत और प्रभावी नियंत्रण लगाने की चिंता, और निःशस्त्रीकरण की दिशा में गंभीर और सच्चे प्रयास करने की आवश्यकता पैदा हुई। अतः इस प्रकार की आशंकाओं से भयभीत होकर विश्व के सभी बुद्धिमान व्यक्ति इस समस्या पर एकमत हुए कि शस्त्रास्त्रों की होड़ को रोका जाना मानव- सभ्यता की रक्षा के लिए आवश्यक है।

17.2 निःशस्त्रीकरण : परिभाषा और अर्थ

निःशस्त्रीकरण का शाब्दिक अर्थ है शारीरिक हिंसा के प्रयोग के समस्त भौतिक तथा मानवीय साधनों का उन्मूलन। यह एक कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य हथियारों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम करना है। इससे हथियारों की सीमा निश्चित करने या उन पर नियन्त्रण करने या उन्हें घटाने का विचार ध्वनित होता है। निःशस्त्रीकरण के प्रयास युद्ध को पूरी तरह समाप्त करने की कलात्मक आशा की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु आश्चर्य में डाल देने वाले तथा यकायक होने वाले आक्रमणों को

रोकने के लिए किये जाते हैं। निःशस्त्रीकरण का लक्ष्य आवश्यक रूप से निरस्त्र कर देना नहीं है। इसका लक्ष्य तो यह है कि जो भी हथियार इस समय उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटा दिया जाये। मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, “निःस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रों में कटौती या उनको समाप्त करना है ताकि शस्त्रीकरण की दौड़ का अन्त हो।”

संक्षेप में, किसी राज्य द्वारा सैन्य शक्ति तथा हथियारों में कटौती करने की प्रक्रिया को निःशस्त्रीकरण कहते हैं। निःशस्त्रीकरण के रास्ते का चुनाव कोई राज्य या तो स्वेच्छा से करता है या फिर बाह्य शक्तियों के दबाव में आकर करता है अथवा क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के तहत करता है। निःशस्त्रीकरण आंशिक रूप से हो सकता है या फिर व्यापक रूप से भी हो सकता है। आंशिक निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय अधिक खतरनाक समझे जाने वाले विशेष प्रकार के हथियारों में कटौती करना है। समग्र या व्यापक निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय है, सभी प्रकार के हथियारों को समाप्त करना है।

17.3 निःशस्त्रीकरण का संक्षिप्त इतिहास

निःशस्त्रीकरण की अवधारण बहुत पुरानी है। बहुत पहले से ही यह अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का औजार रहा है। इसका इतिहास 546 ई.पू. में खोजा जा सकता है जब आपस में युद्धरत चीन के रजवाड़ों ने एक सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण की एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके लंबे समय से चले आ रहे आपसी युद्धों के अंत की घोषणा की थी।

आधुनिक काल में निःशस्त्रीकरण के सरोकार में वृद्धि हुई है। इस दिशा में पश्चिमी देशों और एक दूसरे के प्रति गहरी बैठी आशंका और अविश्वास के चलते सारे प्रयास असफल रहे। इस सम्बन्ध में पश्चिमी शक्तियाँ और सेवियत संघ ने विशेष रूप से प्रयास किए किन्तु निःशस्त्रीकरण के जो प्रस्ताव पेश किए जाते रहे हैं इनमें प्रस्तावक के हतों की रक्षा पर विशेष जोर रहता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि इस युग में सफल और स्थाई निःशस्त्रीकरण की संधियाँ ही नहीं हुई। 1817 में अमरीका और इंग्लैण्ड ने अमरीका कनाडा सीमा क्षेत्र को सैन्य बल से मुक्त रखने का समझौता किया था। सेवियत संघ बगौट समझौते के नाम से जाना जाने वाला यह समझौता वर्तमान में भी लागू है।

पहला अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन 1899 में हेग में आयोजित हुआ था। इसमें लगभग सभी प्रमुख यूरोपीय देशों ने भाग लिया था। सम्मेलन बिना किसी विशेष सफलता के समाप्त हो गया था। लेकिन फिर भी सम्मेलन में कुछ घातक हथियारों की पाबंदी के प्रस्ताव पारित हुए जिसमें राज्यों से सैन्य खर्चों में कटौती करने को कहा गया था जिससे उस धन को विकास कार्यों में लगाया जा सके। हेग में ही, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन 1907 में हुआ। यह सम्मेलन भी विभिन्न देशों के बीच हथियारों की बढ़ती होड़ को रोकने में असफल रहा। 1914 में जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया तो युद्ध में शरीक सभी देशों ने विभिन्न सम्मेलनों और बैठकों में दिए आश्वासनों और प्रतिबद्धताओं को भूलकर सभी ने समझौतों को तोड़ डाला था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, 1920 में “लीग ऑफ नेशन्स” (राष्ट्र संघ) नाम से पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई। यह दरअसल, निःशस्त्रीकरण से संबंधित मुद्दों पर बहस के लिए मंच के रूप में काम करने लगा। लीग के घोषित उद्देश्यों में निःशस्त्रीकरण प्रमुख मुद्दा था। लीग के तत्वाधान में निःशस्त्रीकरण पर अध्ययन हुए तथा सम्मेलन आयोजित किए गए। 1932 में लीग ऑफ नेशन्स ने प्रथम निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण के बारे में प्रक्रिया संबंधी चर्चा की गई थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुए व्यापक विनाश और जापान में अमरीका द्वारा गिराये गये परमाणु बमों के विस्फोट के तत्कालीन और दूरगामी भयावह परिणामों से लोगों में शांति और निःशस्त्रीकरण की चेतना बढ़ी। युद्ध की समाप्ति पर एक विश्व संगठन राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ की पहली ही आम सभा में संयुक्त राष्ट्र परमाणु ऊर्जा आयोग (यू.एन.ए.ई.सी.) का गठन किया गया। इस आयोग का काम है, हथियारों की होड़ खत्म करने की दिशा में विशिष्ट संसुलियाँ प्रस्तुत करना। संयुक्त राष्ट्र की आमसभा ने इस आयोग को विकास कार्यों में शांतिपूर्ण उपयोग की योजना बनाने का भी उत्तरदायित्व सौंपा गया।

17.4 निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता

निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। इसके अभाव में मानव सभ्यता एवं मानव जाति का विनाश अवश्यम्भावी है। आज राष्ट्रों के पास भयंकर एवं विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का इतना अधिक भण्डार है कि कोई भी क्षणिक भूल या मिथ्यानुमान विश्व का

अनेक बार विनाश कर सकता है। इससे पहले कि ये अस्त्र मानव जाति का संहर करें, मानव जाति को इन अस्त्रों को समाप्त या नियन्त्रित करने के लिए सहयोग करना होगा अन्यथा सह-मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से अनुभव की जाती है :

17.4.1 शस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना- निःशस्त्रीकरण का आधुनिक दर्शन इस संकल्पना को लेकर चलता है कि व्यक्ति लड़ते हैं, क्योंकि उनके पास हथियार हैं। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि व्यक्ति सब हथियार छोड़ दें तो सब प्रकार का लड़ना असम्भव हो जायेगा। प्रथम विश्व-युद्ध का प्रधान कारण राष्ट्रों में व्याप्त शस्त्रीय होड़ ही था। शस्त्र उत्पादन पर अनाप-शनाप खर्च करके राजमर्ज़न जनता को उनका युद्ध में इस्तेमाल करके यह दिखाते हैं कि इस पर किया गया खर्च राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण मामले पर था। मसलन द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर बम गिराये। इस बम के उत्पादन पर अमरीका ने अरबों डॉलर व्यय किया था। बम का प्रयोग कर अमरीकी शासकों ने अपनी जनता का परोक्ष रूप से यह दर्शाना चाहा कि खर्च किया गया धन व्यर्थ नहीं गया है। अतः निःशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर युद्धों से बचा जा सकता है।

17.4.2 शस्त्रीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होना- राष्ट्रों में अस्त्र-शस्त्र-निर्माण की होड़ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा भंग करती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है। विभिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रीय हितों का टकराव अस्वाभाविक तथ्य नहीं है। इस टकराव में शस्त्रीकरण आग में घी का काम करता है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव अपनी चरमोत्कर्ष की सीमा पर पहुँच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हैडली बुल ने कहा है कि शस्त्रों की हौड़ स्वयं तनाव की अभिव्यक्ति है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी लाने के लिए निःशस्त्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

17.4.3 शस्त्रीकरण पर व्यय से लोक-कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा- शस्त्रों के उत्पादन में असीमित संसाधन व्यय किये जाते हैं। विश्व के छोटे-छोटे सभी राष्ट्र अपने बजट का अधिकांश भाग शस्त्रों के निर्माण एवं सैन्य सामग्री जुटाने में खर्च करते हैं। यह आशर्वय की बात है कि महाशक्तियों द्वारा अरबों डॉलर खर्च करके ऐसे बमों एवं मिसाइलों का निर्माण किया गया है। जिनकी भविष्य में प्रयोग किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। वह बिपुल धनराशि जो राष्ट्रों द्वारा विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर व्यय की जाती है यदि विश्व के अविकसित और पिछड़े देशों के विकास पर व्यय की जाये तो समूचे विश्व का रूप बदल सकता है। आइजनहॉवर के शब्दों में “प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावतरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और उन्हें खाना नहीं खिलाया जाता, जो ठिरुरते हैं, किन्तु उन्हें वस्त्र नहीं दिये जाते- एक चोरी का सूचक होता है।” दूसरे शब्दों में, विनाशकारी कार्यों में व्यय किये जाने वाले इस धन को लोक-कल्याणकारी कार्यों में लगाकर पृथ्वी को स्फोर्चा बनाया जा सकता है।

17.4.4 शस्त्रीकरण नैतिकता के प्रतिकूल है- शस्त्रों से युद्ध होता है और युद्ध नैतिक दृष्टि से अनुचित है। जो लोग युद्ध के नैतिक अनौचित्य में विश्वास रखते हैं उनका कहना है कि हथियार रखने का अर्थ है युद्ध की मूक स्वीकृति और युद्ध की मूक स्वीकृति हर प्रकार से युद्ध को बल देती है। शस्त्रीकरण को नैतिकता के प्रतिकूल मानने वालों में धर्मगुरु, सामाजिक कार्यकर्ता तथा प्रबुद्ध लेखक हैं। इन नैतिकवादियों का तर्क है कि किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतने श्रेष्ठ होने चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई राष्ट्र शत्रु से राष्ट्रीय सुरक्षा करने हेतु शस्त्रों का उत्पादन करता है तो यह नैतिकता के खिलाफ है क्योंकि यह शस्त्रीकरण अन्तोगत्वा युद्ध को जन्म देता है।

17.4.5 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप- शस्त्रीकरण दूसरे देशों द्वारा हस्तक्षेप करने का भी मार्ग प्रशस्त करता है। विश्व के छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों से शस्त्र तथा हथियारों की तकनीक का आयात करते हैं। आमतौर से यह देखा गया है कि बड़े राष्ट्र शस्त्र निर्यात और शस्त्र सहायता को राजनीतिक दबाव के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं ताकि परोक्ष रूप से प्राप्त कर्ता देश दाता देशों के चंगुल में फंसे रहें। यही नहीं, शस्त्र सहायता एवं शस्त्र निर्यात के नाम पर बड़ी शक्तियाँ छोटे देशों की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए अमरीका ने नाटों, सीटों, सेण्टों तथा सोवियत संघ ने वारसा पैकेट के द्वारा इनके सदस्य राष्ट्रों को शस्त्र सहायता दी। इस शस्त्र सहायता के नाम पर यथार्थ में सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में दबाव बनाया। अतः तीसरे विश्व में बाह्य हस्तक्षेप को रोकने के लिए आवश्यक है कि शस्त्रीकरण की नीति छोड़कर निःशस्त्रीकरण के मार्ग को अपनाया जाये।

17.4.6 शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होना- शस्त्रीकरण पर राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग खर्च होने से विशेषकर तृतीय विश्व के विकासशील देशों के आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीका महाद्वीप के राष्ट्र द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ही औपनिवेशिक दासता से मुक्त हुए हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान उनकी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया गया था। औपनिवेशिक शक्तियों ने उनका असीमित आर्थिक शोषण किया। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय होने के कारण अब तृतीय विश्व को अपनी एक मजबूत अर्थव्यवस्था का निर्माण करना है, जो स्वतन्त्र आर्थिक विकास के माध्यम से ही सम्भव है।

17.4.7 शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम है- शस्त्रीकरण के क्षेत्र में होने वाली अद्यतन क्रान्ति ने सम्पूर्ण मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। तकनीकी अविष्कारों ने इन्हें भयानक शस्त्रों का निर्माण कर दिया है कि कुछ ही मिनटों में सम्पूर्ण विश्व को नष्ट किया जा सकता है। फिलिप नोअल बेकर के शब्दों में, “आधुनिक शस्त्रों में प्रतिद्वन्द्विता मानवता के लिए भौत का ऐसा सन्देश बन गयी है जिसकी भयानकता किसी भाषा में भी व्यक्त नहीं की जा सकती है। केवल निरस्त्रीकरण सम्भव के ही उपाय द्वारा इसे रोका जा सकता है।”

17.4.8 शान्तिपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण वातावरण के लिए- निःशस्त्रीकरण से विश्व में ऐसा शान्तिपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण वातावरण पैदा किया जा सकता है जो विवादों को पारस्परिक बातचीत और समझौते द्वारा सुलझाने में सहायक हो सकता है। यह वातावरण ही अन्ततः विश्व राज्य और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को साकार बना सकता है।

17.4.9 वायुमण्डल को दूषित होने से बचाना- वायुमण्डल को दूषित होने से बचाने के लिए भी निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। आणविक अस्त्रों के परीक्षण से सारा वातावरण तथा पर्यावरण जहरीला होता जा रहा है। इन परीक्षणों से निम्नलिखित प्रकार के संकट उत्पन्न होते हैं-

- (1) विस्फोट तथा उससे उत्पन्न तापीय प्रभाव अर्थात् विस्फोट से शक्तिशाली और तीव्र गति वाली तूफानी हवा की लहरें उठती हैं जिससे पेड़-पौधे, जीव-जन्तु तो क्या बड़ी-बड़ी मजबूत अट्टालिकाएँ भी पलभर में खण्डहर बन जाती हैं।
- (2) गामा किरणों तथा न्यूट्रोन का विकिरण अर्थात् जहाँ परमाणु बमों का विस्फोट होता है, उस जगह का तापक्रम गरम होकर आग का लावा बन जाता है जिससे जलनशील वस्तुएँ जल कर खाक हो जाती हैं।

17.4.10 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण- मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट है कि शस्त्रीकरण देश में सैनिकीकरण तथा युद्धोन्माद की भावना को जन्म देता है। सैनिकों का होना इस बात का घोतक है कि किसी भी प्रकार से युद्ध में विजय प्राप्त की जाए। शस्त्रों की उपस्थिति का अर्थ शक्ति का प्रदर्शन, धमकी, आक्रमण विरोध आदि को प्रोत्साहित करना है। ये सभी कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अशान्त वातावरण उत्पन्न करते हैं। सैन्य उन्माद किसी भी देश के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

17.5 निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयास

निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं तथा कुछ सफलताओं की कहानी है। इसकी असफलता का मुख्य कारण निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रों में सदिच्छा का अभाव है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ‘शक्ति ही सबसे बड़ा न्याय’ था, अतः उस काल में निःशस्त्रीकरण के लिए किये गये प्रयासों का विशेष महत्व नहीं है। विश्व के देशों को निरस्त्र करने की न तो किसी ने आवश्यकता अनुभव की थी और न इस दिशा में प्रयास ही किये गये थे। सन् 1899 के हेग सम्मेलन में बस यह प्रस्ताव ही पारित हुआ था कि “मानवता के भौतिक और नैतिक कल्याण के लिए सैनिक हथियारों का नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है।” अतः प्रथम विश्व युद्ध में हुए नरसंहार ने युद्ध की भयानकता से भावी संततियों को बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता सिद्ध कर दी।

17.5.1 राष्ट्रसंघ और निःशस्त्रीकरण- राष्ट्र संघ के संविधान की 8 वीं धारा में शान्ति स्थापित करने के लिए शस्त्रों की कमी को आवश्यक बताते हुए इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य संघ की कौंसिल को सौंपा गया था। इस कार्य के लिए जनवरी, 1920 में एक स्थायी परामर्शदाता आयोग बनाया गया। इसके सदस्य उस समय कौंसिल में विद्यमान देशों में से प्रत्येक की स्थल, जल और वायु सेना के एक-एक विशेषज्ञ होते थे। इन सेनाविशारदों से निःशस्त्रीकरण की आशा वैसी ही थी जैसी पादरियों के किसी आयोग

से वास्तविकता की घोषणा की आशा रखना। अतः नवम्बर 1920 में संघ की असेम्बली या महासभा ने इसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशेषज्ञ समझे जाने वाले छः असैनिक सेवा के व्यक्तियों को बढ़ाकर अस्थायी मिश्रित आयोग के रूप में इसका पुनर्निर्माण किया। अक्टूबर 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बन्द कर दिया गया और इसके स्थान पर निःशास्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सज्जीकरण आयोग बनाया गया। इस आयोग के पाँच वर्ष तक निरन्तर प्रयास करने पर भी निःशास्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को अपनी सात बैठकों में न सुलझा सका। 6 नवम्बर, 1930 को इस आयोग का सातवाँ और अन्तिम अधिवेशन हुआ। 9 दिसम्बर, 1930 को इसने निःशास्त्रीकरण की एक योजना का मूल प्रस्ताव पास करके अपनी कार्यवाही समाप्त की। 60 धाराओं के इस प्रस्ताव की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—

- (1) स्थल युद्ध की रण सामग्री पर बजट द्वारा नियन्त्रण किया जाये।
- (2) सैनिकों की संख्या का नियन्त्रण करते हुए प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों का विचार न किया जाये।
- (3) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाये।
- (4) नौ सैनिक जहाजों पर 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा 1930 के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाये।
- (5) हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर नियन्त्रित किया जाये।
- (6) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों को रोका जाये।
- (7) एक स्थायी निःशास्त्रीकरण आयोग बनाया जाये।

उपर्युक्त प्रस्ताव को मुख्य आधार बनाकर इस समस्या पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ का निःशास्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में 3 फरवरी, 1932 को आर्थर हैण्डर्सन के सभापतित्व में आरम्भ हुआ। परन्तु फ्रांस और जर्मनी के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप यह सम्मेलन क्रियात्मक रूप से असफल हो गया और इससे कोई उपलब्धि प्राप्त नहीं हुई।

17.5.2 संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशास्त्रीकरण के प्रयास- संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 11,26 और 47 में निःशास्त्रीकरण सम्बन्धी व्यवस्थाओं का वर्णन मिलता है। निःशास्त्रीकरण के विषय को संयुक्त राष्ट्र महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों की कार्य सूची में शामिल किया गया है। धारा 11 के अनुसार, “अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए महासभा निःशास्त्रीकरण और शस्त्रों के नियमन सम्बन्धी सिद्धान्तों सहित सहयोग के सामान्य नियमों पर विचार कर सकती है और इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सदस्यों या सुरक्षा परिषद् या दोनों को ही सिफारिशें कर सकती हैं।” धारा 26 सुरक्षा परिषद् को यह उत्तरदायित्व सौंपती है कि “वह सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से शस्त्रों के नियमन सम्बन्धी व्यवस्था की स्थापना हेतु योजनाओं का निर्माण करे और उन्हें संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत करे। धारा 47 के अनुसार, सैनिक स्टाफ समिति का यह उत्तरदायित्व है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हेतु सैनिक आवश्यकताओं सेनाओं के प्रयोग और कमाण्ड, शस्त्रों के नियमन और साम्बावित निःशास्त्रीकरण सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर सुरक्षा परिषद् को परामर्श और सहायता प्रदान करे।” इस तरह, निःशास्त्रीकरण संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य सूची में सबसे ऊपर है।

17.5.3 निःशास्त्रीकरण आयोग- राष्ट्रों में निःशास्त्रीकरण सम्बन्धी वार्ताएँ होती हैं परन्तु साथ में वे परमाणु शक्ति का विस्तार भी करते रहे हैं। 1949 में पूर्व सोवियत संघ ने परमाणु बम का विस्फोट कर लिया था और 1952 तक अमरीका ने हाइड्रोजन बम का विकास कर लिया था। गहालातियों की यह दौड़ निरन्तर जारी रही है। 1952ई. में अणु शक्ति आयोग और परमाणुरागत अस्त्रों साम्बन्धी आयोग को मिलाकर एक नये आयोग की स्थापना की गई जिसे ‘निःशास्त्रीकरण आयोग’ की संज्ञा दी गई। इस आयोग के सदस्यों की संख्या 12 थी जिनमें शामिल थे – सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी और 6 अस्थायी सदस्य तथा कलाडा। इस आयोग ने परमाणु एवं परमाणुरागत अस्त्रों पर खर्च किये जाने वाले धन, अस्त्रों के निरीक्षण तथा नियन्त्रण सम्बन्धी अनेक प्रस्तावों पर विचार किया और सुरक्षा परिषद् के समक्ष अनेक प्रस्ताव भी किये परन्तु इस आयोग को भी अनेक प्रयासों में कोई सफलता नहीं मिली। अतः यह प्रयास भी असफल रहा।

17.5.4 शान्ति के लिए परमाणु- दिसम्बर, 1953 में अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइजनहावर ने ‘शान्ति के लिए परमाणु योजना’ को प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य परमाणु शक्ति का शान्तिमय कार्यों के लिए प्रयोग करना था। परन्तु पूर्व सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि पहले परमाणु अस्त्रों के निषेध पर समझौता किया जाए।

17.5.5 निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपसमिति- 1954 में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी पाँच सदस्यीय उपसमिति की स्थापना की गयी। अमरीका, पूर्व सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और कनाडा इस समिति के सदस्य थे। इस समिति की जुलाई, 1955 की बैठक में अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइजनहावर ने 'खुले आकाश' सम्बन्धी अपनी योजना को प्रस्तुत किया। इस योजना में उन्होंने यह प्रस्ताव किया था कि "अमरीका अपने देश में हवाई फोटो की सुविधाएँ प्रदान करेगा और पूर्व सोवियत संघ को भी इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी।" दूसरे शब्दों में, दोनों देशों के आकाश एक-दूसरे देश के लिए खुले रहेंगे और वे अध्ययन के लिए परमाणु संस्थाओं की फोटो ले सकते हैं। पूर्व सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का उत्तर ही नहीं दिया। पूर्व सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का उत्तर अक्टूबर, 1957 में अन्तरिक्ष में स्पूतनिक छोड़कर दिया। इससे पूर्व सोवियत संघ अन्तरिक्ष में और टैक्नोलॉजी या तकनीक में अमरीका से आगे बढ़ गया और यह टैक्नोलॉजी या तकनीक इतनी दूत गति से बढ़ी कि निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव उसके साथ कदम मिलाने में असमर्थ रहे। "कूटनीति और टैक्नोलॉजी निरन्तर 'दौड़' की स्थिति में है, कूटनीति उसे पकड़ना चाहती है परन्तु टैक्नोलॉजी उसके आगे ही रहना चाहती है।"

17.5.6 आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि 1963- 14 जुलाई, 1963 ई. को ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका के प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मेलन हुआ। 25 जुलाई, 1963 को इन तीनों देशों ने एक 'सीमित अणु प्रतिबन्ध सन्धि' पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र और वायुमण्डल में अणु परीक्षण करने पर रोक लगा दी गयी। फ्रांस ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये, चीन इसका विरोधी था और भारत हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों में अग्रणी था। इस सन्धि की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित रूप से थी :-

- (1) बाह्य आकाश, वायुमण्डल और जल के भीतर परमाणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायें।
- (2) क्योंकि भूगर्भ में किये गये परीक्षणों को भूकम्प से पृथक् करना सम्भव नहीं, भूगर्भ परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका।
- (3) सन्धि का कोई काल निश्चित नहीं किया गया। अर्थात् सन्धि अनिश्चित काल के लिए है।
- (4) असाधारण घटनाओं के घटित होने पर सन्धिकर्ता सहू तीन महीने की पूर्व सूचना देकर सन्धि से पृथक् हो सकते हैं।

आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का स्वागत करते हुए "स्थायी शान्ति और निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम कदम", "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नया मार्ग और अरुणोदय" और "मेल-मिलाप की प्रतिज्ञा और एक अधिक सौम्य भविष्य की आशा" कहा गया। परन्तु इस सन्धि से परमाणु परीक्षणों से सम्बन्धित सब समस्याएँ, विशेष रूप से परमाणु अस्त्रों को लक्ष्यों पर पहुँचाने के साधनों, प्रक्षेपास्त्र नाशक प्रक्षेपास्त्रों को त्रुटिहीन बनाने और रुदीवादी हथियारों से सम्बन्धित सब समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता था। यह न तो भूमिगत विस्फोटों पर रोक लगाती थी और न परमाणु हथियारों का उत्पादन बन्द रखती थी। इसके अलावा, यह परमाणु शक्तियों को अपने हथियार अपने मित्र राष्ट्रों को देने से भी नहीं रोकती थी। वस्तुतः भू-गर्भ परीक्षण को पकड़ने का कोई उचित तरीका न होने के कारण इस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। खुश्चेव ने इसे एक अच्छी शुरूआत और युगान्तरकारी बटना कहा था। इसकी कमियों के बावजूद इसका समर्थन ही हुआ।

17.5.7 अणु अप्रसार सन्धि, 1968- नवम्बर, 1966 में संयुक्त राष्ट्र महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के निर्माण एवं प्रसार पर रोक लगाने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि परमाणु अस्त्र यिहीन राष्ट्र अस्त्रों का निर्माण न करें तथा परमाणु अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र इसका निर्माण बन्द कर दें। इस प्रस्ताव को सन्धि के मसविदे का रूप देने के लिए इसे निःशस्त्रीकरण आयोग को भेज दिया गया। जो मसविदा तैयार हुआ उसे संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 13 जून, 1968 को स्वीकार कर लिया और सदस्य राष्ट्रों से इस पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया। अमरीका और पूर्व सोवियत संघ सहित 40 राज्यों का अनुसमर्थन प्राप्त होने पर इस सन्धि को 15 मार्च, 1970 को लागू कर दिया गया। इस सन्धि की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं-

1. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों को परमाणु बम के निर्माण के रहस्य की जानकारी नहीं देंगे।
2. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में सहायता नहीं देंगे।
3. परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र परमाणु बम बनाने का अधिकार त्याग देंगे।

12. परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और विस्फोटों पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।
5. ऐसे देश जिसमें परमाणु अस्त्र निर्माण की तकनीकी क्षमता है वे परमाणु शक्ति का विकास असैनिक कार्यों के लिए करेंगे। भारत तथा पाकिस्तान ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं।

17.5.8 न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल सन्धि 1971- 11 फरवरी, 1971 को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल सन्धि पर मास्को, लन्दन तथा वाशिंगटन में हस्ताक्षर किये और उसी दिन 64 अन्य देशों ने भी इस पर हस्ताक्षर किये संयुक्त राज्य की महासभा ने इसे 7 दिसम्बर, 1970 को स्वीकृत किया था। इस सन्धि के अनुसार प्रत्येक देश के प्रादेशिक समुद्र के 19 किलोमीटर का क्षेत्र छोड़कर समुद्रतल और महासमुद्र तल पर न्यूक्लीय अस्त्र और भवानक विनाश के अन्य परमाणु अस्त्र नहीं बिछाये जायेंगे। भारत ने इस सन्धि को अस्वीकार करते हुए इसकी आलोचना की। क्योंकि यह सन्धि प्रक्षेपास्त्रों से लैस फन्डुबियों और युद्धपोतों पर कोई रोक नहीं लगाती थी।

17.5.9 साल्ट वार्टाएँ एवं सामरिक अस्त्र परिसीमन सन्धि-1 - ये वार्टाएँ अमरीका और पूर्व सोवियत संघ के मध्य 1969-72 में कभी फिलैंड की राजधानी हेलिंसकी और कभी वियना में होती रही हैं। अन्ततः तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की मास्को यात्रा के दौरान 26 मई, 1972 को सामरिक अस्त्रों के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ जिसे सामरिक शस्त्र परिसीमन सन्धि-1 कहते हैं। यह निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम था।

22 मई, 1972 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन जब मास्को गये तो वहाँ सोवियत संघ और अमरीका के बीच दो महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये, जिनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों पर रोक लगाने से था। इन समझौतों के पक्ष में यह कहा गया कि इनसे शस्त्रों की होड़ में कमी आयेगी और परमाणु युद्ध को गेकरने में सहायता मिलेगी। वास्तव में, इन समझौतों के पीछे सोवियत संघ और अमरीका दोनों का यह स्वार्थ निहित था कि इज़ज़ा आपसी शस्त्र होड़ पर होने वाले निरर्थक व्यव को रोका जाये।

3 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दृष्ट-वर्षीय आणविक आयुद्ध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों देशों ने 150 किलोटन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नवी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध व्यवस्था को परिधि में नहीं आएंगे। नए समझौते के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र-व्यवस्था को 3 अक्टूबर 1977 से 2 अक्टूबर, 1978 के बीच एक बार और उसके उपरान्त पांच वर्ष में एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के अन्तर्गत ही किया जा सकेगा। लेकिन परमाणु-परीक्षण के संकट से विश्व को बचाने के लिए इतनी ही सन्धि काफी नहीं थी, अतः जून, 1976 में इसमें एक नवी धारा जोड़कर सन्धि को अधिक लाभकारी बना दिया गया। अब दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गए कि परमाणु स्थल का निरीक्षण किया जा सकता है। यह एक अधिनव कदम था।

17.5.10 साल्ट-2 समझौता, 1979 - 1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस सन्धि का दोनों देशों की संसदों द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक यतिरोध की स्थिति आ गयी तथा यह लागू नहीं की जा सकी। इससे निःशस्त्रीकरण प्रक्रिया को भारी धक्का लगा।

17.5.11 संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण सम्मेलन, 1982 - निःशस्त्रीकरण पर संयुक्त राष्ट्र महासभा के दूसरे अधिवेशन से स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान विश्व में अस्त्रों की होड़ समाप्त करने और परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने के लिए जनमत प्रबल होता जा रहा है, लेकिन विश्व के दो बड़े देश सोवियत संघ और अमरीका का रवैया निःशस्त्रीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा रहे। दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र मंच से निःशस्त्रीकरण के लिए विश्व को आह्वान तो किया लेकिन इस प्रश्न पर दोनों में बुनियादी तौर पर कोई सहमति नहीं हुई। बल्कि दोनों ही देश अस्त्रों के संग्रह और परमाणु अस्त्र उत्पादन के लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराते रहे। सोवियत राष्ट्रपति ब्रेजेनेव की परमाणु अस्त्रों का पहले प्रयोग न करने की घोषणा को महासभा के इस अधिवेशन की उपलब्धि माना गया

है। लेकिन अमरीकी विदेश सचिव अलेकजेण्डर हेग ने इसे सोवियत संघ का प्रचार मात्र कहकर इसके महत्व को कम करने का प्रयत्न किया।

17.5.12 सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 सन्धि- 31 जुलाई, 1991ई. को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति सीनियर जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शिखर सम्मेलन में “सामरिक हथियारों में कटौती” की ऐतिहासिक स्टार्ट 1 सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियाँ अपने परमाणु शस्त्रों की स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गई। यह सन्धि पहला बड़ा औपचारिक समझौता था, जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

17.5.13 मास्को में ऐतिहासिक स्टार्ट-2 सन्धि- 3 जनवरी, 1993ई. को अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने भव्य क्रेमलिन पैलेस (मास्को) में ऐतिहासिक सन्धि स्टार्ट-2 पर हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-2 परमाणु हथियारों में कटौती सम्बन्धी पहली सन्धि का अगला चरण है जिस पर जुलाई 1991 में राष्ट्रपति जार्ज बुश और तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-2 जिसे राष्ट्रपति येल्तसिन ने शताब्दी की ‘सन्धि’ कहा है, का उद्देश्य दोनों देशों के परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना है। स्टार्ट-2 पर हस्ताक्षर होना अन्तर्राष्ट्रीय निःसंतुष्टीकरण की दिशा में इमरणीय घटना है, इसका महत्व और क्षेत्र स्टार्ट-1 सन्धि से अधिक व्यापक था। इसका विश्व में स्वागत हुआ।

17.5.14 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (सी.टी.बी.टी.)- व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से लायी गयी सन्धि या समझौता है। लेकिन अपने वर्तमान स्वरूप में सी.टी.बी.टी. विश्व को परमाणु अस्त्रों से मुक्त करने में अक्षम है। इससे न तो परमाणु अस्त्रों की संख्या घटेगी न ही परमाणु हथियारों वाले देशों की वर्तमान आक्रमण क्षमता। एन.पी.टी. की भांति सी.टी.बी.टी. भी भेदभावपूर्ण है। इसमें भी परमाणु शक्तियों के लिए अलग तरह के प्रावधान हैं और बाकी देशों के लिए अलग। भारत ने इसके भेदभावपूर्ण चरित्र के कारण इस सन्धि पर भी हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। डॉ. मनमोहनसिंह के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार भी इस पर हस्ताक्षर नहीं करने के लिए कटिबद्ध है।

17.6 निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधाएं

यद्यपि हथियारों की होड़ ही वास्तव में तनाव और युद्ध के कारण है। लेकिन कोई भी देश हथियारों पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाने को सहमत नहीं है। हथियारों का भण्डार बढ़ाना राज्यों की राजनीतिक और आर्थिक विवशता है। परिणाम-स्वरूप निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रभावहीन साबित हो रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों में कोई चमत्कारिक सफलता नहीं मिली है। इसके मार्ग में अनेक बाधाएं हैं, जो इस प्रकार से हैं :

17.6.1 प्राथमिकता का प्रश्न- निःशस्त्रीकरण पहले किया जाये अथवा राज्यों के आपसी विवादों को पहले सुलझाया जाये। निःशस्त्रीकरण हो जाये तो कई राजनीतिक विवाद स्वयं सुलझ जायेंगे और राजनीतिक विवाद सुलझ जायें तो निःशस्त्रीकरण करना सुगम हो जायेगा। हमारी मूल समस्या यह है कि दोनों में से किस तर्क को ज्यादा वजनी मानें। हमारी धारणा यह है कि शस्त्रों की होड़ से तनाव, शंका, भय और युद्ध का सूत्रपात छोड़ता है अतः निःशस्त्रीकरण को प्राथमिकता देनी होगी।

17.6.2 अनुषात की समस्या- निःशस्त्रीकरण से अभिप्राय है शस्त्रीकरण पर सीमा, या नियन्त्रण लगाना अथवा उनमें कटौती करना। निःशस्त्रीकरण की मूल समस्या सभी देशों के शस्त्रों का आनुपातिक रूप से कम करना है। निःशस्त्रीकरण के उपरान्त यह नहीं होना चाहिए कि शक्तिशाली देश तो कमजोर बन जाये तथा कमजोर देश अधिक शक्तिशाली बन जाये। अतः निःशस्त्रीकरण में ‘सन्तुलित’ अथवा ‘आनुपातिक’ शक्ति को स्थिर ही रखना पड़ेगा। राज्य इस बात के लिए विशेष सतर्क रहते हैं कि आनुपातिक शक्ति में निःशस्त्रीकरण के बाद कोई भी परिवर्तन न हो। इतना ही नहीं, प्रत्येक राज्य निःशस्त्रीकरण के द्वारा अपनी शक्ति पर तो कोई आंच नहीं आने देना चाहता, यद्यपि दूसरे राज्यों की शक्ति को क्षीण करना चाहता है। अतः निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव प्रायः एकपक्षीय होते हैं।

17.6.3 राष्ट्रीय हित- राष्ट्रीय स्वार्थ निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। राष्ट्र सबसे पहले अपने हितों को देखते हैं और उसके बाद अपनी राष्ट्रीय सीमा से बाहर निकलकर आदर्शों में लिपटी हुई भाषा में अन्तर्राष्ट्रीय जगत को धोखा देने का प्रयास करते हैं। कोई भी राष्ट्र इसका अपवाद नहीं है। उदाहरणार्थ, भारत ने 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

17.6.4 राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता- राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी निःशस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनायी जाये। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई भी तैयार नहीं होता।

17.6.5 आर्थिक कारण- अमरीका और ब्रिटेन आदि पूँजीबादी देशों में शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाली कम्पनियों के मालिक व हिस्सेदार राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और निःशस्त्रीकरण कार्यक्रमों को सफल नहीं होने देते, क्योंकि निःशस्त्रीकरण हो जाने से उनका रोजगार ठप्प हो जायेगा और उनके कारखाने बन्द हो जायेंगे। निःशस्त्रीकरण हो जाने से यदि शस्त्र उद्योग बन्द हो गये तो पूँजीबादी देशों में बेकारी बढ़ेगी और लोगों की क्रयशक्ति नष्ट हो जायेगी।

17.7 सारांश

निःशस्त्रीकरण का मुद्दा अब विश्व की कार्यसूची में सबसे ऊपर आ चुका है, लेकिन इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो प्रयास किये गये हैं उनमें अभी काफी कमी रह गयी है। हथियारों की होड़ के खतरे को लेकर अधिकाधिक जागरूकता बन तो रही है, लेकिन विश्व ने घातक हथियारों के खतरे में रहना भी सीख लिया है। नयी प्रौद्योगिकी ने आधुनिक हथियारों को और भी भवंत्कर रूप से घातक बना दिया है।

इस शताब्दी के आठवें दशक में दोनों महाशक्तियों ने तनाव शैथिल्य के युग में प्रवेश किया था तो यह अपेक्षा जाग्रत हुई थी कि इससे हथियारों की होड़ थम जाएगी। लेकिन बास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसके बिपरीत, हथियारों की होड़ ने एक संस्था का रूप ले लिया। 1980 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में एक और शीत युद्ध देखने में आया जो कहीं अधिक गहन था। लेकिन 1980 के दशक के ही मध्य में गोर्बाच्योव के प्रयासों ने विश्व के क्षितिज पर एक नये युग का सूत्रपात किया है। महाशक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता या शत्रुता की जो पुरानी धारणाएं थीं उनके स्थान पर अब एक नया चिंतन आ गया है। इस नये चिंतन के तहत दोनों शक्ति गुटों के बीच टकराव के प्रमुख मुद्दों को सद्भाव के साथ समाधान किया जा रहा है। अतः बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में निःशस्त्रीकरण की सफलता के अवसर बढ़ गए हैं। सारांश में, यही कहा जा सकता है कि एकधर्मीय विश्व के युग में भी निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी है। लेकिन इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

अध्यास प्रश्नावली

निबन्धनात्मक प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिये ?
2. निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियन्त्रण आज पहले की अपेक्षा और अधिक आवश्यक है। चर्चा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का आकलन करें।
2. वर्तमान बटनाक्रम को देखते हुए क्या आप सोचते हैं कि निःशस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल है ?
3. निःशस्त्रीकरण के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रथम निःशस्त्रीकरण समझौता कब हुआ और इस पर हस्ताक्षर करने वाले कौन-कौन से देश थे ?
2. शस्त्र नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण में क्या अन्तर है ?

अणु अप्रसार सन्धि, स्टार्ट और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि

संरचना

- 18.0 उद्देश्य
- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 अणु अप्रसार सन्धि, 1968
- 18.3 सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 सन्धि
 - 18.3.1 स्टार्ट-2
- 18.4 व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि
- 18.5 सारांश

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर परमाणु मुक्त विश्व की कल्पना को साकार करने के लिए अणु अप्रसार सन्धि, स्टार्ट और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि जैसी शान्ति सन्धियों का उल्लेख किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप:

- अणु अप्रसार सन्धि (एन.पी.टी.) में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका को समझ सकेंगे,
- सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 एवं स्टार्ट-2 सन्धि के महत्त्व को समझ सकेंगे,
- व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (सी.टी.बी.टी.) के मसौदे या मस्विदे को समझ सकेंगे,
- शान्ति सन्धियों के विवादसंदर्भ कारणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- निःशस्त्रीकरण की दिशा में शान्ति सन्धियों की भूमिका की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही विश्व में परमाणु अस्त्रों को नियन्त्रित तथा समाप्त करने के प्रयास प्रारम्भ हो चुके थे। समय के साथ इन प्रयासों में तीव्रता आई क्योंकि सभी देश यह समझ चुके थे कि अगर मानव संहार के इन अस्त्रों पर नियन्त्रण नहीं किया गया तो सम्पूर्ण मानव सम्यता ही नष्ट हो जायेगी। परमाणु अस्त्रों पर नियन्त्रण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् से ही प्रयास प्रारम्भ हो चुके थे। इस दिशा में अनेक सफलताएँ भी प्राप्त हो चुकी थीं किन्तु जो समझौते किए गए थे वे केवल नाभिकीय शस्त्रों पर नियन्त्रण और नाभिकीय निःशस्त्रीकरण को ध्यान में रखकर किए गए थे। 1969 की समयावधि में नाभिकीय अस्त्रों-शस्त्रों के परीक्षण पर रोक संबंधी अनेक संधियां और समझौते हुए। इस तरह से मानव मात्र की सुरक्षा तथा पर्यावरण की रक्षा के लिए शस्त्र नियन्त्रण संबंधी समझौते हुए जैसे कि एन.पी.टी., स्टार्ट और सी.टी.बी.टी. इत्यादि। इस प्रकार इन सन्धियों से विश्व में शान्ति का नया बातावरण बना।

18.2 अणु अप्रसार सन्धि, 1968

नवम्बर, 1966 में संयुक्त राष्ट्र महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के निर्माण एवं प्रसार पर रोक लगाने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि परमाणु अस्त्र विहिन राष्ट्र परमाणु अस्त्रों का निर्माण न करें तथा परमाणु

अस्त्र सम्पत्र राष्ट्र इसका निर्माण बन्द कर दें। इस प्रस्ताव को सन्धि के मसविदे का रूप देने के लिए इसे निःशस्त्रीकरण आयोग को भेज दिया गया। जो मसविदा तैयार हुआ उसे संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 13 जून, 1968 को स्वीकार कर लिया। और सदस्य राष्ट्रों से इस पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया। अमरीका और पूर्व सोवियत संघ सहित 40 राज्यों का अनुसमर्थन प्राप्त होने पर इस सन्धि को 15 मार्च, 1970 को लागू कर दिया गया। इस सन्धि की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों को परमाणु बम के निर्माण के रहस्य की जानकारी नहीं देंगे।
2. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में सहायता नहीं देंगे।
3. परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र परमाणु बम बनाने का अधिकार त्याग देंगे।
4. परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और विस्फोटों पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।
5. ऐसे देश जिनमें परमाणु अस्त्र निर्माण की तकनीकी क्षमता है, वे परमाणु शक्ति का विकास असैनिक कार्यों के लिए करेंगे।

इस सन्धि को 1963 की परमाणु निषेध सन्धि के उपरान्त निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक युगान्तकारी कदम बताया गया। इस सन्धि को यद्यपि अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु यह सन्धि निःशस्त्रीकरण का कोई वास्तविक समाधान प्रस्तुत नहीं करती। यह सन्धि भूमिगत न्यूक्लीय परीक्षणों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती, परमाणु राज्यों द्वारा नये न्यूक्लीय अस्त्रों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाती न ही परमाणु राज्यों के न्यूक्लीय अनुसन्धान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण या निरीक्षण की व्यवस्था करती है। अतः सन्धि की शर्तों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के पाँचों स्थाई सदस्य (अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड, सोवियत संघ और साम्यवादी चीन) जिन्हें बीटों का अधिकार प्राप्त है, परमाणु तकनीक पर एकाधिकार स्थापित करके विश्व पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं। एन पी टी के प्रावधानों के अनुसार, परमाणु शक्ति रहित देश और ऐसे देश जो परमाणु शक्ति हासिल करने के कागर पर हैं, परमाणु अस्त्रों पर शोध और उनका निर्माण बंद कर दें। चूंकि सन्धि भेदभावपूर्ण है इसलिए भारत ने अपनी आपत्ति जताते हुए इस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। पाकिस्तान ने भी इस पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। संयुक्तराज्य अमरीका दोनों देशों पर इस संधि पर हस्ताक्षर करने का दबाव डाल रहा है।

18.3 सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 सन्धि

31 जुलाई, 1991 को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश सीनियर और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शिखर सम्मेलन में “सामरिक हथियारों में कटौती” की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियाँ अपने परमाणु शस्त्रों की स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गयीं। यह सन्धि पहला बड़ा औपचारिक समझौता था जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

18.3.1 स्टार्ट-2 – 3 जनवरी, 1993 को अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश सीनियर और रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्लसिन ने भव्य क्रेमलिन पैलेस (मास्को) में ऐतिहासिक सन्धि स्टार्ट-2 पर हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-2 परमाणु हथियारों में कटौती सम्बन्धी पहली सन्धि का अगला चरण था जिस पर जुलाई 1991 में राष्ट्रपति जार्ज बुश और तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किए थे। स्टार्ट-2 जिसे राष्ट्रपति येल्लसिन ने शताब्दी की ‘सन्धि’ कहा है का उद्देश्य दोनों देशों के परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना है, यानी बतमान लगभग 20,000 को कम करके 6,500 रखना है।

(अमरीका के 3,500 और रूस के 3,000) इस प्रकार अमरीका के शस्त्रागार में परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी जितनी 1960 में थी और रूसी हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी, जितनी 1970 में थी। स्टार्ट-2 पर हस्ताक्षर होना अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण की दिशा में स्मरणीय घटना थी, इसका महत्व और क्षेत्र स्टार्ट-1 तथा सुप्रसिद्ध आई.एन.एफ. सन्धि से अधिक व्यापक था।

18.4 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (सी.टी.बी.टी.)

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अपने प्रस्ताव संख्या 48/70 के माध्यम से निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की सिफारिश को स्वीकार करते हुए कहा था कि परमाणु अप्रसार सन्धि को व्यापक बनाने के बारे में विस्तृत विचार-विमर्श करें और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध

सन्धि का मार्ग प्रशस्त करें। अतः सो.टी.बी.टी. अर्थात् व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से निर्मित की गयी सन्धि है। इस सन्धि का उद्देश्य सामान्य और पूर्ण परमाणु निःशस्त्रीकरण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक है।

1. परमाणु परीक्षणों पर पूर्ण एवं सुदृढ़ रोक,
2. परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परीक्षण स्थलों एवं प्रयोगशालाओं में परमाणु अस्त्रों को परिष्कृत एवं विकसित करने पर रोक,
3. परमाणु शक्ति सम्पन्न एवं विहीन राष्ट्रों के बीच वर्तमान असमानता को दूर करने के लिए एक निश्चित समयावधि में सभी परमाणु अस्त्रों एवं उनसे सम्बन्धित प्रयोगशालाओं की चरणबद्ध समाप्ति और
4. परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की वचनबद्धता कि वे भविष्य में नई तकनीकों द्वारा परमाणु अस्त्रों का विकास नहीं करेंगे।

प्रस्तावित सन्धि सम्बन्धी वर्तमान प्रारूप विश्व को परमाणु अस्त्रों से मुक्त करने में अक्षम है। इससे न तो परमाणु अस्त्रों को संख्या घटेगी न ही परमाणु हथियारों वाले देशों की मौजूदा आक्रमण क्षमता। एन.पी.टी. की भाँति सी.टी.बी.टी. भी भेदभावपूर्ण है। इसमें भी परमाणु शक्तियों के लिए अलग तरह के प्रावधान हैं और दूसरे देशों के लिए अलग। भारत ने इसके भेदभावपूर्ण चरित्र के कारण इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया है।

18.5 सारांश

उपर्युक्त तीनों सन्धियों का प्रारूप इस तरह से तैयार किया गया है कि जिससे परमाणु तकनीकों पर परमाणु शक्तियों का एकाधिकार बना रहे और विश्व पर उनका वर्चस्व कायम हो सके। इन सन्धियों से परमाणु शक्तियों द्वारा अपने हथियारों को ज्यादा परिष्कृत करने और परमाणु तकनीक में सुधार करने पर कोई रोक नहीं लग सकी। परमाणु शक्ति से सम्पन्न देश ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं कि कम्प्यूटर और बंद जगहों पर परीक्षण की मदद से अपनी परमाणु तकनीक में सुधार का कार्यक्रम जारी रख सकते हैं। इन सन्धियों में इन उपायों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इन सन्धियों में परमाणु शक्तियों द्वारा एक निश्चित अवधि में मौजूदा परमाणु अस्त्रों को नष्ट करने का भी कोई प्रावधान नहीं है और न ही परमाणु शक्तियों इसके लिए तैयार होंगी। इस प्रकार ये सान्धियाँ विश्व की हांथयारों की होड़ से मुक्त रखने में न सक्षम हैं और न ही ये सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में सहायक हैं। इस तरह से आणविक संधियों के अन्यायपूर्ण प्रावधानों के कारण अनेक देशों ने इन पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। इससे इस कार्यक्रम को धक्का लगा है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अणु अप्रसार सन्धि का क्या महत्व है?
2. व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के उद्देश्यों का उल्लेख कीजिये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

टिप्पणियाँ लिखिए-

- स्टार्ट-1
- स्टार्ट-2

इकाई-19

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

संरचना

- 19.0 उद्देश्य
- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 अमरीकी विदेश नीति के निर्धारक तत्व
 - 19.2.1 भौगोलिक तत्व
 - 19.2.2 मानवीय तत्व
 - 19.2.3 सुरक्षात्मक शक्ति
 - 19.2.4 कूटनीति का तत्व
 - 19.2.5 संवैधानिक तत्व
 - 19.2.6 दलगत सहयोग की राजनीति
- 19.3 द्वितीय महायुद्धोत्तर कालीन अमरीकी विदेश नीति
 - 19.3.1 साम्यवाद का अवरोध
 - 19.3.2 सैनिक सम्भियों की नीति
 - 19.3.3 आर्थिक सहायता की कूटनीति
 - 19.3.4 मानवाधिकारों का समर्थन
 - 19.3.5 लोकतन्त्र बहाली के नाम पर राष्ट्रों में हस्तक्षेप
 - 19.3.6 यूरोप की राजनीति में सहभागिता
- 19.4 राष्ट्रपति ट्रूमैन और अमरीकी विदेश नीति
 - 19.4.1 विश्व राजनीति में खुलकर भाग लेना
 - 19.4.2 साम्यवाद के अवरोध की नीति
 - 19.4.3 नाटो की स्थापना
 - 19.4.4 सहयोग और अनुकूलता की नीति
 - 19.4.5 ट्रूमैन सिद्धान्त
 - 19.4.6 मार्शल योजना
 - 19.4.7 चार सूत्री कार्यक्रम
- 19.5 राष्ट्रपति आइजनहॉवर और अमरीकी विदेश नीति
 - 19.5.1 आइजनहॉवर सिद्धान्त
 - 19.5.2 साम्यवाद के अवरोध के लिए सीएटो तथा बगदाद पैकट
 - 19.5.3 शीत युद्ध में शिथिलता
- 19.6 राष्ट्रपति कैनेडी और अमरीकी विदेश नीति
 - 19.6.1 पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति नीति

- 19.6.2 गुटनिरपेक्षता के प्रति नीति
- 19.6.3 क्यूबा संकट
- 19.6.4 लैटिन अमरीका के प्रति नीति
- 19.6.5 भारत पर चीन का आक्रमण
- 19.6.6 वियतनाम के प्रति नीति
- 19.6.7 निःशस्त्रीकरण के प्रति नीति
- 19.7 राष्ट्रपति जॉनसन और अमरीकी विदेश नीति
- 19.7.1 बर्लिन नीति
- 19.7.2 साम्यवादी चीन को मान्यता का प्रश्न
- 19.7.3 यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न
- 19.7.4 वियतनाम का प्रश्न
- 19.7.5 अरब-इजरायल के प्रति नीति
- 19.7.6 निःशस्त्रीकरण की नीति
- 19.8 राष्ट्रपति रिचर्ड निकसन और अमरीकी विदेश नीति
- 19.8.1 नई खोज की नीति
- 19.8.2 वियतनाम के प्रति नीति
- 19.8.3 चीन के सम्बन्ध में नीति में परिवर्तन
- 19.8.4 पश्चिमी एशिया के प्रति नीति
- 19.8.5 निकसन और सोवियत संघ
- 19.8.6 भारतीय उपमहाद्वीप की नीति
- 19.9 राष्ट्रपति फोर्ड और अमरीकी विदेश नीति
- 19.9.1 वियतनाम पर नीति
- 19.9.2 पश्चिमी एशिया के प्रति नीति
- 19.9.3 सोवियत संघ के प्रति नीति
- 19.9.4 अमरीका-चीन का सम्बन्ध
- 19.9.5 दक्षिणी एशिया में पाक संबंधी नीति
- 19.10 राष्ट्रपति कार्टर और अमरीकी विदेश नीति-
- 19.10.1 पश्चिमी एशिया पर नीति
- 19.10.2 दक्षिण एशिया में भारत की यात्रा
- 19.10.3 तृतीय विश्व के बारे में नीति
- 19.10.4 कार्टर-प्रशासन और चीन: बदलते समीकरण
- 19.10.5 अमरीका और सोवियत संघ
- 19.11 राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और अमरीकी विदेश नीति
- 19.11.1 शीत युद्ध का नवीनीकरण
- 19.11.2 शस्त्रों की दौड़ में तेजी
- 19.11.3 सोवियत संघ के विरुद्ध कठोर विदेश नीति अपनाना

- 19.11.4 दक्षिणी एशिया में पाक के प्रति विशेष झुकाव रखना
- 19.11.5 चीन के साथ दोस्ताना सम्बन्ध
- 19.11.6 पश्चिमी एशिया में तनावपूर्ण स्थिति बनाये रखना
- 19.11.7 'स्टारवार' कार्यक्रम को प्रारम्भ करना
- 19.12 राष्ट्रपति जॉर्ज बुश सीनियर और अमरीकी विदेश नीति
- 19.12.1 विदेश नीति की निरन्तरता
- 19.12.2 निःशस्त्रीकरण की विदेश नीति
- 19.12.3 बुश और सोवियत संघ
- 19.12.4 खाड़ी युद्ध
- 19.12.5 जॉर्ज बुश और मध्य पूर्व
- 19.12.6 चीन से मैत्री सम्बन्धों को सुटूढ़ करना
- 19.12.7 बुश और नाटो
- 19.12.8 शीतयुद्ध की समाप्ति और संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व की एकमात्र शक्ति
- 19.13 राष्ट्रपति बिल किंलटन और अमरीकी विदेश नीति
- 19.13.1 किंलटन और रूस
- 19.13.2 किंलटन और यूरोप
- 19.13.3 किंलटन और नाफ्टा
- 19.13.4 नाटो का विस्तार
- 19.13.5 किंलटन और शस्त्र नियन्त्रण
- 19.13.6 किंलटन और साम्यवादी चीन
- 19.13.7 मानवाधिकारों की समर्थक नीति
- 19.13.8 एक ध्रुवीय विश्व की परिकल्पना
- 19.13.9 संयुक्त राष्ट्र संघ पर वर्चस्व की नीति
- 19.13.10 परमाणु अप्रसार एवं आणविक सर्वोच्चता स्थापित करने की नीति
- 19.14 राष्ट्रपति जॉर्ज वाकर बुश और अमरीकी विदेश नीति
- 19.15 संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
- 19.15.1 अमरीकी प्ररम्परा व समसामयिक परिवर्तन
- 19.15.2 गठबन्धनों की कूटनीति
- 19.15.3 सामरिक शक्ति के विकास की नीति
- 19.15.4 संयुक्त राज्य अमरीका के पूँजीवादी व्यक्तित्व का अनुरक्षण
- 19.15.5 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर नियन्त्रण
- 19.15.6 राष्ट्रीय हितों की सर्वोपरिता की नीति
- 19.15.7 वैदेशिक सहायता का उदारीकरण
- 19.15.8 मानवाधिकारों की कूटनीति
- 19.15.9 हस्तक्षेप की नीति
- 19.16 सारांश

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विश्व की महाशक्ति संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के बदलते आयामों का उल्लेख करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- संयुक्त राज्य अमरीका का विश्व शक्ति के रूप में उदय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के बदलते प्रतिमान समझ सकेंगे,
- विदेश नीति की आधुनिक प्रवृत्तियाँ समझ सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक विश्व-इतिहास का निर्माता यूरोप था, परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का यूरोप एक 'समस्या-प्रधान यूरोप' बन गया। विश्व का नेतृत्व यूरोप के हाथों से निकलकर संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के हाथों में आ गया। इसमें संयुक्त राज्य अमरीका की भूमिका अधिक प्रभावी थी। तथा यह विश्व राजनीति में अधिक प्रखरता से अपनी भूमिका का निर्वाह करने लगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पश्चिमी यूरोप अमरीका का राहायक बन गया और उसने अमरीका के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। अमरीका स्वतन्त्र विश्व का संरक्षक बन गया।

अमरीकी विदेश नीति ऐतिहासिक परम्पराओं, समकालीन वास्तविकताओं, वर्तमान के अवसरों एवं भविष्य की चुनौतियों से निर्धारित होती रही है। दूसरे शब्दों में कहा सकता है कि विदेश नीति के निर्माण में भूत, वर्तमान एवं भविष्य निर्णायक रहे हैं। दूसरी ओर विदेश नीति का संचालन संवैधानिक उत्तरदायित्वों एवं इसके अन्तर्गत नियन्त्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त पर भी निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति, उसके सहयोगियों, उसके सलाहकारों के व्यक्तित्व, व्यक्तिगत प्रभाव, उनके विश्वासों, मूल्यों, प्रत्यक्षीकरणों, व्यक्तिगत अभिनीतियाँ भी विदेश नीति संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। जोसेफ एवं केलिफनो जो राष्ट्रपति लिण्डन बी. जॉनसन के भूतपूर्व सलाहकार व जिम्मी कार्टर की केबिनेट के सदस्य थे, लिखा है कि "रूज़वेल्ट के युग से अमरीकी राष्ट्रपतियों ने आवश्यक रूप से राष्ट्र के समक्ष बड़े मुद्दों पर समान विदेश नीति उद्देश्यों को आगे बढ़ाया है इन्हें प्रायः नाटकीय ढंग से व्यक्त किया गया है। परन्तु, (विदेश नीति) व्यापक, द्विपक्षीय जहमति द्वारा विकसित हुई है। अधिकांश प्रशासनों की अन्तर्राष्ट्रीय अदलगत वैचारिक सहमति पर आधारित रही हैं न कि शब्दान्वयनपूर्ण विशिष्टता पर। राष्ट्रपति ऐतिहासिक शक्तियों का एक बंदी है प्रत्येक राष्ट्रपति घटनाओं का शिकार भी है और साथ में उनको ढ़ालने वाला भी।" आइजनहॉवर के शब्दों में "मेरे मस्तिष्क में निरंतर विदेश नीति की अवधारणा सदैव व्याप्त थी और है।"

यह कहा जाए तो कोई देश अपने समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने, बनाये रखने, विकसित करने अथवा कुछ देशों के साथ विवाद, संघर्ष, तनाव, युद्ध करने का एक ही आधार रखता है और वह है उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति। अतः किसी भी देश की विदेश नीति को समझने के लिए सबैप्रथम उसके राष्ट्रीय हितों को समझना अनिवार्य है। समय के साथ-साथ अगर किसी देश के राष्ट्रीय हितों में परिवर्तन आता है अथवा वह अपने राष्ट्रीय हितों को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप पुनः परिभाषित करता है तो उसकी विदेश नीति में भी स्पष्ट रूप से परिवर्तन परिलक्षित हो सकता है।

अमरीका की विदेश नीति भूराजनीति, भू-सामरिक, भू-आर्थिक तत्वों द्वारा प्रभावित हुई है। इसके अतिरिक्त उसके आदर्श, मूल्यों व सांस्कृतिक तत्वों, आंतरिक संरचनाओं, संस्थाओं ने विदेश नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

19.2 अमरीकी विदेश नीति के निर्धारक तत्व

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति वहाँ के नागरिकों के चरित्र व उनकी महत्वाकांक्षाओं, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण एवं वहाँ के राष्ट्रपति और कांग्रेस के संयुक्त प्रयास पर आधारित है। अमरीका की विदेश नीति किसी भी विदेश नीति की भाँति वहाँ की जनता के ऐतिहासिक अनुभवों, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों, सुरक्षात्मक शक्ति, मानवीय स्रोत, जनसंख्या, वैदेशिक मामलों में कुशलता, राष्ट्रीय लक्ष्य और हित आदि पर आधारित है। अध्ययन की दृष्टि से अमरीकी विदेश नीति के कतिपय महत्वपूर्ण निर्माणक तत्व निम्नलिखित रूप से हैं :

19.2.1 भौगोलिक तत्त्व - एक फ्रेन्च राजदूत ने कहा था कि “यह देश ऐसा भाग्यशाली है कि उत्तर और दक्षिण में तो इसकी सीमाओं पर निर्बल पड़ोसी बसते हैं और पूरब एवं पश्चिम में मछलियाँ।” भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से अमरीका भाग्यशाली है, उसके पास प्राकृतिक साधनों का विपुल भण्डार है। इस भौगोलिक स्थिति के कारण अमरीका की वाणिज्य और व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई है। इसकी विदेश नीति भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होकर सुरक्षात्मक अधिक रही है।

19.2.2 मानवीय तत्त्व - अमरीका की विदेश नीति के निर्माण में मानवीय तत्त्व का प्रमुख स्थान रहा है। यह संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में महत्वपूर्ण रहा है। अमरीका के प्रत्येक राष्ट्रपति ने अपने-अपने कार्यकाल में विदेश नीति को प्रभावित भी किया और उनकी अभिरुचियों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

19.2.3 सुरक्षात्मक शक्ति - अमरीका की विदेश नीति में सुरक्षा को उच्च स्थान दिया गया है। इसके संबंध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। अमरीका के लोगों का विचार है कि विदेश नीति को सैनिक शक्ति द्वारा सहायता मिलनी ही चाहिए ताकि राष्ट्र को सुरक्षित रखा जा सके।

19.2.4 कूटनीति का तत्व - अमरीका की विदेश नीति के निर्माण में कूटनीति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पहले अमरीका की विदेश नीति पृथकतावाद पर आधारित रही। इसे बाद में कूटनीति आधार लेकर द्वितीय विश्व युद्ध कालीन परिस्थितियों में संघर्ष करने के लिए निर्मित किया गया। इससे अमरीका की विदेश नीति में कूटनीति की अधिक भूमिका रही।

19.2.5 संवैधानिक तत्व - जनतन्त्रात्मक और संघीय प्रणाली वाला राष्ट्र होने के कारण अमरीका की विदेश नीति को अनेक संवैधानिक संकटों का सामना करना पड़ता है। संविधान और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने विदेश नीति के संचालन में केन्द्रीय सरकार के हाथों को जकड़ रखा है। राष्ट्रपति को यदि विदेश नीति के संचालन का उत्तरदायित्व दिया है तो उसके ‘युद्ध’ और ‘सन्धि’ आदि के निर्णयों पर सीनेट का अंकुश लगा रखा है।

19.2.6 दलगत सहयोग की राजनीति - अमरीका की विदेश नीति का निर्माण बहुत कुछ दलगत सहयोग और प्रशासनिक समन्वय पर निर्भर रहता है। विदेश नीति के संचालन में उस समय कठिनाई अनुभव होती है, जबकि राष्ट्रपति उस दल का नहीं होता जिसका कि कांग्रेस में बहुमत होता है। इसके बावजूद भी विदेशनीति को लागू करने में दोनों ही दल सहयोग करते हैं।

19.3 द्वितीय महायुद्धोत्तर कालीन अमरीकी विदेश नीति

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीका ने अपने को एकदम नयी स्थिति में पाया। इस महायुद्ध ने जर्मनी, इटली और जापान की शक्ति को नष्ट कर दिया तथा ब्रिटेन एवं फ्रांस को इतना अधिक क्रमजोर बना दिया कि वे द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ मात्र रह गए। अमरीका ने अनुभव किया कि युद्ध के बाद वह न केवल विश्व की महानतम् शक्ति है, अपितु साम्यवाद और सोवियत संघ विरोधी पश्चिमी दुनिया का प्रधान संरक्षक और उनका नेता भी है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीकी विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य साम्यवादी संकट का सामना करने और सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन के प्रभाव-क्षेत्र को वृद्धि को रोकने की दृढ़ व्यवस्था करना रहा है। इसके लिए उसने अलगाववाद का परित्याग करन के बावजूद यूरोप के मामलों में रूचि ली वरन् सुदूरपूर्व, मध्य-पूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया और अफ्रीका के मामलों में सक्रिय रुचि दिखाई। अतः द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

19.3.1 साम्यवाद का अवरोध - द्वितीय महायुद्ध के बाद ‘साम्यवाद का अवरोध’ अमरीकी विदेश नीति की आधारभूत विशेषता रही है। साम्यवाद के अवरोध की नीति का अर्थ है, जहाँ कहीं सोवियत संघ ‘दबाव’ का प्रयोग करता है वहाँ संयुक्त राज्य अमरीका ‘प्रति-दबाव’ का प्रयोग करेगा जार्ज अर्ल के शब्दों में, “‘सोवियत संघ नाजी खतरे से भी अधिक अत्यधिक बड़ा खतरा है।’” अमरीकी विदेश नीति के अन्य सभी तत्त्व द्वि-पक्षीय या बहु-पक्षीय सुरक्षा सन्धियाँ, सैनिक संगठन, विदेशों में सैनिक अड्डों की स्थापना, शस्त्रों की होड़, आदि ‘साम्यवाद के अवरोधक’ की नीति के परिणाम थे। इस प्रकार साम्यवाद परिरोधन की नीति साम्यवाद के प्रभाव एवं प्रसार को रोकना चाहती है और यदि सम्भव हो तथा अवसर मिल जाय तो उसका पूर्ण उन्मूलन चाहती है।

19.3.2 सैनिक सन्धियों की नीति- अमरीका ने साम्यवाद के परिरोधन के लिए द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सुरक्षा व्यवस्थाओं तथा सैनिक सन्धियों एवं मैत्रियों का निर्माण किया। इनमें प्रमुख हैं रीओ, नाटो, एन्जस, सीटो आदि सन्धियाँ। इन सैनिक संगठनों या सन्धियों का मूल उद्देश्य सोवियत (साम्यवादी) शिविर को इस बात की चुनौती देना है कि हस्ताक्षरकर्ताओं में से किसी एक पर आक्रमण सब पर आक्रमण समझा जायेगा। “इन सुरक्षा सन्धियों के माध्यम से” जैसाकि पामर और पार्किन्स ने कहा है, “सामूहिक सुरक्षा के नमूने ने मूर्त एवं प्रभावशाली स्वरूप ग्रहण कर लिया।”

1. रीओ सन्धि- पश्चिमी गोलार्द्ध में यह प्रथम सामूहिक सुरक्षा सन्धि थी जिसे संयुक्त राज्य अमरीका और लैटिन अमरीकी राज्यों ने सितम्बर, 1947 में स्वीकार किया था। इस सन्धि को कार्यान्वित करने वाला यन्त्र अमरीकी राज्यों का संगठन है। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि “एक पर आक्रमण सब पर आक्रमण समझा जायेगा।” इसमें प्रत्येक ने “आक्रमण का सामना करने के लिए एक-दूसरे की सहायता करने का वचन दिया है।”

2. ट्रूमैन सिद्धान्त एवं नाटो सन्धि- कांग्रेस के समक्ष भाषण में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 12 मार्च, 1947 को कहा था कि “मेरा विश्वास है कि संयुक्त राज्य की यह नीति होनी चाहिये कि वह उन उन्मुक्त लोगों का समर्थन करे जो कि सशस्त्र अल्पमतों अथवा दबावों से बचने का संगठित प्रयत्न कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि हमें उन्मुक्त लोगों को अपने भाग्य अपने ही तरीके से निश्चित करने में सहायता देनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि हमारी यह सहायता मुख्यतः आर्थिक और वित्तीय सहायता के रूप में होनी चाहिये, जिसके द्वारा किसी भी देश की आर्थिक स्थिरता और व्यवस्थित राजनीतिक प्रक्रिया सम्भव हो जाएगी।”

ट्रूमैन के भाषण का उपर्युक्त अंश अमरीकी विदेश नीति में ‘युग परिवर्तन’ का सूचक था तथा यह नये युग का सूत्रपात करती थी। यह अलगाव या पृथक्वाद की नीति का परित्याग था। यह अमरीका की दीर्घकालिक बचनबद्धता थी। यह ऐसा क्रान्तिकारी कदम था जिसने अमरीका के कन्धों पर स्वतन्त्र विश्व की चौकसी या पहरेदारी का उत्तरदायित्व डाल दिया। ट्रूमैन ने स्वयं कहा था कि, “विश्व में जहाँ कहाँ शान्ति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा। वहाँ संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा संकट में मानी जायेगी और वह इसको रोकने का प्रयास करेगा।” इस सिद्धान्त के आधार पर अमरीका ने आर्थिक और सैनिक सहायता के कार्यक्रम को शुरू किया, दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियाँ कीं और नाटो, सीटो जैसी क्षेत्रीय व्यवस्थाओं का जाल बिछा दिया। परिणामस्वरूप पूर्व और पश्चिम में तनाव की स्थिति पैदा हो गयी और शीत युद्ध का बिगुल बजा दिया गया।

3. सीटो सन्धि- दक्षिण-पूर्वी एशिया और दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त महासागर क्षेत्र को साम्यवाद से बचाने के लिए इस सन्धि का निर्माण किया गया था। यह ट्रूमैन सिद्धान्त और वैष्णवर्ग प्रस्तावों को दक्षिण-पूर्वी एशिया में कार्यान्वित करने का प्रयास था। दूसरे, इसमें दक्षिण-पूर्वी एशिया के केवल दो ही राष्ट्र-फिलिपीन्स और थाईलैण्ड-शामिल हुए थे, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और पाकिस्तान की दक्षिणी-पूर्वी एशिया में दिलचस्पी केवल परिधीच (बाहा) थी, ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका इस क्षेत्र से बहुत दूर स्थित हैं।

19.3.3 आर्थिक सहायता- विदेशी आर्थिक सहायता अमरीकी विदेश नीति का अभिन्न अंग है। विदेशी आर्थिक सहायता कार्यक्रम के कई उद्देश्य हैं: 1. आर्थिक सहायता द्वारा राष्ट्रों को आत्म-निर्भर बनाना, 2. आर्थिक और तकनीकी सहायता देकर साम्यवाद के खतरे को टालना, 3. आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा विदेशों में पारस्परिक महत्व की सुविधाओं सैनिक अड्डों, बन्दरगाहों आदि को सुविधा प्राप्त करना।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने आर्थिक और तकनीकी सहायता के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्यक्रम प्रारम्भ किए, जैसे-

(1) उदार पट्टा कार्यक्रम- यह कार्यक्रम कांग्रेस द्वारा 1941 में पारित उदार पट्टा अधिनियम पर आधारित था। इसका उद्देश्य नाजी आक्रमण का सामना करने वाले देशों को अमरीकी आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना था। इसके अन्तर्गत दी जाने वाली अमरीकी आर्थिक सहायता की कुल राशि 1945 तक 49.1 बिलियन डॉलर तक पहुँच गयी थी। सहायता प्राप्त करने वाले मुख्य देश थे येट ब्रिटेन, फ्रांस और राष्ट्रवादी चीन।

(2) मार्शल योजना- इस योजना को अमरीका के तत्कालीन विदेश सचिव जार्ज सी. मार्शल ने 5 जून, 1947 को हार्वर्ड

विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए प्रस्तुत किया था। इसका उद्देश्य यूरोप के राज्यों को साम्यवाद से बचाने के लिए तथा 'भूखमरी, निर्धनता, निराशा और अव्यवस्था' का सामना करने के लिए, उन्हें तत्कालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना था। मार्शल के शब्दों में, "हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना है, जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें।" अतः कांग्रेस ने 1948 में एक विदेशी सहायता अधिनियम को पारित किया, जिसमें यूरोप के 16 राज्यों के लिए 4 वर्ष की अवधि (1948-52 के लिए 20 अरब डॉलर की सहायता देना स्वीकार किया गया। इसका उद्देश्य यूरोप के राष्ट्रों को साम्यवाद से बचाना था)।

(3) चार-सूत्रीय कार्यक्रम- इस कार्यक्रम को अमरीकी राष्ट्रपति टूमैन ने 20 फरवरी, 1949 को कांग्रेस के समझ प्रस्तुत किया। इसका मूल उद्देश्य अल्प-विकसित राष्ट्रों को अमरीकी तकनीकी सहायता की सुविधाएं उपलब्ध कराना था। इस कार्यक्रम के निम्नलिखित चार सूत्र थे-

1. संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन।
2. विश्व के आर्थिक पुनरुत्थार के कार्यक्रम को जारी रखना।
3. आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्रेरणी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना।
4. अल्पविकसित राष्ट्रों को प्रौद्योगिकी सहायता प्रदान करना।

19.3.4 मानवाधिकारों का समर्थन- अमरीकी विदेश नीति की एक प्रमुख विशेषता मानवाधिकारों का समर्थन करना है। कार्टर प्रशासन ने तो मानवाधिकार मुद्रे को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ताने-बाने में ठोस रूप प्रदान किया। कार्टर प्रशासन ने मानवाधिकारों की देख-रेख के लिए स्टेट डिपार्टमेण्ट में एक पृथक ब्यूरों की स्थापना की। कार्टर ने संयुक्त राष्ट्र में स्वयं घोषणा की थी कि "मानवाधिकार की रक्षा करना किसी एक देश का अधिकार नहीं। कोई भी देश यह दावा नहीं कर सकता कि अपने नागरिकों के प्रति दुर्व्यवहार उसका निजी और भीतरी मामला है।"

19.3.5 लोकतन्त्र की स्थापना के नाम पर पड़ोसी देशों में हस्तक्षेप- अमरीका ने पिछली सदी के उत्तरार्द्ध से मध्य और दक्षिणी अमरीकी देशों में कानून व्यवस्था और लोकतन्त्र की स्थापना तथा अमरीकी नागरिकों के हितों के नाम पर 60 से अधिक बार हस्तक्षेप किया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भी अमरीका ने अपने आस-पास हस्तक्षेप का क्रम जारी रखते हुए 1983 में ग्रेनेडा में और 1989 में पनामा में हस्तक्षेप किया।

19.3.6 यूरोप की राजनीति में सहभागिता- यूरोप की राजनीति में संघर्षात्मक स्थिति होने के कारण अमेरिका ने स्वतः प्रेरित होकर यूरोप को विश्व राजनीति से शामिल किया। यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों का अमेरिका विरोध करता रहा। प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थितियों में अमेरिका ने सहभागिता रखकर विश्व शान्ति के रूप में अपने को स्थापित किया। यह उसकी विदेश नीति की मुख्य विशेषता भी रही।

19.4 राष्ट्रपति टूमैन और अमरीकी विदेश नीति

द्वितीय महायुद्ध के बाद से 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति टूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति की आधारशिला रखी। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका की शक्ति और प्रतिष्ठा को कायम करने की दिशा में ठोस कदम उठाये। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने के जौ दृढ़ निश्चय राष्ट्रपति टूमैन ने व्यक्त किया था, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपतियों ने किया और उन्होंने साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश रखने की दिशा में सतत रूप से कदम उठाये। टूमैन काल में संयुक्त राज्य अमेरिका यह मानकर चला कि सोवियत संघ ही उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है और अमेरिकी विदेश नीति का इतिहास भी यही बताता है कि सोवियत संघ को ऐसा मानकर ही अमेरिका की विदेश नीति मुख्य रूप से संचालित होती रही। टूमैन काल में अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

19.4.1 विश्व राजनीति में खुलकर भाग लेना- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका विश्व राजनीति में खुलकर भाग लेने लगा। यूरोप उसकी राजनीति का प्रधान केन्द्र बना। विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी अमरीका की महत्वाकांक्षा स्पष्ट हुई। एक महाशक्ति के रूप में अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए अमरीका ने एक के बाद एक अनेक कदम उठाए। ऐसा कर के उसने अपने को महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

19.4.2 साम्यवाद के अवरोध की नीति- सोवियत संघ के साथ सहयोग की नीति असफल होते देखकर टूमैन ने अगस्त, 1946 में अमरीकी विदेश नीति को एक नई दिशा प्रदान की। ऐसी नीति के अनुकरण का निश्चय किया गया जिससे साम्यवाद के प्रसार को प्रभावशाली रूप से तुरन्त 'अवरुद्ध' कर दिया जाए। यह पिछली नीति को त्वागकर नई दिशा की ओर अग्रसर होने का निश्चय था, अतः अगस्त, 1946 से जून, 1950 तक की अवधि को 'नवीन दिशान्वेषण काल' कहा जाता है। इस युग में साम्यवाद के अवरोध की नीति का वास्तविक कारण ईरान, यूनान, और तुर्की पर बढ़ता हुआ साम्यवादी दबाव था। अगस्त, 1941 में रूसी सेनाओं ने उत्तरी ईरान पर अधिकार कर लिया था। परन्तु युद्ध के पश्चात् सोवियत संघ ने तब तक सेनाएँ नहीं हटायीं, जब तक कि मई 1946 में ईरान में 51 प्रतिशत सोवियत अंशदान वाली एक संयुक्त सोवियत-ईरानी तेल कम्पनी की स्थापना का समझौता नहीं कर लिया। इसी प्रकार सोवियत संघ ने 7 अगस्त, 1946 को तुर्की के सम्मुख भूमध्य सागर और कृष्ण सागर को संयुक्त करने वाले बास्फोरस और दर्दी दानियाल जलडमरुमध्यों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जिनको कार्यान्वित करने पर उन पर सोवियत संघ की सत्ता स्थापित हो जाती। तुर्की ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया और सम्भावित सोवियत आक्रमण के विरुद्ध अमरीका से सहायता मांगी। इसी समय यूनान में साम्यवादियों ने ब्रिटिश समर्थक यूनानी सरकार के विरुद्ध छापामार युद्ध छेड़ दिया। सोवियत संघ यूनान के गृह-युद्ध में सक्रिय रूचि ले रहा था तथा सरकार का विरोध करने वाले छापामारों का सहयोग कर रहा ब्रिटेन के लिए अकेले साम्यवादियों का मुकाबला करना अत्यन्त कठिन था। उसने अमरीका से यूनान को साम्यवादी खतरे से बचाने का अनुरोध किया। अमरीकी विदेश सचिव मार्शल ने 23 फरवरी, 1947 को यह परामर्श दिया कि यूनान को भारी सहायता दी जानी चाहिए क्योंकि "यदि यूनान हाथ से निकल गया तो तुर्की साम्यवाद के महायुद्ध में एक अरक्षणीय चौकी बन जाएगा।" 27 फरवरी, 1947 को राष्ट्रपति टूमैन ने यूनान और तुर्की को सहायता देने का निर्णय कर लिया। अतः इसे 'प्रसार-निरोध नीति का काल' भी कहते हैं।

19.4.3 नाटो की स्थापना- सोवियत संघ जैसे-जैसे शक्तिशाली होता गया स्टालिन अधिकाधिक उग्र होता गया। तब 1950 में अमरीका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध या निरोध का प्रयत्न आरम्भ किया। इस नीति के अनुसार 'नाटो' की स्थापना की गई। इसे 'प्रसार निरोध रणनीति' की संज्ञा दी गई। ज्यों-ज्यों साम्यवाद का खतरा बढ़ता गया, अमरीकी सैनिक संघियों और प्रतिरक्षा संगठनों के निर्माण की ओर उन्मुख होता चला गया। 1950 में उत्तर कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। उत्तर कोरिया की पीठ पर साम्यवादी शक्तियाँ थीं। अमरीका ने दक्षिणी कोरिया का पक्ष लेकर इस साम्यवादी आक्रमण को विफल कर देने का संकल्प किया और संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं के रूप में अमरीकी सेनाएँ युद्ध में कूद पड़ीं। कोरिया का युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला और इस अवधि को अमरीकी विदेश नीति के इतिहास में 'खुले संघर्ष का काल' कहा जाता है।

19.4.4 सहयोग और अनुकूलता की नीति- द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने पर अमरीका को यह आशा थी कि मित्र-राष्ट्रों का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल में भी चलता रहेगा। यही कारण था कि राष्ट्रपति टूमैन ने 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' को अपनाया। अतः इस समय उसने अन्य शक्तियों के साथ मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की। युद्ध से विध्वस्त देशों के साथ पुनर्वास और पुनर्निर्माण का कार्य किया, यूरोप से सेनाओं को हटाया, जर्मनी तथा उसके साथी राष्ट्रों के साथ शीघ्र ही सम्झित करने पर बल दिया। 28 अक्टूबर, 1945 को राष्ट्रपति टूमैन ने अमरीका की विदेश नीति के सम्बन्ध में बारह-सूत्रीय उद्देश्यों या कार्यक्रम की घोषणा की।

परन्तु अमरीका ने यह शीघ्र ही यह अनुभव किया कि सोवियत संघ उसका कट्टर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी है तथा समस्याओं के समाधान में दोनों देशों के दृष्टिकोणों में काफी अन्तर है, जिसके कारण उनमें किसी प्रकार का समझौता या सहयोग सम्भव नहीं है। टूमैन के विशेष परामर्शदाता हैरीमेन तथा जॉर्ज कैनन का मत था कि "मास्को सहयोग और समझौते की नीति को दुर्बलता का लक्ष्य समझता है, यह केवल शक्ति की ही परवाह करता है, इसलिए उसके विरुद्ध दृढ़ता की नीति ही अपनायी जानी चाहिए।"

19.4.5 टूमैन सिद्धान्त- मध्यपूर्वी क्षेत्र में यूनान, तुर्की तथा ईरान आदि देशों को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए टूमैन ने इन्हें अर्थिक सहायता देने की नीति अपनायी, इस नीति को ही 'टूमैन सिद्धान्त' कहा जाता है। मार्च, 1947 में राष्ट्रपति टूमैन ने अमरीकी कांग्रेस से अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की के लिए अर्थिक सहायता स्वीकार की जाए। यूनान को 25 करोड़ डॉलर और टर्की को 15 करोड़ डॉलर देने की सिफारिश की गयी। टूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राप्त विपुल अर्थिक सहायता के बल पर 1950 के अन्त में यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

टूमैन सिद्धान्त के फलस्वरूप अमरीकी विदेश नीति का कार्यक्षेत्र विश्व व्यापी हो गया। इस सिद्धान्त ने अमरीका की विदेश नीति में भौतिक परिवर्तन करते हुए विकास को एक नई दिशा को जन्म दिया। माइकेल डोनेलन के शब्दों में, टूमैन सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त था।

19.4.6 मार्शल योजना- साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का दूसरा कदम मार्शल योजना थी। यह इस धारणा पर आधारित थी कि महायुद्ध के परिणामों से ध्वस्त यूरोप यदि शीघ्र ही अपना अर्थिक पुनर्निर्माण नहीं करेगा तो वह साम्यवादी विचारधारा का शिकार हो जाएगा। अमरीकी विदेश सचिव जॉर्ज मार्शल ने मास्को की विदेश मन्त्री परिषद् में सोवियत संघ की महत्वाकांक्षाओं को आंकने की कोशिश की थी। 26 अप्रैल, 1947 को यूरोप का दौरा समाप्त करके वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर जोर दिया कि यूरोपीय देशों को तुरन्त अर्थिक सहायता प्रदान की जाए, अन्यथा उनके साम्यवादी होने का खतरा हो जाएगा। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति टूमैन ने मार्शल द्वारा दिए गए सुझाव के अनुसार पश्चिमी यूरोपीय देशों के अर्थिक पुनर्निर्माण तथा इन देशों में व्यास बेकारी, भुखमरी, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्थाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से मार्शल योजना शुरू की।

सभी यूरोपीय राष्ट्रों को अर्थिक पुनर्निर्माण के इस कार्य में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यूरोप के अर्थिक पुनरुद्धार के लिए एक चार-वर्षीय कार्यक्रम तैयार किया गया। यह योजना यूरोपियन रिलीफ कार्यक्रम कहलायी। इसके अन्तर्गत चार वर्ष में (1947 से 1951) अमरीका ने यूरोप को 12 बिलियन डॉलर की सहायता दी, जिसके बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप अर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया और दूसरी ओर अमरीका पश्चिमी जगत का सर्वमान्य नेता बन गया। इससे पाश्चात्य यूरोप पर उसका वर्चस्व कायम हो गया।

19.4.7 चार सूत्री कार्यक्रम- चीन में साम्यवादी विजय से अमरीका को यह शंका हो गई कि विश्व के अल्प-विकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे प्रदेशों में साम्यवाद प्रसार रोकने के लिए 20 जनवरी, 1949 को अमरीकी राष्ट्रपति टूमैन ने 'चार सूत्री कार्यक्रम' की घोषणा की—

1. संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन
2. विश्व के अर्थिक पुनर्निर्माण की गतिविधियों को यथावत रखना,
3. आक्रमण के बिरुद्ध स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना, एवं
4. अल्प विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिकी सहायता।

इस तरह हम देखते हैं कि 1945 के बाद से ही अमरीका ने अपनी विदेश नीति में कड़े कदम उठाये। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि अमरीका ने अपनी विदेश नीति के माध्यम से नियन्त्रण व सुरक्षा हेतु अर्थिक सहायता को बढ़ाकर साम्यवाद का अवरोध करने की नीति का सहारा लिया। इससे संयुक्तराज्य अमरीका के साम्यवादी देशों के साथ विशेषकर सोवियत संघ के साथ संबंध खराब हुए और शीतयुद्ध का विस्तार हुआ।

19.5 राष्ट्रपति आइजनहॉवर और अमरीकी विदेश नीति-

विश्व राजनीति में 1953 का वर्ष परिवर्तन का वर्ष माना जाता है। अमरीका में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने व्हाइट हाऊस में प्रवेश किया। उनके राष्ट्रपति बनने के कुछ ही महीनों के अन्दर कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं घटित हुईं : मार्च 1953 में स्टालिन की मृत्यु हुई, कोरिया युद्ध- विराम सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और ऐसा लगा कि शीत युद्ध में कुछ कमी आयी है। आइजनहॉवर काल में अमरीकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु इस प्रकार रहे—

19.5.1 आइजनहॉवर सिद्धान्त- 1956 में स्वेज नहर संकट ने मध्यपूर्व में ब्रिटेन और फ्रांस के रहे सहे प्रभाव को भी सदैव के लिए समाप्त कर दिया। अमरीका ने ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल को स्पष्ट रूप से यह परामर्श दिया कि वे मिस्र पर अपना आक्रमण समाप्त कर दें। आक्रमणकारियों को स्वेज नहर क्षेत्र से हटना पड़ा और मध्यपूर्व में अमरीका के लिए सहानुभूति का बातावरण बना। इस समय स्थिति यह थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के हट जाने से मध्यपूर्व में 'शक्ति-शून्यता' पैदा हो गयी थी और यह आशंका थी कि सोवियत संघ अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। अतः अमरीका ने इस 'शक्ति-शून्यता' को भरना चाहा और इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए आइजनहॉवर सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया।

5 जून, 1957 को राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने कांग्रेस को भेजे गए एक सन्देश में मध्यपूर्व के सम्बन्धों में अमरीकी नीति की घोषणा की। आइजनहॉवर के प्रस्ताव थे कि :

1. मध्य पूर्व के राष्ट्रों की सुरक्षा प्रादेशिक अखण्डता और स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं का प्रयाग किया जा सके, लेकिन ऐसा तभी होगा जबकि कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से आतंकित होकर इसके लिए प्रार्थना करेगा,
2. संयुक्त राज्य अमरीका मध्यपूर्व के राष्ट्रों के आर्थिक विकास में योगदान दे,
3. मध्यपूर्व के राष्ट्रों को सैनिक सहायता दी जाए।

यह सिद्धान्त पश्चिम में लीबिया से लेकर पूर्व में पाकिस्तान और उत्तर में तुर्की से लेकर दक्षिण में अरब प्रायद्वीप पर लागू किया गया। इस तरह से मध्य-पूर्व में अमरीकी वर्चस्व को कायम करने के लिए ठोस प्रयास किये गये।

19.5.2 साम्यवाद के अवरोध के लिए सीएटो तथा बगदाद-पैकट की स्थापना- 1954 में साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छापामारों द्वारा हिन्द चीन में गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई। फलस्वरूप जुलाई में हिन्द चीन, फ्रांस, साम्यवादी चीन, सोवियत संघ और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने जेनेवा सम्मेलन में हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय लिया। इसके उत्तरी भाग में वियतमिन्ह (बाद में उत्तर वियतनाम) का साम्यवादी राज्य बनाया गया और दक्षिणी भाग को लाओस, कम्बोडिया और दक्षिणी वियतनाम के तीन गैर-साम्यवादी राज्यों में विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्त राज्य अमरीका को साम्यवादी चीन के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए दृढ़-निश्चय की नीति अपनाने को प्रेरित किया। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसके सितम्बर, 1954 में थाइलैण्ड, फिलिपींस, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, अस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ "दक्षिणी-पूर्वी" एशिया सामूहिक सुरक्षा संघि पर हस्ताक्षर कर सीएटो की स्थापना की।

इसी प्रकार साम्यवाद से पश्चिमी एशिया के देशों की रक्षा के लिए 1955 में बगदाद समझौते का सूत्रपात हुआ। इस सैनिक संघि में अमरीका सहित ब्रिटेन, तुर्की, ईरान, पाकिस्तान आदि सम्मिलित हुए।

19.5.3 शीत युद्ध में शिथिलता- आइजनहॉवर सिद्धान्त के कारण शीत-युद्ध तीव्र हो गया, लेकिन सितम्बर, 1959 में जब अमरीकी राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव ने अमरीका की राजकीय यात्रा की तो दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार हुआ। इस सौहार्द को 'कैम्प डेविड की भावना' का नाम दिया गया और यह कहा गया कि इस भावना से दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर हो जाएगा, शीत-युद्ध की बर्फ पिघल जाएगी।

खुश्चेव ने आइजनहॉवर को सोवियत संघ आने का निमन्त्रण दिया। दोनों नेताओं ने यह निर्णय लिया कि पारस्परिक मतभेदों के प्रश्नों पर बातचीत करने के लिए अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाए। 16 मई, 1960 को प्रस्तावित शिखर सम्मेलन होना निश्चित हुआ किन्तु जर्मनी से सम्बन्धित विवाद एवं यू-2 विमान काण्ड के कारण शिखर सम्मेलन खटाई में पड़ गया। खुश्चेव ने अमरीका की कड़ी आलोचना की थी। इस घटना ने दोनों महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध के बातावरण को उग्र कर दिया।

19.6 राष्ट्रपति कैनेडी और अमरीकी विदेश नीति

8 नवम्बर, 1960 को अमरीका में सम्पन्न हुए राष्ट्रपति चुनावों में डेमोक्रेटिक पार्टी के प्रत्याशी जॉन कैनेडी को राष्ट्रपति चुना गया। इन्होंने 10 नवम्बर, 1960 को जारी एक भाषण में कहा "राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के बाद न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति की स्थापना

को प्राथमिकता दी जायेगी।'' जॉन कैनेडी ने अपने पूर्वाधिकारी के विपरीत सोवियत संघ के प्रति सहयोग की सोवियत संघ नीति का सहारा लिया। लेकिन वह साम्यवादी राष्ट्रों के प्रति सचेत थे। कैनेडी काल की विदेश नीति के मुख्य बिन्दु इस प्रकार रहे :

19.6.1 पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति नीति- जॉन कैनेडी के कार्यकाल से पूर्व गठित नाटो संगठन में स्वेज नहर संकट 1956 के कारण दरार पड़ गई थी। इस दृष्टि से जॉन कैनेडी ने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों से पूर्व में नाटो संगठन को मजबूत करने का जो वचन किया था उसके प्रति वचनबद्धता की नीति अपनाई गई। इसी क्रम में सोवियत संघ के नेता खुश्चेव ने जून 1961 में यह घोषणा कर दी कि पूर्वी जर्मनी के साथ अलग से सन्धि की जायेगी, जिसमें यह व्यवस्था होगी कि अमरीका, ब्रिटेन व फ्रांस जैसे राष्ट्रों का पश्चिमी बर्लिन जाने का अधिकार समाप्त हो जायेगा। इसके प्रति उत्तर में कैनेडी ने कहा कि सोवियत संघ द्वारा किये गये एक पक्षीय किसी भी कार्य को अमरीका मान्यता नहीं देगा। इस पर सोवियत संघ ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया।

19.6.2 गुटनिरपेक्षता के प्रति नीति- कैनेडी के काल में संयुक्त राज्य अमरीका की भारत, आदि निर्गुट या गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों तथा एशिया-अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसके पूर्व अमरीका यह बात मानते को तैयार नहीं था कि कोई राष्ट्र साम्यवाद और लोकतन्त्र के संघर्ष में तटस्थ रह सकता है। कैनेडी ने उनकी निर्गुटता को मान्यता दी और उनको पहले की अपेक्षा अधिक तकनीकी एवं अन्य प्रकार की सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। तृतीय विश्व के देशों के प्रति अमरीकी नीति में यह मौलिक परिवर्तन था।

19.6.3 क्यूबा संकट- अमरीका के राष्ट्रपति जॉन कैनेडी के कार्यकाल की विदेश नीति में क्यूबा संकट की घटना सबसे महत्वपूर्ण रही। क्यूबा में, 1 जनवरी, 1959 को डॉ. फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया था। इस साम्यवादी सरकार को सोवियत संघ ने आणविक शस्त्रों तथा प्रक्षेपास्त्रों से लैस करना शुरू कर दिया। क्यूबा में रूसी सैनिक अड्डे की स्थापना अमरीका की सुरक्षा के लिए एक बहुत बड़ा संकट थी क्योंकि उससे मुख्य अमरीकी भूमि केवल 90 मील की दूरी पर स्थित थी। कैनेडी ने क्यूबा में सैनिक अड्डे की स्थापना की निन्दा करते हुए अक्टूबर, 1962 को क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा की जिसका उद्देश्य अमरीकी जहाजों द्वारा क्यूबा को घेर लेना था ताकि वहाँ सोवियत संघ से भेजी जाने वाली सैनिक समग्री न पहुंच सके। कैनेडी का यह कदम सोवियत संघ के लिए एक स्पष्ट चुनौती था कि या तो वह क्यूबा की सैनिक सहायता बन्द करे अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाए। खुश्चेव ने क्यूबा से सोवियत सैनिक अड्डे उठा लेना स्वीकार कर लिया। यह कैनेडी की विदेश नीति की सबसे बड़ी सफलता थी।

19.6.4 लैटिन अमरीका के प्रति नीति : राष्ट्रपति कैनेडी ने अपने युग में लैटिन अमरीकी राष्ट्रों के प्रति अपनी विदेश नीति में परिवर्तन किये। उन्होंने इस दिशा में नये सम्बन्धों की पहल करके कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। अमरीका ने लैटिन अमरीका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 20 अरब डॉलर की सहायता तथा ऋण देने की पेशकश की। इस नीति के फलस्वरूप मध्य और दक्षिणी अमरीका के देश आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा में अग्रसर हुए और वहाँ संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति मैत्रीपूर्ण वातावरण बना।

19.6.5 भारत पर चीनी आक्रमण- अक्टूबर 1962 में साम्यवादी चीन ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण से प्रभावित होकर राष्ट्रपति कैनेडी ने चीन के विरुद्ध भारत को सहायता देने की एक तरफा घोषणा इसलिये कर दी थी क्योंकि अमरीका चीन को अपने राष्ट्रीय हित के विरुद्ध मानता था। इसके साथ-साथ भारत की विदेश नीति को अनुमोदित कर भारत के पक्ष में एशिया की शान्ति के लिए आवश्यक माना था। चीन ने अमरीका की इस नीति के कारण एकतरफा युद्ध विराम कर दिया था।

19.6.6 वियतनाम के प्रति नीति- जॉन कैनेडी ने दक्षिणी वियतनाम में अमरीकी सेना की संख्या में वृद्धि करने की नीति अपनाई। जब यहाँ 1961 में संघर्ष शुरू हुआ था तब मात्र 700 सैनिक अमरीका ने तैनात किये थे, जिसे कैनेडी ने अपने कार्यकाल में 16500 तक बढ़ा दिया था। इसके साथ-साथ उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध संघर्ष को बढ़ावा देते हुए दक्षिण वियतनाम को आर्थिक एवं सैनिक मदद में वृद्धि भी कर दी थी। इससे आगे चलकर वियतनाम संघर्ष अमरीका के लिए सबसे बड़ी समस्या बन गया।

19.6.7 निःशस्त्रीकरण के प्रति नीति-जॉन कैनेडी ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण पर जोर दिया। शीत-युद्ध को कम करने के लिए 15 अप्रैल, 1963 को सोवियत संघ और अमरीका के बीच सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ। 25 जुलाई, 1963 को अमरीका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच 'परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि' पर भी

हस्ताक्षर हुए। यही सन्धि वर्तमान में 1996 से व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का आधार बनी। इस सन्धि में जल, नभ एवं पृथ्वी पर होने वाले परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। इससे यह तो सिद्ध होता है कि अमरीका ने सोवियत संघ के साथ सहयोगात्मक नीति जॉन कैनेडी काल में व्यवहारिक रूप से अपनाई थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कैनेडी के कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच 'तनाव शैथिल्य' या देतान्त की भावना का प्रादुर्भाव हुआ।

19.7 राष्ट्रपति जॉनसन और अमरीकी विदेश नीति

21 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिण्डन बी. जॉनसन संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति बने और 1964 के निर्बाचन में विजय प्राप्त करने पर पुनः इस पद पर आसीन हुए। वे एक ओर तो शीत-युद्ध के बिस्तार को रोकने का नाटक करते रहे और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण भी अपनाते रहे। जॉनसन काल की विदेश नीति के मुख्य पहलू इस प्रकार रहे-

19.7.1 जर्मनी में बर्लिन नीति- 1945 से जो विवाद जर्मनी को लेकर चले आ रहे थे, वे सभी यथावत ही रहे थे। जर्मनी को दो भागों में विभाजित किया गया था। बर्लिन में मतदान कराकर केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव रखा था जिसमें विजयी होने वाली सरकार को पौलेण्ड और सोवियत संघ के साथ सन्धि कर जर्मनी की समस्या का समाधान करना था लेकिन पश्चिमी राष्ट्र इससे सहमत नहीं थे। पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण करने का विरोध किया गया। इसलिये जर्मनी के मामले पर जॉनसन ने अमरीकी विदेश नीति को यथावत ही रखा अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया।

19.7.2 साम्यवादी चीन को मान्यता का प्रश्न- राष्ट्रपति जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को अमरीका द्वारा मान्यता देने से इन्कार कर दिया। उनका मानना था कि जिस साम्यवादी चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का सहारा लिया है, संयुक्त राष्ट्र संघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमरीका के विनाश की बात करता है, उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश के योग्य शान्तिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता। अतः अमरीका उसे मान्यता नहीं दे सकता है।

19.7.3 यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न- जॉनसन के शासनकाल में यूरोपीय सुरक्षा की दृष्टि से अमरीकी विदेश नीति को काफी शक्ति उठानी पड़ी। जनरल डिगॉल के नेतृत्व में फ्रांस अमरीका के प्रधान मेरिन्स्के फलमनरूप तिवश होकर अमरीका को नाटो का मुख्यालय पेरिस से हटाकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स स्थानान्तरित करना पड़ा।

19.7.4 वियतनाम का प्रश्न- जॉनसन के शासन-काल में वियतनाम-युद्ध को अमरीका ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और उत्तर-वियतनाम पर अधिकाधिक आक्रामक एवं विनाशकारी बम वर्षा की गई। मार्च, 1968 तक संयुक्त राज्य अमरीका वियतनाम पर झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। 1968 के आरम्भ से ही जब उत्तर वियतनामी सेना तथा वियतनामी छापामारों के हाथों अमरीकी सेना को अपमानजनक पराजय सहनी पड़ी और उसकी नीतियों और निर्णयों का विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा तीव्र विरोध होने लगा, तो 31 मार्च, 1968 को जॉनसन ने राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश में यह नाटकीय घोषणा की कि वियतनाम में शान्तिवार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तर वियतनाम पर आंशिक रूप से बमबारी बन्द कर देने के आदेश दे दिए गए हैं और आगामी चुनावों में वह राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी नहीं बनेंगे। यद्यपि इस घोषणा से शान्ति स्थापना की शर्तें पूरी नहीं हुई, तथापि इससे वियतनाम के बारे में अमरीकी दृष्टिकोण से परिवर्तन अवश्य आया।

19.7.5 अरब-इजराइल नीति- अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन के कार्यकाल में पश्चिमी एशिया में जून 1967 में अरब-इजराइल के बीच जो भीषण संघर्ष हुआ उसमें अमरीका ने इजराइल को ही प्राथमिकता दिया। इसमें अमरीका ने इजरायल को सामरिक मदद उपलब्ध कराई थी। इस युद्ध के कारण सभी अरब राष्ट्र अमरीका के विरोध में संगठित हुए, जिससे अमरीका को विरोध का सामना करना पड़ा। अनेक अरब-देशों ने अमरीका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिए और अपने यहाँ रहने वाले अमरीकी नागरिकों को अविलम्ब स्वदेश लौटने के आदेश दे दिए। परन्तु इन सबसे अमरीका के अरब-विरोधी रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अमरीका की 'यहूदी लॉबी' के कारण वह ऐसा करने के लिए विवश था।

19.7.6 निःशस्त्रीकरण की नीति- जॉनसन के शासन-काल में परमाणु अस्त्र निषेध सन्धि, 1968 का आयोजन करके

निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति की। इसका यू.एन.ओ. में लैटिन अमरीका ने अनुमोदन किया। जुलाई 1968 तक 61 राष्ट्रों से हस्ताक्षर कराकर हथियार की दौड़ को सीमित करने का प्रयास भी किया। अधिकांश देशों ने अमरीकी दबाव में आकर ही ऐसा किया।

जॉनसन शासनकाल की विदेश नीति असफलताओं का ही शिकार रही। संयुक्त राज्य अमेरिका को अपनी नीति के कारण बदनामी का शिकार बनना पड़ा।

19.8 राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन और अमरीकी विदेश नीति-

20 जनवरी, 1969 को रिचर्ड निक्सन संयुक्त राज्य अमरीका के 37 वें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनका कार्यकाल विदेश नीति के इतिहास में 'क्रान्तिकारी' माना जाएगा। क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत के प्रति अमरीका की नीति को नई दिशा प्रदान की। इसके अतिरिक्त अनेक दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमरीकी विदेश नीति को मुख्य बनाया। उनके प्रयत्नों से सुदीर्घकाल से चला आ रहा वियतनाम युद्ध समाप्त हुआ। सोवियत संघ के साथ निःशस्त्रीकरण वार्ताओं में काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत में सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को जितना अधिक बल निक्सन के कार्य-काल में मिला उतना पहले कभी नहीं मिला था। इसका श्रेय उनके विदेशमन्त्री डॉ. हेनरी किंसिंगर को जाता था। इनके कार्यकाल की विदेश नीति के मुख्य पहलू इस प्रकार हैं—

19.8.1 नई खोज की नीति- अब तक अमरीका की विदेश नीति का मुख्य आधार सैनिक गठबन्धन, आर्थिक एवं सैनिक सहायता ही रहा था। इसमें रिचर्ड निक्सन ने परिवर्तन कर यूरोप की सद्भावना पूर्ण यात्रा का कार्यक्रम बनाकर कूटनीति के आधार पर नये संबंध स्थापित करने के प्रयास किये। वे यूरोपीय देशों के नेताओं के साथ वियतनाम, पश्चिमी एशिया आदि समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करना चाहते थे तथा अमरीका के दृष्टिकोण को व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत कर, उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे। उनकी इस यात्रा पर यूरोप ने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। फ्रांस में उनका गैरिज विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी परमाणु प्रसार प्रयत्नों से निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हुआ। निक्सन सुणा गए कि शीत युद्ध में पश्चिमी यूरोप अब संयुक्त राज्य अमरीका को अपना पूरा समर्थन नहीं देगा। इससे नई खोज की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकी।

19.8.2 वियतनाम के प्रति नीति- राष्ट्रपति निक्सन के काल में वियतनाम संघर्ष में अमरीकी विदेश नीति की कड़ी परीक्षा हो रही थी। अमरीका इस युद्ध में बुरी तरह फंस गया था। जिससे उसको अपना सम्मान बचाना भी कठिन था। वियतनाम युद्ध में निक्सन ने हवाई युद्ध लड़ा। इसका उत्तरी वियतनाम ने कड़ा विरोध किया। इस वियतनाम युद्ध में अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने कहा था “हम पराजित नहीं होंगे और न ही हम अपने मित्रों को साम्यवादी आक्रमण के आगे छुटने टेकने देंगे।” साथ ही अमरीका ने समझौता करने का मार्ग भी खुला रखा जिसके कारण 27 जनवरी 1973 को वियतनाम समझौता सम्पन्न हो गया, जिसके अन्तर्गत अमरीका सभी अमरीकी सैनिकों को इस शब्द पर वापस बुलाने को तैयार हो गया कि सभी पक्ष विसैन्यीकृत क्षेत्र का आदर करेंगे। निक्सन प्रशासन से दक्षिणी वियतनाम की सरकार सैनिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली नहीं बन सकी। वियतनाम में अमरीका को बड़ा नीचा देखना पड़ा और अन्त में, उसे अपनी सेनाओं को वहां से हटाना पड़ा।

19.8.3 चीन के सम्बन्ध में नीति परिवर्तन- अमरीका के शत्रु साम्यवादी चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाकर निक्सन ने सिद्ध कर दिया कि राजनीति में स्थायी मित्र और शत्रु नहीं होते हैं। अमरीका पहली बार चीन से दोस्ती करने को उत्साहित हुआ। 26 अक्टूबर 1970 को राष्ट्रपति निक्सन ने रोमानिया के राष्ट्रपति के सम्मान में चीन को “चीन का जनवादी गणराज्य” भी कहा था। 9 जुलाई, 1971 को हेनरी किंसिंगर को गुप्त रूप से चीन की यात्रा पर पहली बार भेजा गया। 26 अक्टूबर, 1971 को अमरीका की सहमति से चीन संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बना दिया गया।

मार्च, 1972 में निक्सन चीन की राजकीय यात्रा पर गए। चीन अमरीकी गठबन्धन का शिकार ताइवान बना। निक्सन ने यह स्पष्ट संकेत दे दिया कि यदि चीनी नेता अमरीका से सहयोग करें तो वह ताइवान की समस्या के समाधान में रुकावट नहीं डालेगा। ताइवान को चीन का एक अभिन्न अंग मानकर तथा वहाँ तैनात अमरीकी फौजों को धीरे-धीरे हटाने की इच्छा व्यक्त करके निक्सन ने साम्यवादी चीन के प्रति भावी नीति स्पष्ट कर दी थी। परिणामस्वरूप दोनों के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। दोनों देशों के बीच आर्थिक संबंधों को भी नई गति प्राप्त हुई।

19.8.4 पश्चिमी एशिया की नीति- पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों की तरह ही पश्चिमी एशिया संकट पर निक्सन का दृष्टिकोण अरब विरोधी और इजरायल समर्थक बना रहा। अक्टूबर 1973 के अरब-इजरायल युद्ध में अमरीका ने इजरायल का समर्थन किया तथा पिछों महाशक्तियों की कूटनीतिक सरगर्मी के कारण युद्ध-विराम हो गया।

19.8.5 निक्सन और सोवियत संघ- साम्यवादी विश्व के साथ सह-अस्तित्व की नीति अपनाने का बहुत कुछ श्रेय निक्सन को जाता है। उन्होंने मई, 1972 में मास्को की यात्रा की। इस अवसर पर जारी संयुक्त घोषणा में दोनों देशों में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। यह भी कहा गया कि संकट से बचने और परमाणु युद्ध से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। दोनों देशों के बीच शस्त्र-परिसीमन पर एक ऐतिहासिक सन्धि हुई। अन्तरिक्ष अभियान-सहयोग सन्धि द्वारा निश्चय किया गया कि दोनों के अन्तरिक्ष यात्री मिलकर अनुसन्धान और उपलब्ध जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे।

जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेजेनेव की अमरीकी यात्रा के दौरान दोनों देशों में कतिपय सन्धियाँ सम्पन्न हुई। एक सन्धि द्वारा दोनों देशों ने संकल्प किया कि वे आपस में परमाणु युद्ध नहीं करेंगे। दूसरी सन्धि परमाणु शस्त्रास्त्र परिसीमन और परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। इसके पश्चात् दोनों देशों के बीच 3 जुलाई, 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियों तथा आक्रामक परमाणु अस्त्रों को और अधिक सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतों पर हस्ताक्षर किये गए। इसी के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए 10 वर्षीय समझौता भी सम्पन्न हुआ था। यह अमरीकी सोवियत सम्बन्धों में क्रान्तिकारी मोड़ था।

19.8.6 भारतीय उपमहाद्वीप की नीति- राष्ट्रपति निक्सन के काल में भारत-पाक युद्ध, 1971 हुआ। जिसमें 16 दिसम्बर 1971 को बंगलादेश का नये राष्ट्र के रूप में उदय हुआ। इस युद्ध में निक्सन ने भारत के विरुद्ध पाक का अधिक पक्ष लिया। अमरीका ने पाक की मदद के लिए 7 बाँ जहाजी बेड़ा रखाना किया। इस काल में अमरीका ने न केवल भारत की आर्थिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैन्य सामग्री देना भी बन्द कर दिया और हर तरह से भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की। वस्तुतः यह निक्सन की 'युद्धपोत कूटनीति' थी, जिसका उद्देश्य भारत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भयभीत करके बंगलादेश से अपनी सेनाएं हटाने को बाध्य करना और पाकिस्तान को विभाजन से बचाना था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका को भावी अपमान का सामना करना पड़ा।

निक्सन युग में संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच देतान्त या तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया आगे बढ़ती गई। निक्सन काल में, उनकी विदेश नीति के निर्धारण करने में उनके विदेश मन्त्री डॉ. हेनरी किसिंगर की अहम् भूमिका को भुलाया नहीं जा सकता है।

19.9 राष्ट्रपति फोर्ड और अमरीकी विदेश नीति

अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन जब वाटरगेट काण्ड में उलझ गये तो उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। फलतः 9 अगस्त, 1974 को उपराष्ट्रपति जेगल्ड फोर्ड ने अमरीका के 38 वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। फोर्ड काल में अमरीका की विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित रूप से रही हैं-

19.9.1 विदेशनाम पर नीति- विदेशनाम में फोर्ड प्रशासन निक्सन के पदचिह्नों पर ही चलता रहा। 30 अप्रैल, 1975 को अमरीका-समर्थित दक्षिण विदेशनाम की सरकार ने साम्यवादी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इसके साथ ही विदेशनाम युद्ध समाप्त हो गया। अपार जन-धन की क्षति उठाते हुए अमरीका को विदेशनाम से हटना पड़ा। इसके साथ ही महायुद्धोंग्र इतिहास में अमरीकी विदेश नीति की यह सबसे बड़ी पराजय थी। यहाँ सोवियत संघ समर्थित उत्तरी विदेशनाम ने अमरीका को सबसे बड़ी करारी पराजय का सामना करने को विवश किया। अगस्त 1975 में उसने सुरक्षा-परिषद् में निषेधाधिकार का प्रयोग करके उत्तर विदेशनाम तथा दक्षिण विदेशनाम में संयुक्त राज्य अमरीका का प्रवेश रोक दिया।

19.9.2 पश्चिमी एशिया- अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिए अमरीका के विदेश मन्त्री डॉ. हेनरी किसिंगर अपने कूटनीतिक प्रयासों द्वारा 4 सितम्बर, 1975 को मिस्र और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता करने में सफल हुए। पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना के लिए अमरीकी कूटनीति की यह एक महत्वपूर्ण सफलता थी। 2 नवम्बर, 1975 को अमरीका ने मिस्र को परमाणु भट्टी देने के निश्चय की घोषणा की। 6 मार्च, 1976 को अमरीका ने इजरायल से आग्रह किया कि उसे पूरा सिनाई क्षेत्र खाली

कर देना चाहिए। अमरीकी कूटनीति की एक बड़ी विजय यह थी कि 15 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने सोवियत संघ के साथ मिस्र की मैत्री-सम्झि को रद्द कर दिया। अरब देशों के प्रति अमरीका ने उदार रुख तो अपनाया लेकिन जब सुरक्षा परिषद् में इजरायल विरोधी प्रस्ताव लाया गया तो 26 मार्च, 1976 को उसने उसके विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग किया। अन्त में, 30 मई, 1976 को मिस्र और अमरीका के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार अमरीका ने मिस्र को 10 करोड़ 20 लाख डालर की सहायता देने का निश्चय किया। अमरीका ने मिस्र तथा इजरायल के बीच शान्ति समझौता कराने के अथक प्रयास किये।

19.9.3 सोवियत संघ के प्रति नीति- राष्ट्रपति फोर्ड ने सोवियत संघ के साथ सहयोगात्मक रूपैया अपनाया एवं सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। इसी क्रम में निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की नीति पर भी अमल किया गया। इन सम्बन्धों को आयोजित करने के लिए कूटनीतिक वार्ता भी आयोजित हुई। इस रूप में 23-24 नवम्बर 1974 को ब्रेझेनेव और फोर्ड के बीच में सापरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता को अन्तिम रूप दिया गया। जून 1975 में सोवियत नेता ब्रेझेनेव ने वाशिंगटन की यात्रा की। जिसमें जुलाई, 1975 में होने वाले हेलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने की सहमति हुई। इसी दौरान संयुक्त अन्तरिक्ष उड़ान भरने पर भी सहमति दी गई। 9 जुलाई, 1976 को आणविक परीक्षणों के स्थल के निरीक्षण पर समझौता किया गया। इस तरह सोवियत संघ के साथ सहयोग करने की, सम्बन्धों को सुधारने की नीति अपनाकर व्यापार क्षेत्र में भी सहयोग किया।

19.9.4 अमरीका-चीन सम्बन्धों के बदलते पहलू- अगस्त 1974 में फोर्ड ने सत्तारूढ़ होते ही नवम्बर, 1974 में विदेश मन्त्री डॉ. किसिंगर को पुनः चीन यात्रा पर भेजा। यह उनकी सातवीं पीकिंग यात्रा थी। लेकिन इस बार ऐसा लगा कि अमरीका व चीन के सम्बन्ध ठण्डे हो चले हैं। वैसे चीन की भावनाओं को ब्रेझेनेव और फोर्ड की पूर्व वार्ता से देख पहुँची थी। इसलिये किसिंगर की यात्रा के लिए वहाँ विशेष उत्साह नहीं पाया गया। ब्रेझेनेव और फोर्ड की वार्ता का स्थान ब्लाइंडोस्टक रहा था, जो कि पूर्व में चीन का अभिन्न अंग था।

डॉ. किसिंगर की आठवीं चीन यात्रा 19-23 अक्टूबर, 1975 के दौरान भी चीनी नेताओं ने ठण्डे दिल से अमरीकी विदेशमन्त्री का स्वागत किया। डॉ. किसिंगर के फोटो स्वागत के बावजूद राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 में चीन की यात्रा की। यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त वक्तव्य प्रसारित नहीं किया गया। चीन को फोर्ड से निराशा ही हाथ लगी। इसके बाद में फरवरी, 1976 में रिचर्ड निक्सन ने चीन की अराजनीतिक यात्रा की, जिसका व्यापक सम्मान किया गया था। उस समय चीन ने कहा था, “हमें फोर्ड नहीं, निक्सन चाहिये।”

19.9.5 दक्षिणी एशिया में पाक सम्बन्धी नीति- दक्षिणी एशिया में भारत के प्रति फोर्ड प्रशासन का दृष्टिकोण निक्सन प्रशासन से भी अधिक कठोर रहा। फरवरी, 1975 में पाक को 10 वर्ष के लिए दी जाने वाली सैनिक मदद की पाबन्दी को हटा दिया गया। भारत ने हमेशा से इस बात का विरोध किया कि अमरीका पाक को सैनिक और आर्थिक साधन उपलब्ध नहीं कराये, क्योंकि इससे भारत-पाक सम्बन्धों में भी तनाव उत्पन्न होता। अक्टूबर, 1975 में भारतीय विदेश मन्त्री ने वाशिंगटन की यात्रा आयोजित की। इस यात्रा में अमरीका द्वारा दी जाने वाली पाक की सहायता पर विरोध प्रकट किया गया। लेकिन भारत के विरोध प्रकट करने से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा तथा अमरीका द्वारा सहायता कार्यक्रम को जारी रखा गया।

सारांश में फोर्ड वुग में भी सामान्यतः निक्सन की नीतियों का ही अनुसरण किया गया।

19.10 राष्ट्रपति कार्टर और अमरीकी विदेश नीति

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक जिम्मी कार्टर ने अमरीका के 39 वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। यद्यपि ने कार्टर अपने काल में अमरीकी विदेश नीति को कोई नूतन आयाम प्रदान नहीं कर सके, फिर भी उनके कार्यकाल की विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियों को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है-

19.10.1 पश्चिमी एशिया संबंधी नीति- कार्टर प्रशासन ने पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान करने के लिए अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों की तुलना में अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। 1977 में अपनी अमरीका यात्रा के समय मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने राष्ट्रपति कार्टर को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी थी कि जब तक फिलिस्तीनियों का पृथक् राज्य नहीं बन जाता तब तक अरब-इजरायल संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकता। राष्ट्रपति सादात और राष्ट्रपति कार्टर ने 1977 के उत्तरार्द्ध में जेनेवा सम्मेलन

आयोजित करने की बात दोहराई। इसके बाद पश्चिमी एशिया की राजनीति में तेजी से नए मोड़ आए। अक्टूबर, 1977 में अमरीका, सोवियत संघ, अरब देश और इजरायल के बीच एक अनौपचारिक समझौता हुआ जिसने उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो पिछले एक लम्बे समय से जेनेवा सम्मेलन बुलाने में बाधक बना हुआ था। इजरायल इस बात पर सहमत हो गया कि अरब देशों के प्रतिनिधिमण्डल में फिलिस्तीनियों का प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो सकता है। कार्टर में विश्वास रखते हुए भी सादात ने समझौते के लिए इजरायल की यात्रा का ऐतिहासिक निर्णय लिया। राष्ट्रपति कार्टर दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और उन्होंने अमरीका में कैम्प डेविड में सितम्बर, 1978 में सादात-बेगिन, कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। इस शिखर सम्मेलन के माध्यम से पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया गया। इससे मिस्र तथा इजरायल के बीच शान्ति संधि सम्पन्न हुई।

कैम्प डेविड समझौते की अन्य अरब राष्ट्रों ने आलोचना की थी। अनेक अरब राष्ट्रों ने मिस्र से सम्बन्ध तोड़ लिया। जिम्मी कार्टर की व्यक्तिगत भूमिका और कूटनीति के कारण ही अमरीका को सफलता मिली थी। इस समझौते को अरब-इजरायल समस्या के समाधान का महत्वपूर्ण समझौता माना जाता है।

19.10.2 भारत की यात्रा- जिम्मी कार्टर अमरीका के पहले राष्ट्रपति थे, जिन्होंने जनवरी, 1978 में भारत की यात्रा की। इस यात्रा से भारत-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार हुआ। भारत यात्रा के दौरान कार्टर ने घोषणा की कि उन्होंने तरायुर परमाणु बिजली संयंत्र के लिए श्रेष्ठ यूरोनियम की एक और खेप भेजने का निर्णय लिया है। दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे दूसरों के साथ अपने विवाद सौहार्दपूर्ण ढंग से निपटाएँगे तथा परमाणु अस्त्रों के फैलाव के खतरे को रोकने के लिए और उनमें कमी करते हुए अन्ततः उन्हें समाप्त करने के लिए कार्य करेंगे। जून, 1978 में भारत के प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा पर गए। भारतीय विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 20 से 25 अप्रैल, 1979 तक संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा की। इस काल में भारत ने परमाणु अप्रसार सम्बन्ध पर हस्ताक्षर करने के लिए अमरीकी दबाव का सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और उस पर हस्ताक्षर नहीं किये। अतः कार्टर युग में भारत-अमरीका सम्बन्ध सामान्य बने रहे।

19.10.3 तृतीय विश्व संबंधी नीति- जिम्मी कार्टर ने तृतीय विश्व के बारे में अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। उन्होंने तृतीय विश्व के विकासशील राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। जिसमें लैटिन अमरीका, ब्राजील, ब्रेजेनेला आदि राष्ट्रों की सफल यात्राएँ की। वियतनाम को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया गया। अमरीका और वियतनाम के बीच दृढ़ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने की बातचीत भी प्रारम्भ हुई।

19.10.4 कार्टर-प्रशासन और साम्यवादी चीन : बदलते समीकरण- कार्टर युग की विदेश नीति में साम्यवादी चीन के प्रति नवीन पहल की गई। जिसमें इन परिवर्तनों के उद्देश्य से अमरीकी विदेश मन्त्री साइरस बैंस ने 22 से 27 अगस्त, 1977 तक चीन की यात्रा की, परन्तु ताइवान सम्बन्धी मतभेदों के कारण दोनों देशों में मतैक्य नहीं हो सका। साइरस बैंस के बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रेजेन्स्की ने पीकिंग यात्रा की। इसमें दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्धों में सुधार की बात भी उठायी। साम्यवादी चीन के प्रति अपनी नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए राष्ट्रपति कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। इसके साथ ही व्यापारिक सम्बन्धों को भी सुधारा गया।

19.10.5 अमरीका और सोवियत संघ- कार्टर प्रशासन, सामयिक उतार-चढ़ाव और उत्तेजनाओं के बावजूद सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष रहा। जून 1979 में दोनों देशों के बीच साल्ट-2 समझौता हुआ जिसे राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-परिसीमन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को लेकर दोनों देशों के बीच सुधरते सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया। इससे दोनों के बीच टकराव की स्थिति अधिक बढ़ गई, तथापि इस स्थिति से दोनों ही महाशक्तियाँ बचने का प्रयत्न करती रहीं जिससे कोई सशस्त्र टकराव नहीं हो सका।

19.11 राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और अमरीकी विदेश नीति

20 जनवरी, 1981 को रोनाल्ड रीगन ने संयुक्त राज्य अमरीका के 40वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। शपथ पश्चात् रीगन ने अमरीका के मित्रों को आश्वासन दिया- “हम अपनी मित्रता अपनी सार्वभौमिकता पर नहीं थोपेंगे, क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता ब्रिकी के लिए नहीं है।” उन्होंने अमरीका के प्रतिद्वन्द्वियों से कहा “शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते हैं, बलिदान कर

सकते हैं, लेकिन आत्मसमर्पण कभी नहीं करेंगे।'' रोनाल्ड रीगन की विदेश नीति प्रारम्भ से ही कठोर, विस्तारवादी और सैनिक मनोवृत्ति की रही। उनके कार्यकाल की विदेशनीति की मुख्य प्रवृत्तियों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित कर सकते हैं -

19.11.1 शीत युद्ध का नवीनीकरण- रोनाल्ड रीगन की विदेश नीति अधिक आक्रामक और सोवियत संघ विरोधी रही। रीगन बातचीत और शिखर वार्ताओं को अधिक प्राथमिकता नहीं देते थे, वे तो कठोर नीति और टकराव पर बल देते थे। उनकी नीति अमरीकी-रूसी तनाव-शैथिल्य की पुष्टि नहीं करती थी। वे साल्ट वार्ताओं पर नहीं, अपितु शस्त्रों की दौड़ में तेजी लाने, शस्त्रों में परिसीमन पर नहीं अपितु आणविक रासायनिक हथियारों के निर्माण पर बल देते रहे। परमाणु अस्त्रों और प्रक्षेपास्त्रों के प्रश्न को लेकर सोवियत संघ और अमरीका के बीच तनातनी दोनों के सम्बन्धों का एक अंग बन गया। वस्तुतः रीगन की विदेश नीति से अमरीका और सोवियत संघ के मध्य एक दूसरा शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

अपने शासन काल के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रपति रीगन, सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों को उदार बनाने के लिए उत्सुक थे। जेनेवा (नवम्बर 1985 में रीगन-गोर्बाच्योव वार्ता, रिक्जाविक (अक्टूबर 1986) में रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता और दिसम्बर 1987 में सम्पन्न वाशिंगटन शिखर सन्धि देतान्त की ओर बढ़ते चरण के सूचक कहे जा सकते थे। स्टारवार पर रीगन के अड़े रहने से रिक्जाविक वार्ता यद्यपि विफल हो गयी, तथापि 8 दिसम्बर 1987 को रीगन और गोर्बाच्योव ने जिस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए, वह वह उनके कार्यकाल की उपलब्धि कही जा सकती है।

19.11.2 शस्त्रों की दौड़ में तेजी- रीगन प्रशासन चाहता था कि अमरीका की सामरिक शक्ति में इतनी वृद्धि हो जाए कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति के बल पर धाक जमा सके। रीगन प्रशासन ने 9 अगस्त, 1981 को न्यूटॉन बम बनाने का निश्चय किया। साल्ट-वार्ता के प्रति रीगन प्रशासन की कोई रूचि नहीं थी तथा अमरीका ने अपने बजट में रक्षा व्यय में पर्याप्त वृद्धि की। अमरीका द्वारा अपने बजट में वृद्धि करने से अन्य राष्ट्रों को अपने-अपने सैनिक खंच में वृद्धि करनी पड़ गई थी।

19.11.3 सोवियत रूस के विरुद्ध कठोर नीति अपनाना- रीगन ने सोवियत संघ के प्रति आरम्भ से कठोर रवैये का संकेत दिया। जब रूस ने अपनी सेनाएँ अफगान में तैनात की तो इससे अमरीका और भी अधिक नाराज हुआ। इराक-ईरान में अमरीका की विदेश नीति संघर्षवादी ही रही। जनवरी, 1986 में रोनाल्ड रीगन ने ईरान को गुप्त रूप से हथियार भेजकर इराक को नष्ट करने की घोषणा बनाई थी। जिसे ईरान गेट काण्ड के नाम से जाना जाता है। इस घटना से सोवियत संघ अमरीका सम्बन्धों में तनाव उपस्थित हुआ।

सोवियत संघ अफगान में सेनाओं की उपस्थिति करके ईरान की घेराबन्दी करना चाहता था। इस घटना को लेकर दोनों ही महाशक्तियों में काफी तनाव उत्पन्न हुआ।

19.11.4 दक्षिण एशिया में याक के प्रति विशेष द्रुकाव रखना- रीगन प्रशासन की दृष्टि में पाकिस्तान एशिया में अमरीकी हितों के लिए उपयोगी है। वह उसे ऐसा विश्वसनीय क्षेत्रीय मित्र बना देना चाहता था जिस प्रकार पश्चिम एशिया में इजरायल था। इसी कारण अमरीका पाकिस्तान से सम्बन्ध सुदृढ़ करने लगा, उसे समर्थन देता रहा, उसे आर्थिक और सैनिक सहायता देता रहा तथा उसे आधुनिकतम घातक हथियारों से लैस करता रहा। पाकिस्तान को अमरीका से एफ-16 लड़ाकू विमान, हॉट मिसाइल और पूर्व चेतावनी देने वाले 'अवाक्स' विमान, आदि प्राप्त होते रहे। दूसरी ओर अमरीका को पाकिस्तान की धरती पर सैनिक अड्डे कायम करने, पाकिस्तानी बन्दरगाहों की सुविधाओं का लाभ लेने तथा अमरीकी पायलोटों द्वारा गश्त लगाने वाले विमानों को चलाने की सुविधाएँ मिलती रहीं। इन व्यवस्थाओं से जहाँ अमरीका को सोवियत संघ के खिलाफ पाकिस्तान में सैनिक अड्डे पुखा करने का अवसर मिला वहाँ पाकिस्तान को अमरीका समर्थन मिलने के कारण भारत को आंखें दिखाने का अवसर मिला।

19.11.5 साम्यवादी चीन के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध- रीगन प्रशासन चाहता था कि साम्यवादी चीन-अमरीकी सम्बन्धों को नया रूप दिया जाए। सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए अमरीका और चीन के मध्य जून 1981 में एक समझौता हुआ। इतना ही नहीं, 6 मई, 1982 को राष्ट्रपति रीगन ने अपने उपराष्ट्रपति जॉर्ज बुश के माध्यम से चीन के तीन शीर्षस्थ नेताओं को पत्र लिखकर सोवियत संघ के विरुद्ध चीन तथा अमरीका के सहयोग को मजबूत बनाने की अपील की। 17 जनवरी, 1984 को चीनी प्रधानमंत्री झाओ जियांग ने अमरीका की यात्रा सम्पन्न की। अपनी यात्रा के दौरान झाओ ने अमरीका के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध बढ़ाने पर बल

दिया। उन्होंने कहा कि साम्यवादी चीन अमरीका के साथ सोवियत संघ के विरुद्ध कोई गठबन्धन नहीं करेगा परन्तु अफगानिस्तान में सोवियत संघ और कम्पूचियाँ में वियतनाम के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में अमरीका और चीन का समान दृष्टिकोण था। उन्होंने आशा व्यक्त की कि एशिया में सोवियत संघ की विस्तारवादी नीति को रोकने में अमरीका चीन का सहयोग करेगा। अप्रैल, 1984 के अन्त में राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग की यात्रा की। उन्होंने वहां एक समारोह में कहा कि “‘अमरीका को चीन के साथ अपने सम्बन्धों पर गर्व है।’” इस यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच परमाणु सहयोग बढ़ाने के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस तरह रीगन के कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी चीन के सम्बन्धों में सुदृढ़ता आई।

19.11.6 पश्चिमी एशिया में तनावपूर्ण स्थिति- पश्चिमी एशिया में अरब-इजराइल संघर्ष एक प्रमुख समस्या रही है। जो कि पिछले 40 वर्षों से चली आ रही थी। अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन फिलीस्तीनी मुक्ति संगठन के आत्मोलन को कुचलने में लगे रहे। इस संगठन को सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त रहा। इस समस्या के समाधान के लिए कैम्प डेविड 1998 समझौते के अनुसार सुलझाने के लिए रीगन ने प्रयास तो किया लेकिन पश्चिमी एशिया के राष्ट्र अधिकांश अमरीकी विरोधी थे। इजराइल अपनी सीमाओं का निरन्तर विस्तार करता रहा व्योंगि अमरीका सदैव उसका ही पक्ष लेता रहा है।

19.11.7 स्टारवार कार्यक्रम को शुरू करना- रोनाल्ड रीगन ने स्टारवार या नक्शत्र युद्ध जैसे कार्यक्रम को प्रारम्भ किया। उन्होंने इस कार्यक्रम के माध्यम से अमरीका की शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास किया। इससे सोवियत संघ जैसे राष्ट्र के साथ अमरीका निरन्तर संघर्षरत ही रहा। रीगन ने रासायनिक युद्ध सामग्री का विकास करने की नीति भी अपनाई। यह कार्यक्रम विश्व में काफी चर्चित भी रहा। इसके कारण निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया में अनेक बाधायें उत्पन्न हुईं। विश्व शान्ति को पुनः एक बार रीगन ने नक्शत्र युद्ध के माध्यम से खतरे में डालने का प्रयास किया।

अतः राष्ट्रपति रीगन ने अमरीका के राष्ट्रीय हितों, कूटनीतिक प्रयासों, शिखर वार्ताओं आदि के माध्यम से अमरीका को सर्वोच्च स्थान दिलाने का प्रयास किया। इनके कार्यकाल में लीबिया पर आक्रमण भी किया गया। जिसकी सभी राष्ट्रों ने आलोचना की थी। रीगन के काल की विदेश नीति की कड़ी आलोचना हुई थी। फिर भी उन्होंने 1987 से सोवियत संघ के साथ सहयोगात्मक दृष्टिकोण अपनाकर व्यवहारिकता के आधार पर विदेश नीति में सुलह का मार्ग प्रशस्त किया था।

19.12 राष्ट्रपति जॉर्ज बुश और अमरीकी विदेश नीति- रीगन समर्थित जॉर्ज बुश को राष्ट्रपति चुनाव कर अमरीकी जनता ने स्पष्टतया रीगन की नीतियों का ही समर्थन किया तथापि जॉर्ज बुश ने अमरीकी विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन कर रीगन की नीति से अलग प्रकार की विदेश नीति का सूत्रपात किया। जहाँ रीगन ने नवशीत-युद्ध की शुरूआत की वहां बुश ने शीत-युद्ध की समाप्ति की घोषणा की, जहाँ रीगन ने नाटो को शक्तिशाली बनाने की पेशकश की वहां बुश ने नाटो की महत्व को घटाया जहाँ रीगन ने ‘स्टारवार’ कार्यक्रम प्रस्तुत किया वहां बुश ने सामरिक हथियारों में कटौती करने की एक तरफा घोषणा की। जॉर्ज बुश की विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्य एवं घटनाएं इस प्रकार से हैं :

19.12.1 विदेश नीति की निरन्तरता- राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने यह सिद्ध कर दिया था कि अमरीका की जो विदेश नीति रही है उसे वे बराबर आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे। अमरीका की जो विदेश नीति मुनरो सिद्धान्त के आधार पर कायम की गयी थी, उसी विदेश नीति के आधार पर जॉर्ज बुश भी विदेश नीति का संचालन करेंगे।

अमरीका यह चाहता है कि राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखा जाये। औद्योगिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, कच्चे माल की प्राप्ति जैसे अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखा जाये। राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने वर्ष 1991 में यह सिद्ध कर दिया कि वे अपनी विदेश नीति को किसी भी भूल्य पर नहीं बदलेंगे।

19.12.2 निःशस्त्रीकरण की विदेश नीति- जॉर्ज बुश से पूर्व राष्ट्रपति रीगन ने अमरीका की विदेश नीति को निःशस्त्रीकरण के मार्ग पर चलाने के लिए दो शिखर वार्ताएं आयोजित करके इस दिशा में मार्ग प्रशस्त किया था। 16 नवम्बर, 1988 को रीगन ने कहा था “‘मैं राष्ट्रपति बुश के लिए समझौते करने की मजबूत नींव रखकर जाऊंगा, दोनों देश आणविक हथियारों में कमी करने की दिशा में अग्रसर हूँ।’”

जब सोवियत संघ ने एकतरफा हथियारों की कटौती करने की घोषणा की तो राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने निःशस्त्रीकरण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। उनके प्रोत्साहन से ही 10 नवम्बर, 1990 को नाटो व वारसा सन्धि देशों के शासनाध्यक्षों ने एक ऐतिहासिक समझौते पर

हस्ताक्षर किए। इस सन्धि द्वारा यूरोप में शीत-युद्ध को समाप्त कर दिया गया। सन्धि में दोनों गुटों के लिए सैनिकों की संख्या निर्धारित नहीं की गई लेकिन परम्परागत शस्त्रों की अधिकतम संख्या प्रत्येक के लिए निर्धारित कर दी गई ताकि कोई भी पक्ष इसका उल्लंघन न कर सके। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद राष्ट्रपति बुश ने कहा कि इस सन्धि से यूरोप में आपसी सद्भाव व मैत्री का एक नया युग आरम्भ होगा।

19.12.3 बुश और सोवियत संघ- रीगन ने सोवियत संघ के साथ जिस शिखर राजनीति का प्रारम्भ किया था। बुश ने उसे जारी रखा। 2-3 दिसम्बर, 1989 को माल्टा में बुश-गोर्बाच्योव के बीच शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। बुश ने यह अनुभव कर लिया था कि यदि अमरीका ने गोर्बाच्योव के ग्लास्नोस्त और पेरेस्त्रोइका कार्यक्रमों को भरपूर समर्थन नहीं दिया तो सोवियत संघ के नियन्त्रण वाले पूर्वी-यूरोपीय देशों की स्वतन्त्रता संकट में पड़ सकती है। बुश यह भी जानते थे कि पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत संघ और साम्यवाद के चंगुल से मुक्त होने का अवसर न मिल पाया तो गोर्बाच्योव-रीगन शिखर सम्मेलन में जिस नई यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था की नींव डाली गई है वह सुरक्षा व्यवस्था कायम न हो सकेगी। इतना ही नहीं नई यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना के लिए पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण भी बहुत आवश्यक था। माल्टा सम्मेलन में जॉर्ज बुश ने सोवियत संघ की इस नींव को पहचान लिया कि वह यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था में सम्मिलित होना चाहता है, अतः उसमें बाधक नहीं रहेगा।

बुश और गोर्बाच्योव के बीच दूसरा शिखर सम्मेलन मई, 1990 में वाशिंगटन में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में हुए समझौते के परिणामस्वरूप जहाँ यूरोप में विनाशकारी हथियारों की दौड़ समाप्त करने में मदद मिली, वहीं अमरीका ने सोवियत संघ को प्रतिवर्ष एक करोड़ टन अनाज बेचने की स्वीकृति प्रदान की। 11 जुलाई, 1991 को अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश तथा तत्कालीन सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव के मास्को में सम्पन्न हुए शिखर सम्मेलन में हथियारों की कटौती करने के बारे में ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि का सारे विश्व में स्वागत हुआ। इस तरह से बुश ने सोवियत संघ के साथ शीत युद्ध को कम करने की दिशा में अनवरत प्रयास किये।

19.12.4 खाड़ी युद्ध- खाड़ी युद्ध (1991) राष्ट्रपति बुश की विदेश नीति की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। कुवैत के साथ अमरीका के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि कुवैत अरब देशों में एक प्रमुख तेल उत्पादक देश है। जॉर्ज बुश ने इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को नियन्त्रित करने के लिए सोवियत संघ के साथ मिलकर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् से यह प्रस्ताव पारित करा लिया कि यदि इराक कुवैत से 15 जनवरी, 1991 तक न हटा तो उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाये। संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक को कुवैत छोड़ने के लिए बाध्य किया। कुवैत को पुनः स्वतन्त्र देश के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यह जॉर्ज बुश के असाधारण नेतृत्व की विजय थी। इससे संयुक्त राज्य अमरीका का विश्व के सबसे बड़े तेल उत्पादक क्षेत्र पर आधिपत्य हो गया।

19.12.5 जॉर्ज बुश और मध्य पूर्व- जॉर्ज बुश के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी मध्य पूर्व सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करते हुए यह मान लिया कि फिलिस्तीनी समस्या का समाधान किये बिना इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है। तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री जेम्स बेकर ने इजरायल और अरबों के बीच शान्ति स्थापित कराने के लिए सार्थक पहल की। फलतः स्पेन की राजधानी मैड्रिड में इजरायल और अरब राष्ट्रों के प्रतिनिधियों में शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन को अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश तथा तत्कालीन सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने सम्बोधित किया। इस सम्मेलन में सीरिया, लेबनान, जोर्डन, इजरायल तथा फिलिस्तीनी प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मैड्रिड सम्मेलन की भावना ने अरबों और इजरायल के बीच जनवरी 1992 में वाशिंगटन वार्ता का मार्ग प्रशस्त किया। वाशिंगटन सम्मेलन के कारण अरब-इजरायल के बीच मतभेदों के समाप्त करने की दिशा में मदद मिली।

19.12.6 चीन से मैत्री सम्बन्धों को सुदृढ़ करना- फरवरी, 1989 में राष्ट्रपति बुश ने चीन की यात्रा की और कहा कि अमरीका ऐसा कोई निर्णय नहीं लेगा जिससे चीन के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। उन्होंने चीन को आश्वस्त किया कि अमरीका 'एक चीन' की नीति पर कायम रहेगा। इससे दोनों देशों के बीच संबंधों में सुधार आया।

19.12.7 बुश और नाटो- अमरीका और सोवियत संघ के बीच सहयोग का जो नया युग रीगन काल के अन्तिम वर्षों में शुरू हो गया था उसने यूरोप के दोनों सैनिक गठबन्धों- उत्तर एटलांटिक सन्धि संगठन (नाटो) और वारसा पैक्ट की प्रासंगिकता और

उपयोगिता के आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया। इसके बावजूद बुश ने नाटो को बिखरने नहीं दिया। नाटो की एकता को बुश ने इस सीमा तक बनाये रखा है कि इराक के विरुद्ध युद्ध में नाटो देशों ने अमरीका के साथ कंधे से कंधा मिलाकर भाग लिया।

19.12.8 संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की एकमात्र महानतम् शक्ति के रूप में- सन् 1991 में सोवियत संघ के विघटन के कारण विश्व में द्वि-ध्रुवीय राजनीति का अन्त हुआ, पूर्वी यूरोप से साम्यवादी शासन व्यवस्थाओं का भी अन्त हुआ था। अतः विश्व में एक ही महानतम् शक्ति रह गई है और वह है संयुक्त राज्य अमरीका। यह जार्ज बुश की रणनीति की बहुत बड़ी सफलता थी। खाड़ी युद्ध के माध्यम से अमरीका ने यह सिद्ध कर दिया कि विश्व में यदि स्थिरता आनी है तो वह तभी आएगी जब अमरीका स्वयं ऐसा चाहता हो। उनका कहना था कि संयुक्त राज्य अमरीका ने “एक नई विश्व व्यवस्था” की स्थापना के लिए यह युद्ध लड़ा।

संक्षेप में, शीत युद्ध का अन्त, खाड़ी में अमरीकी विजय, पश्चिम एशिया में अमरीकी वर्चस्व और अमरीका का अकेले महानतम् शक्ति के रूप में अभ्युदय बुश की विदेश नीति के प्रमुख सीमा-चिह्न थे। यह राष्ट्रपति बुश की ही विदेश नीति का परिणाम था कि खाड़ी युद्ध में अमरीका की सद्वाम हुसैन पर विजय तथा सोवियत संघ के पतन के पश्चात् एक बार पुनः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बागड़ोर अमरीका के हाथों में आ गई।

19.13 राष्ट्रपति बिल किलटन और अमरीकी विदेश नीति

खाड़ी युद्ध में सफलता के बावजूद, राष्ट्रपति चुनाव में जार्ज बुश सीनियर को पराजय का सामना करना पड़ा। नव निर्वाचित राष्ट्रपति बिल किलटन ने 20 जनवरी, 1993 को राष्ट्रपति पद के शपथ ग्रहण समारोह के उद्घाटन भाषण में घोषणा की कि पुरानी व्यवस्था के अन्त के साथ जहाँ नया विश्व आज अधिक स्वतन्त्र है, परन्तु वह कम स्थायी है। साम्यवाद के अंत के बाद पुरानी शत्रुताएँ एवम् नवीन खतरे उभर के आये हैं। ऐसी घड़ी में, राष्ट्रपति किलटन ने अपना संकल्प दोहराते हुए कहा कि “अमरीका को विश्व का नेतृत्व प्रदान करते रहना चाहिए जिस तरह उसने भूत में किया।” श्री किलटन ने विशेष रूप से कहा कि उनकी प्राथमिकताओं में पश्चिमी एशिया शान्ति वार्ता को जारी रखना, रूस के साथ साल्ट सन्धि के प्रवासों में निष्कर्ष पर पहुंचना, युद्धरत भूतपूर्व यूगोस्लाविया में शान्ति बहाल करना और अकाल पीड़ित सोमालिया में सहायता आपूर्ति करना शामिल हैं। राष्ट्रपति किलटन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ तथा क्षेत्र निम्नलिखित थी :

19.13.1 किलटन और रूस- किलटन ने रूस के राष्ट्रपात्र बोरिस येल्त्सिन की नीतियों और कार्यशैली को पूर्ण समर्थन दिया। जब येल्त्सिन और साम्यवादियों के प्रभुत्व बाली संसद के बीच सत्ता संघर्ष हुआ तो संयुक्त राज्य अमरीका तथा उसके सहयोगियों ने येल्त्सिन का समर्थन किया। संयुक्त राज्य अमरीका के समर्थन के कारण ही येल्त्सिन अपनी सत्ता को सुरक्षित रख सके। संयुक्त राज्य अमरीका ने येल्त्सिन की स्थिति को सुढूढ़ बनाये रखने के उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर रूस को भारी आर्थिक सहायता प्रदान की है।

राष्ट्रपति किलटन का मानना था कि रूस की आर्थिक स्थिति को सुधारना तथा येल्त्सिन के सुधारों को समर्थन देना अमरीका के अपने हित में है। उन्होंने कहा कि एक सशक्त तथा लोकतान्त्रिक रूस अमरीका के लिए लाभदायक है। राष्ट्रपति किलटन के अनुसार येल्त्सिन को हटाए जाने से रूस में उदारवादी मुक्त बाजार समर्थक अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी और यह पश्चिमी जगत की कूटनीति एवं आर्थिक पराजय होगी। इस तरह से अमरीका रूस में येल्त्सिन के नेतृत्व को समर्थन प्रदान करता रहा।

19.13.2 किलटन और यूरोप- नबे के दशक से यूरोप नई करवट ले रहा है। यूरोप आर्थिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण और एकीकरण दी दिशा में आगे बढ़ रहा है। सन् 1990 से यूरोप में एक के बाद एक क्रान्तिकारी घटनाएँ घटित हुईं। इनमें जर्मनी का एकीकरण, पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद का अवसान, सोवियत संघ का विघटन तथा शीत युद्ध की समाप्ति, पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतान्त्रिक शासन का अभ्युदय, यूगोस्लाविया का विघटन, वारसा संधि संगठन की समाप्ति, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया का विभाजन, यूगोस्लाविया से अलग हुए गणराज्यों का अशान्त क्षेत्र बने रहना, संगठन के अस्तित्व के बावजूद उसकी परिवर्तित भूमिका तथा माशट्रिट सन्धि के अनुमोदन के बाद यूरोपीय एकीकरण की नवीन सम्भावनाओं ने यूरोपीय राजनीति में नई सम्भावना तथा प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। संयुक्त राज्य अमरीका यूरोप में होने वाले इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में अपनी विदेश नीति के आयाम निर्धारित करता रहा। अमरीका ने यूरोपीय एकीकरण के इन सभी प्रयासों का समर्थन किया है।

19.13.3 किंलटन और नाफ्टा- नाफ्टा तथा उत्तरी अमरीका मुक्त व्यापार समझौता के निर्माण में किंलटन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस समझौते में अमरीका, कनाडा तथा मैक्सिको जैसे तीन देश सम्मिलित हैं। इस समझौते से अमरीका को अत्यधिक आर्थिक लाभ होने लगा। नाफ्टा लागू होने के बाद मैक्सिको जाने वाला 65 प्रतिशत अमरीकी माल बिना आयात शुल्क अदा किए मैक्सिको के बाजारों में बिक सकेगा। इसके अलावा अमरीकी पूँजी निवेश पर क्रमशः सभी प्रतिबन्ध हट जाएंगे।

19.13.4 नाटो का विस्तार- शीत युद्ध के समय उत्तर अटलाइटिक संघि संगठन (नाटो) की स्थापना की गई। इस संगठन की स्थापना के पीछे सोवियत संघ से पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों की सुरक्षा करना था। संयुक्त राज्य अमेरिका का इस संगठन पर वर्चस्व बना रहा। सोवियत संघ के विघटन, पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के अवसान तथा वारसा संघि संगठन की समाप्ति ने स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया। अब यूरोप में सहयोग का बाबजूद भी नाटो का अस्तित्व बराबर बना हुआ है। 1994 के नाटो के ब्रूसेल्स शिखर सम्मेलन में राष्ट्रपति किंलटन ने “शांति के लिए भागीदारी” योजना के महत्व को पुनः दोहराया। राष्ट्रपति किंलटन की पहल पर रूस ने पूर्वी यूरोप के देशों सहित नाटो में सम्मिलित होना स्वीकार किया तथा पूर्वी यूरोप के 18 देश “शान्ति के लिए भागीदारी” योजना में सम्मिलित हुए।

19.13.5 किंलटन और शस्त्र नियन्त्रण- शीत युद्धोत्तर काल में राष्ट्रपति किंलटन ने शस्त्रों की होड़ को अव्यावहारिक मानकर इनको समाप्त करने की दिशा में प्रयास प्रारम्भ किए हैं। इस क्षेत्र में उनकी प्राथमिकता परम्परागत तथा आधुनिक हथियारों में कटौती तथा आणविक, जैविक तथा रासायनिक अस्त्रों पर रोक लगाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने रूस के साथ मिलकर कार्य करने का निश्चय किया।

जनवरी 1993 में हुई स्टार्ट-2 संधि को व्यवहारिक रूप में परिणित करने के लिए अमरीका ने रूस को सामरिक हथियार नष्ट करने के लिए आर्थिक सहायता देने का वादा किया। साथ ही बिल किंलटन ने रूस, यूक्रेन तथा बेलारूस के साथ परमाणु हथियारों को सीमित करने सम्बन्धी एक समझौते पर हस्ताक्षर किये।

19.13.6 किंलटन और साम्यवादी चीन- बिल किंलटन के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमरीका और जनवादी चीन के आपसी सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव का क्रम देखने को मिला है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा जनवादी चीन के बीच तीन मुख्य मुद्दों— चीन में मानवाधिकारों की दयनीय स्थिति, चीन द्वारा पाकिस्तान तथा अन्य देशों को प्रक्षेपास्त्र या प्रक्षेपास्त्र प्रौद्योगिकी की आपूर्ति करने तथा चीन द्वारा निरन्तर परमाणु विस्फोट करने पर विवाद बना रहा। अमरीका साम्यवादी चीन पर बराबर इस बात के लिए दबाव डालता रहा कि वह अपने देश में मानवाधिकारों की स्थिति को बेहतर बनाये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगस्त, 1993 में चीन द्वारा पाकिस्तान को एम-2 प्रक्षेपास्त्र के कलपुर्जों की आपूर्ति किए जाने के कारण अमरीका ने अपनी प्रक्षेपास्त्र प्रौद्योगिकी नियन्त्रण व्यवस्था के अन्तर्गत चीन तथा पाकिस्तान, दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे दोनों ही देशों के सम्बन्धों में गत्यावरोध गतिरोध उत्पन्न हो गया। यह गत्यावरोध 5 अक्टूबर, 1994 को जाकर तब समाप्त हुआ जबकि अमरीकी विदेश मंत्री वारेन क्रिस्टोफर तथा अमरीकी यात्रा पर आये चीनी विदेश मंत्री छियान छिनेन के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इस समझौते के अनुसार अमरीका चीन के खिलाफ लागू आर्थिक प्रतिबन्ध हटाने पर सहमत हो गया। दोनों देशों ने प्रक्षेपास्त्र अप्रसार और परमाणु अस्त्रों के निर्माण योग्य विखण्डनीय पदार्थ के उत्पादन पर रोक के लिए मिल-जुलकर काम करने पर भी सहमति व्यक्त की।

अमरीकी राष्ट्रपति किंलटन ने जुलाई, 1998 में चीन की यात्रा की। अपने भाषण में किंलटन ने कहा कि हम (अमरीका और चीन) टकराव की जगह सहयोग की नीति को महत्व देंगे। क्योंकि शायद उसने यह समझ लिया था कि आधुनिकीकरण तथा उदारवाद चीन में समय की मांग है तो साम्यवाद उसकी राजनीतिक पहचान एवं अस्तित्व की आधारशिला। इसीलिए किंलटन ने अपने दूसरे राष्ट्रपतित्व काल में पहले के विवादों को भुलाकर नए सिरे से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास प्रारम्भ किया था।

19.13.7 मानवाधिकारों की समर्थक नीति- मानवाधिकारों की सुरक्षा किंलटन की विदेश नीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। बिल किंलटन ने अपने चुनाव प्रचार के समय बार-बार इस बात को इंगित किया था कि वे लोकतन्त्र तथा मानवाधिकारों के संरक्षण की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे। उनका यह भी कहना था कि वे मानवाधिकारों का हनन करने वाले देशों को अलग-थलग करने का प्रयास करेंगे। इसीलिए उन्होंने समय-समय पर साम्यवादी चीन और म्यांमार के शासकों की मानवाधिकारों के हनन करने की नीति की कटु आलोचना की है। यह अमरीकी दबाव का ही परिणाम था कि म्यांमार के सैनिक शासकों को लोकतन्त्रवादी नेता ऑंग सान सू की को जेल से रिहा करना पड़ा।

19.13.8 एक ध्रुवीय विश्व की परिकल्पना- 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन के साथ 'द्विध्रुवीय विश्व' की अवधारणा समाप्त हुई और संयुक्त राज्य अमरीका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गया। बिल किंलटन अपने राष्ट्रपति पद के प्रथम कार्यकाल में भी इसी अवधारणा को पालते रहे कि अमरीका को विश्व की एक मात्र महाशक्ति होने के कारण विश्व राजनीति के निर्धारण, संचालन तथा नेतृत्व करने का अधिकार है। दूसरे शब्दों में, विश्व राजनीति पर सर्वोच्चता स्थापित करना अमरीकी विदेश नीति का लक्ष्य रहा।

19.13.9 संयुक्त राष्ट्र संघ पर वर्चस्व की नीति- संयुक्त राज्य अमरीका का संयुक्त राष्ट्र संघ पर पूर्ण नियन्त्रण है। जब संयुक्त राष्ट्र संघ के महसूचिव पद पर पुनः बुतरस घाली के निर्वाचन की बात उठी तो केवल अमरीकी नाराजगी के कारण उनका पुनर्निर्वाचन नहीं हो सका। संयुक्त राज्य अमरीका ने बुतरस घाली के खिलाफ बोटों का प्रयोग किया। संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान महासूचिव कोफी अन्नान के निर्वाचन में भी संयुक्त राज्य अमेरिका की अहम भूमिका रही। 8 फरवरी, 1997 को राष्ट्रपति बिल किंलटन ने अमरीकी कांग्रेस से संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास कार्यक्रम के लिए अमरीकी सहायता राशि में वृद्धि करने की अपील की ताकि यूरोप तथा विकासशील देशों की यह चिन्ता दूर हो सके कि वाशिंगटन इस संगठन को नजरन्दाज नहीं कर रहा है।

19.13.10 परमाणु अप्रसार एवं आणविक सर्वोच्चता स्थापित करने की नीति- बिल किंलटन के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमरीका उन देशों - भारत, पाकिस्तान और उत्तरी कोरिया पर ज़िन्होंने अभी तक आणविक अप्रसार सन्धि या व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं, पर दबाव डालकर हस्ताक्षर करवाना चाहता था। इसके लिए वह इन देशों को आर्थिक, तकनीकी और सैनिक सहायता बन्द करने की धमकी देता रहा है।

बिल किंलटन आणविक क्षेत्र में अमरीकी सर्वोच्चता को बनाये रखने के पक्षधर रहे। यों तो संयुक्त राज्य अमरीका निःशस्त्रीकरण की बात करता है, लेकिन व्यवहार में उसकी नीति पाखण्ड ही सिद्ध हुई है। व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद मई, 1997 के अन्तिम सप्ताह में विश्व के सामने यह रहस्य प्रकट हुआ कि अमरीका ने सुपर परमाणु हथियार बना लिये हैं। इस नये परमाणु बम से भूमिगत ठिकानों को ध्वस्त किया जा सकेगा। इसका एकमात्र लक्ष्य परमाणु क्षेत्र में सर्वोच्चता स्थापित करना था। इससे व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि की खिल्ली उड़ी है अर्थात् अमरीका के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का कोई महत्व नहीं रहा।

बिल किंलटन अरब- इजरायल समस्या को सुलझाना चाहते थे। वे उन देशों पर दबाव डालते रहे जो परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने के इच्छुक नहीं थे जहां तक मानवाधिकारों को बात है कि बिंलटन इसे लागू करने के लिए काफी उत्सुक और चिन्तित रहे।

19.14 राष्ट्रपति जॉर्ज बुश और अमरीकी विदेश नीति- जनवरी, 2001 में राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू. बुश ने सत्ता संभालते ही विदेश नीति के क्षेत्र में आक्रामक रूख अपनाने के संकेत दिए। इसकी शुरूआत खाड़ी युद्ध के समय सेनाध्यक्ष रहे जनरल कोलिन पावेल को विदेश मंत्री बनाने के साथ ही हो गई थी।

राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू. बुश की विदेश नीति के प्रमुख सीमा चिह्न निम्नलिखित रूप से हैं -

19.14.1. अमरीका और रूस - बुश के कार्यकाल के प्रारम्भिक 6-7 महिनों में रूस के साथ अमेरिका के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। मार्च 2001 में दोनों देशों ने जासूसी के आरोप में एक दूसरे के दर्जनों राजनयिकों को देश से निकाल दिया। उस दौरान रूसी राष्ट्रपति ब्लादीमिर के बयानों से भी लगा कि शीतयुद्ध काल के तनाव फिर से सतह पर आ सकते हैं। 24 मई, 2002 को अमेरिका के राष्ट्रपति पहली बार मास्को गए। स्वागत और विरोध के बीच बुश ने रूस के साथ मित्रता मजबूत करने के लिए परमाणु शस्त्रों में कटौती के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। 13 मई को परमाणु हथियारों में कटौती सन्धि की घोषणा करने के बाद राष्ट्रपति बुश ने कहा कि वह सन्धि शीतयुद्ध की विरासत को खत्म करेगी। सन्धि की शर्तों के अनुसार अमेरिका और सोवियत संघ दोनों मिलकर साढ़े चार हजार के करीब परमाणु हथियार कम करेंगे।

19.14.2 चीन अमेरिकी रिश्तों में तनाव- अप्रैल 2001 में चीन-अमेरिकी रिश्तों में शीतयुद्ध की सी स्थितियां उभरने लगीं। अमरीकी नौ सेना का तथाकथित टोही विमान चीन की सीमा में घुस गया तथा वह उसके युद्धक जेट विमान से टकरा गया। अमेरिकी टोही विमान को चीन ने अपने हैमान द्वाप के सैनिक अड्डे पर जबर्दस्ती उतार लिया। चीन ने इसे अमरीका की आक्रामक कार्रवाई माना। इस घटना ने दोनों देशों के बीच कूटनीतिक संकट पैदा उत्पन्न कर दिया। चीन यह हठ करने लगा कि अमेरिका इसके लिए उससे क्षमा मांगे और ऐसा करने के बाद ही अमेरिकी चालक दल रिहा हुआ।

अमेरिका और चीन के महत्वाकांक्षी अन्तरिक्ष कार्यक्रमों की घोषणा के बाद से दोनों देशों के मध्य एक खर्चाली और खतरनाक अन्तरिक्ष होड़ शुरू हो चुकी है और दोनों देश प्रतिस्पर्धात्मक मुद्रा में आ गए हैं।

19.14.3 अमरीका और भारत - जार्ज डब्ल्यू बुश के प्रशासन में सामरिक दृष्टि से भारत को अधिक महत्व दिया जा रहा है तथा भारत से रक्षा सहित अन्य क्षेत्रों में सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया गया। भारत तथा अमरीका के बीच परमाणु समझौते पर हस्ताक्षर हुए। डॉ. मनमोहन सिंह की अमरीकी यात्रा में दोनों देशों के संबंध सुदृढ़ हुए।

19.14.4 तालिबान के विरुद्ध अमरीकी सैन्य कार्यवाही न्यूयार्क एवं वाशिंगटन में 11 सितम्बर, 2001 को हुए आतंकी हमलों के प्रत्युतर में अमरीका द्वारा 7 अक्टूबर 2001 से अफगानिस्तान में सैन्य कार्यवाही प्रारम्भ की गई। सैन्य कार्यवाही उस समय प्रारम्भ की गई जब तमाम अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के बावजूद आतंकवादी सरगना ओसामा बिन लादेन को अमरीका को सौंपने के लिए तालिबान प्रशासन तैयार नहीं हुआ। अफगानिस्तान में तालिबान नियन्त्रित ठिकानों पर हमलों से पूर्व अमरीका ने विश्व के अधिकांश राष्ट्रों का कूटनीतिक समर्थन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अमरीकी सैन्य कार्यवाही का समर्थन करने वाले राष्ट्रों में वे तीनों राष्ट्र, पाकिस्तान, सऊदी अरब व संयुक्त अरब अमीरात भी शामिल थे जिनके तालिबान सरकार से राजनयिक सम्बन्ध थे। अमरीकी सैन्य कार्यवाही में तालिबानी ठिकाने जहां ध्वस्त हुए वहीं कार्यवाही के मुख्य लक्ष्य ओसामा बिन लादेन तथा तालिबानों के प्रमुख मुख्य मोहम्मद उमर बच निकले। तालिबान शासन का अन्त हुआ, तथा अमरीका समर्थित हमिद कारजई के नेतृत्व वाली सरकार सत्ता में है।

19.14.5 इराक पर आक्रमण- मार्च, 2003 में अमरीका ने राष्ट्रपति बुश की पहल पर इराक के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। युद्ध का मानस बना चुका अमरीका इराक पर हमले के लिए ज्यादा समर्थन नहीं जुटा सका। गत दशक के शुरू में हुए खाड़ी युद्ध में संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव में इराक को स्पष्ट अल्टीमेटम दिया गया था, किन्तु इस बार संयुक्त राष्ट्र के अप्रासंगिक हो जाने की धमकी भी काम नहीं आई। सुरक्षा परिषद् में कई राष्ट्रों की वीटो की धमकी को देख उसकी बैठक का सामना न करना ही अमरीका ने बेहतर समझा। तमाम प्रयासों के बावजूद अमरीका सुरक्षा परिषद् को साथ नहीं ले पाया।

20 मार्च, 2003 को शुरू किए गए 'ऑपरेशन इराकी फ्रीडम' मिशन के तहत 26 दिन के इस युद्ध के बाद अमरीकी सेना ने इराक पर कब्ज़ा कर लिया। 22 मई, 2003 को सुरक्षा परिषद् ने अमरीका न ब्रिटेन को इराक का शासन नलाने और उसका तेल बेनने के अधिकार प्रदान कर दिए। सदाम हुसैन के शासन का अन्त हुआ, तथा उन्हें फांसी दे दी गई है।

19.14.6 नाटो के बाहर पाकिस्तान मुख्य सैन्य सहयोगी- मार्च, 2004 में अमरीका ने पाकिस्तान के साथ अपनी मित्रता को और सुदृढ़ करते हुए घोषणा की कि वह उसे 'प्रमुख गैर नाटो सहयोगी' का दर्जा देगा। प्रमुख गैर नाटो सहयोगी का दर्जा मिलने के बाद पाकिस्तान और अमरीका के बीच सैन्य सहयोग बढ़ेगा। नए दर्जे के बाद पाकिस्तान नाटो से बाहर के उन गिने-चुने देशों में शामिल हो जाएगा जिन्हें सैन्य मोर्चे पर अमरीका प्रार्थमिकता देता है।

19.14.7 सीरिया के विरुद्ध अमरीकी प्रतिबन्ध- 11 मई, 2004 को आतंकवाद को समर्थन प्रदान करने तथा व्यापक विनाश के हथियारों को प्राप्त करने का आरोप लगाते हुए अमरीका ने सीरिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध आरोपित करने की घोषणा की। इन प्रतिबन्धों के चलते अमरीकी उत्पाद सीरिया को निर्यात नहीं किए जा सकेंगे।

संक्षेप में राष्ट्रीय सुरक्षा प्रणाली, तालिबान के विरुद्ध सफल अमरीकी सैन्य कार्यवाही, भारत एवं पाकिस्तान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों को हटाना, पाकिस्तान को प्रमुख गैर नाटो सहयोगी का दर्जा देना, सीरिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध आदि जार्ज बाकर बुश की विदेश नीति के प्रमुख सीमा चिह्न हैं।

19.15 संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति की आधुनिक प्रवृत्तियां

अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन से लेकर जॉर्ज डब्ल्यू बुश तक की अमरीकी विदेश नीति का विस्तार से विश्लेषण किये जाने पर अमरीकी विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तों और लक्ष्यों के बारे में उद्देश्यपरक विवेचन किया जा सकता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमरीकी विदेश नीति का वास्तविक उद्देश्य समूचे विश्व पर अपना सामरिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रभुत्व स्थापित करना है। इसके लिए अमरीका ने निम्नलिखित मार्ग अपनाएं हैं-

19.15.1 अमरीकी परम्परा व समसामयिक परिवर्तन- 1776 ई. में संयुक्त राज्य अमरीका को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के बाद अमरीका ने लोकतन्त्र को अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया। अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन है। इस व्यवस्था में व्यक्ति-स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इस शासन व्यवस्था ने देश की विदेश नीति के स्वरूप और लक्ष्यों को प्रभावित किया है, अतः अमरीकी विदेश नीति का लक्ष्य साम्यवाद का अवरोध, पाश्चात्य यूरोप के लोकतान्त्रिक राष्ट्रों के साथ सहयोग करने, विश्व में लोकतान्त्रिक शक्तियों को सशक्त करने, मानवाधिकारों की सुरक्षा करने, लोकतन्त्र की रक्षा के नाम पर हस्तक्षेप की कूटनीति का सहारा लेने तथा लोकतान्त्रिक गुट का नेतृत्व करना इत्यादि बन गया। संयुक्त राज्य अमरीका एक पूँजीवादी देश है, अतः अमरीकी राष्ट्रपतियों ने अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते समय देश के पूँजीपति स्वरूप को केन्द्र-बिन्दु बनाया। सभी राष्ट्रपतियों की कार्यशैली ने अमरीका के “पूँजीवादी व्यक्तित्व” को निखारा है।

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति को प्रभावित करने में सम-सामयिक परिवर्तनों की अहम् भूमिका रही। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व विश्व राजनीति में अमरीका की सीमित भूमिका थी। वह विश्व-राजनीति में “अलगाववादी नीति” का अनुसरण करता था, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद घटित हुए परिवर्तनों ने अमरीका को अपनी विदेश नीति में आधारभूत परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया। अब अमरीका विश्व की एक महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया, अतः महाशक्ति के रूप में अमरीका खुलकर विश्व राजनीति में भाग लेने लगा। सोवियत संघ के महाशक्ति के रूप में अभ्युदय ने विश्व-राजनीति के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन ला दिया। इससे विश्व में ‘द्वि-ध्रुवीय राजनीति’ और ‘शीत युद्ध की राजनीति’ का विकास हुआ। इस नवीन परिवेश में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति में परिवर्तन हुए और उसने शीत युद्ध में साम्यवाद के अवरोध, सैनिक अड्डों की स्थापना तथा सोवियत संघ के प्रभुत्व को रोकने के लिए ‘सहायता की कूटनीति’ का सहारा लिया। 1991 में सोवियत संघ के विघटन से शीत युद्ध की समाप्ति हुई। इसमें संयुक्त राज्य अमरीका विजयी रहा और ‘एक ध्रुवीय विश्व’ की अवधारणा ज्ञ अभ्युदय हुआ। वर्तमान में यह ‘विश्व पुलिस मैन’ की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

19.15.2 गठबन्धनों की कूटनीति- संयुक्त राज्य अमरीका ने शीत युद्ध के समय अपनी सामरिक शक्ति में वृद्धि करने हेतु विभिन्न “सैनिक गठबन्धनों” का निर्माण किया। उसने यूरोप, एशिया, पूर्वोत्तर अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका पर सोवियत संघ के विस्तार को रोकने के लिए विभिन्न सैनिक गठबन्धनों का निर्माण किया। नाटो, सीएटो, सेण्टो तथा एन्जुस जैसे गठबन्धनों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु सोवियत संघ के विघटन के बाद इन सैनिक गठबन्धनों की उपयोगिता और सार्थकता के आगे प्रश्न चिह्न लग गया है।

19.15.3 सामरिक शक्ति के विकास की नीति- अमरीका अतुलनीय सामरिक शक्ति से सम्पन्न है। अपने परमाणु आयुधों को अमरीका ने विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित कर रखा है। उसने यूरोप और पूर्वोत्तर अफ्रीका पर साम्यवादी विस्तार रोकने के लिए अटलांटिक महासागर एवं भूमध्य सागर में अपने नौसैनिक बेड़े स्थापित किए हैं। इस क्षेत्र में अमरीकी हितों को संरक्षण देने के लिए मिस्र, सोमालिया, इजरायल, जोर्डन आदि राष्ट्रों में उसके सैनिक अड्डे हैं। उसने इजरायल से नई सैनिक संधि करके वहां आधुनिक आयुधों का भण्डार बनाने की सुविधा प्राप्त कर ली है और वह इस क्षेत्र पर निरन्तर निगरानी रखता है। पश्चिमी एशिया और उत्तरी एवं पूर्वी अफ्रीका के देश अमरीका के लिए कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र के तेल पर अमरीका तथा पश्चिमी जगत के अन्य देशों की निर्भरता है। दूसरी ओर, यह क्षेत्र हिन्द महासागर एवं अटलांटिक महासागर को जोड़ता है। हिन्द महासागर में स्थित अमरीका के डियगो गार्सिया नौ-सैनिक अड्डे तक जाने का मार्ग यहाँ से है। अमरीका नाटो संधि द्वारा पश्चिमी यूरोप से जुड़ा हुआ है। जर्मनी व तुर्की के अड्डे तो अमरीकी शक्ति के प्रतीक हैं, इनके अतिरिक्त ब्रिटेन, इटली, यूनान, नीदरलैण्ड, ग्रीनलैण्ड आदि मैं अमरीकी आयुध विद्यमान हैं। अमरीका का सातवाँ नौ सैनिक बेड़ा प्रशान्त महासागर में है। परमाणु शस्त्रों से युक्त वह बेड़ा सम्पूर्ण पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर में अमरीकी हितों का संरक्षक है।

19.15.4 संयुक्त राज्य अमरीका के पूँजीवादी व्यक्तित्व का अनुरक्षण- संयुक्त राज्य अमरीका के विभिन्न राष्ट्रपतियों ने अपनी नीतियों से देश के “पूँजीवादी व्यक्तित्व” का अनुरक्षण किया है। वर्तमान में अमरीकी विदेश नीति इसके “पूँजीवादी व्यक्तित्व” की सुरक्षा करने की दिशा में कृत-संकल्प है। वह पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में ‘संरक्षणवाद की नीति’ पर चल रहा है। विकासशील राष्ट्र अमरीकी बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण के शिकार बन रहे हैं।

19.15.5 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर नियन्त्रण- संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में अमरीका का महत्वपूर्ण योगदान रहा है और उससे सम्बद्ध महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय के विकास में उसका सहयोग, उल्लेखनीय रहा है। दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र संघ की विफलता के लिए अमरीका कम उत्तरदायी नहीं है। सोवियत संघ कई दृष्टियों से संयुक्त राष्ट्र संघ को उस तरह प्रभावित नहीं कर सकता जिस रूप में अमरीका कर सका। अतः प्रायः अमरीका की इच्छानुसार संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित संगठन संचालित होते हैं। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, विश्व खाद्य संगठन, यूनीसेफ, यूनिडो, यूनेस्को आदि को अमरीका सर्वाधिक प्रभावित करता है। सोवियत संघ के विघटन के बाद संयुक्त राष्ट्र अमरीका का संयुक्त राष्ट्र संघ पर पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो गया है।

19.15.6 राष्ट्रीय हित सर्वोपरि- विश्व के सभी देश अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए अन्य देशों में जासूसी करते हैं, लेकिन अमरीका की सैन्ट्रल इंटेलीजेंस ऐजेंसी (सी.आई.ए.) विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में शासकों की हत्याएँ कराने, सरकारों उलटने तथा आतंकवादी गतिविधियों के माध्यम से अमरीकी हितों की रक्षा के लिए अमानवीय हथकण्डे अपनाने के लिए कुख्यात है। अमरीका उपग्रहों के माध्यम से जासूसी करता है। कभी-कभी शिक्षा, पर्यटन, धर्म-आदि का सहारा लेकर सी.आई.ए. दूसरे देशों में अपना जाल फैला लेती है।

19.15.7 वैदेशिक सहायता का उदारीकरण- शीत युद्ध के दिनों में संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने सोवियत प्रभाव को रोकने के लिए तृतीय विश्व के देशों को प्रचुर मात्रा में सैनिक, आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान की है। अनेक अवसरों पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अन्य देशों को सहायता देते समय अनेक शर्तें भी आरोपित की हैं। वर्तमान में अमरीका वैदेशिक सहायता प्रदान करते समय उदारता से कार्य कर रहा है, लेकिन वह ऐसा करते समय मानवाधिकारों का संरक्षण करने, आतंकवाद का समर्थन नहीं करने तथा आणविक अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने जैसी शर्तें रख देता है।

19.15.8 मानवाधिकारों की कूटनीति- बिल किंलटन ने अपनी विदेश नीति में 'मानवाधिकारों' को बहुत अधिक महत्व दिया है। बिंलटन ने अपनी पूरी एशिया-नीति को मानवाधिकार-कूटनीति से जोड़ दिया है। मानवाधिकारों के नाम पर आर्थिक व सामरिक शक्ति बना हुआ अमरीका विश्व को नैतिक शक्ति होने का आहसास करवाना चाहता है। जॉर्ज बुश भी मानवाधिकारों की नीति का महाग ले रहे हैं।

19.15.9 हस्तक्षेप की नीति- संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने लोकतन्त्र बहाली के नाम पर अनेकों देशों में हस्तक्षेप किया है। अमरीका ने पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मध्य और दक्षिण अमरीकी देशों में कानून व्यवस्था और लोकतन्त्र की बहाली तथा अमरीकी नागरिकों के हितों के नाम पर 60 से अधिक बार दखल दिया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमरीका ने अपने आस-पास हस्तक्षेप के क्रम को अनवरत् जारी रखने द्वारा 1983 में ग्रेनेडा में और 1989 में पनामा में दखल दिया। अमरीका हैती में पहले भी हस्तक्षेप दे चुका है। हाल ही में अफगानिस्तान और इराक में हस्तक्षेप इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है।

19.15.10 आतंकवाद का विरोध- संयुक्त राष्ट्र अमरीका सभी स्तरों पर अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का विरोध करता है। वह आतंकवाद का समर्थन करने वाले देशों के प्रति कठोर रूख अपना रहा है और उनकी सम्पत्ति को जब्त करने तथा उन्हें आर्थिक सहायता से बचित करने की नीति पर चल रहा है। जॉर्ज बुश आतंकवाद के नाम पर सम्पूर्ण विश्व में इसके विरुद्ध मोर्चा बनाने की वकलता करते हैं।

19.16 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने से लेकर वर्तमान में शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तक अमरीका ने स्वयं को बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में एक महाशक्ति बनाए रखने का प्रयास किया है। बदलते हुए विश्व परिप्रेक्ष्य में उसकी विदेश नीति में भी अनेक परिवर्तन आए हैं तथा उसे, अन्य देशों की भाँति, समय के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी विदेश नीति को समय-समय पर पुनः परिभाषित भी करना पड़ा है।

1945 के प्रारम्भ में जहाँ अमरीका ने "अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस मैन" की भूमिका निभाते हुए साम्यवाद का अवरोध करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी, जिसके कारण तृतीय विश्व के देशों में वह प्रतिक्रियावादी, यथास्थितिवादी तथा साम्राज्यवाद और

उपनिवेशवाद के समर्थक के रूप में जाना गया तो अनेक जगह उसने साम्यवाद को बड़ा खतरा मानते हुए उसके विरुद्ध अधिनायकों तथा सैनिक तानाशाहों का भी समर्थन किया। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उसे वियतनाम से उलझना पड़ा, जिसे राष्ट्रपति कार्टर ने “बौद्धिक तथा नैतिक गरीबी” का श्रेष्ठ उदाहरण कहा। उसने चीन तथा निकारागुआ की क्रान्तियों का विरोध भी साम्यवाद के अवरोध के लिए ही किया और एशिया तथा अफ्रीका में अपने अनेक विरोधी बना लिए। उसे यह समझने में अत्यधिक समय लग गया कि तृतीय विश्व के साम्यवादी देशों में विचारधारा के अतिरिक्त उनकी अपनी राष्ट्रवादी भावनाएँ भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, अतः मात्र विचारधारा के आधार पर ही इन देशों का विरोध नहीं किया जाना चाहिए। उसे वियतनाम में शर्मनाक पराजय का सामना करना पड़ा तो अफगानिस्तान में उसकी उपेक्षा से तथा अकर्मण्यता से संकट लम्बा खिंच गया। ईरान ने पुनः उसकी प्रतिष्ठा को हानि पहुँचायी तो भारत जैसा बड़ा तथा महत्वपूर्ण एशियाई देश उसका समर्थक नहीं बन सका, किन्तु इन सब समस्याओं का परिणाम यह हुआ कि अमरीका की विदेश नीति अधिक यथार्थवादी बन गयी।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में संयुक्त राज्य विश्व की एक मात्र महानतम शक्ति है। अपनी विशाल आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमरीका ने अपने लिए एक विशाल प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमें वह काफी हद तक सफल हुआ है। अमरीका इस बात से परिचित है कि वर्तमान युग में युद्ध पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नहीं किया जा सकता, किन्तु वह अपने आर्थिक साम्राज्य और सैनिक सन्धियों के नाम पर अपना प्रभुत्व शोषण कर रहा है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अमरीकी विदेश नीति की वर्तमान प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।
2. अमरीका की विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
3. राष्ट्रपति जार्ज बुश की विदेश नीति के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए।
4. “संयुक्त राज्य अमरीका के तृतीय विश्व से सम्बन्ध शोषण और प्रभुत्व के अतिरिक्त और किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है।” क्या आप इस कथन से सहमत हैं? समझाइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमरीका तथा साम्यवादी चीन के सम्बन्धों का विश्लेषण कीजिए।
2. अमरीका की दक्षिण एशिया के साथ सम्बन्धों का मूल्यांकन कीजिए।
3. टिप्पणियाँ लिखिए –
 - मुनरो सिद्धान्त ○ ट्रूमैन सिद्धान्त ○ मार्शल योजना

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नाटो का पूरा नाम क्या है?
2. किस अमरीकी राष्ट्रपति ने चीन को मान्यता प्रदान की तथा कब?
3. एन्जूस संधि में कौन से देश सम्मिलित हैं?
4. किस राष्ट्रपति ने 1962 में क्यूबा की नाकाबन्दी करने की घोषणा की?

इकाई-20

चीन की विदेश नीति

संरचना

- 20.0 उद्देश्य
- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 चीनी विदेश नीति के निर्धारक तत्व
 - 20.2.1 राष्ट्रीय कारक
 - 20.2.2 भौतिक तत्व
 - 20.2.3 ऐतिहासिक तत्व
 - 20.2.4 वैचारिक तत्व
 - 20.2.5 जनसंख्या का तत्व
- 20.3 चीनी विदेश नीति के साधन
 - 20.3.1 युद्ध एवं हिंसा
 - 20.3.2 लम्बे संघर्ष की योजना
 - 20.3.3 साम्यवादी प्रचार
 - 20.3.4 सैनिक सहायता कार्यक्रम
 - 20.3.5 दोहरी नीति
- 20.4 चीनी विदेश नीति : विकास के चरण
 - 20.4.1 उग्र नीति का युग 1949-53
 - 20.4.2 शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति 1954-57
 - 20.4.3 नयी आक्रामक युद्धलादी नीति 1957-69
 - 20.4.4 सहयोग एवं मैट्री की कूटनीति 1970-81
 - 20.4.5 आधुनिकता की नीति 1981 से वर्तमान तक
- 20.5 चीनी विदेश नीति का प्रमुख विशेषता
 - 20.5.1 आक्रामकता की नीति
 - 20.5.2 चारा और छड़ी की नीति
 - 20.5.3 सैनिक शक्ति एवं उसका विस्तार
 - 20.5.4 विस्तारवादी नीति
 - 20.5.5 प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा
 - 20.5.6 साम्यवाद का समर्थन, साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार तथा साम्यवादी जगत का नेतृत्व।
- 20.6 चीन की विदेश नीति का वर्तमान स्वरूप

- 20.6.1 एकध्रुवीय विश्व में अविश्वास
 - 20.6.2 अमरीका से बराबरी
 - 20.6.3 शस्त्र - व्यापार को बढ़ावा देना
 - 20.6.4 कूटनीतिक दग्गाबाजी और विस्तारवादी नीति
- 20.7 सारांश

20.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत चीन की विदेश नीति के बदलते आयामों का उल्लेख किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- चीनी विदेश नीति के विकासात्मक चरणों को समझ सकेंगे,
- चीनी विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- नई विश्व व्यवस्था में चीनी स्थिति की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर चीन की भूमिका क्या रही है, उसे समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व चीन “द्वितीय श्रेणी” की शक्ति था। उसे ‘एशिया का रोगी’ की संज्ञा दी जाती थी। ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका, जर्मनी जैसी यूरोपीय महाशक्तियों और जापान जैसी पूर्वी शक्ति ने उसका सदैव आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया था। अतः उसे ‘पूर्व के तरबूज’ की संज्ञा दी जाती थी। परन्तु वही चीन जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ‘रोगी’, ‘तरबूज’ के नाम से जाना जाता था। 1 अक्टूबर, 1949 की साम्यवादी क्रान्ति के बाद विश्व राजनीति में एक महाशक्ति के रूप में चीन का उदय हुआ। 1964 के परमाणु विस्फोट तथा 1970 के प्रक्षेपास्त्रों और स्वचालित परमाणु प्रक्षेपास्त्रों के सफल परीक्षण के बाद विश्व की तृतीय महाशक्ति बन गया। चीन की बढ़ती हुई शक्ति जान है के उस कथन को सही साबित करती है जिसमें उन्होंने कहा था कि “विश्व की शान्ति चीन पर निर्भर करती है और जो कोई चीन को समझ सके उसी के हाथ में आगामी पाँच शताब्दियों तक विश्व की राजनीति की कुन्जी होगी।” 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीन के सम्बन्ध में एक चेतावनी देते हुए नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था, “वहाँ एक दैत्य सो रहा है। उसको सोने दो, क्योंकि जब वह उठेगा तो दुनिया को हिला देगा।” यह सब सच के रूप में परिवर्तित भी हुआ। वर्तमान समय में चीन की कूटनीति रूस और अमरीका को ही नहीं अपितु विश्व के अन्य दूर और पड़ोसी सभी देशों को चिन्तित किए हुए हैं।

20.2 चीनी विदेश नीति के निर्णायक तत्त्व

इतिहास, भूगोल एवं मनवैज्ञानिक तत्त्वों के अलावा चीन की विदेश नीति में विचारधारा का प्रमुख स्थान है। मार्क्स से माओ की विचारधाराओं में नीति को निर्धारित करने वाले उद्देश्य, साध्य एवं उपायों का वर्णन पढ़ने को मिलेगा। लेकिन इन आधारभूत तत्त्वों के अलावा भी चीन की विदेश नीति, संगठनात्मक भूमिकाओं, उत्तरदायित्वों जैसे कूटनीति एवं बाह्य देशों में क्रान्तिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहन देना इत्यादि बातों से प्रभावित हुई है। इसके अतिरिक्त विदेश नीति पर व्यक्तित्व-प्रभाव भी देखने को मिलता है। जिनमें माओत्से तुंग, चाऊ-ई-लाई तथा टेंग शियाओ चेंग प्रमुख हैं।

20.2.1 राष्ट्रीय कारक- जनवादी चीन की विदेश नीति के निर्धारण में राष्ट्रीय कारक प्रमुख रहे हैं। उसकी विदेश नीति राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत है। साम्यवादी चीन को अपने देश की प्राचीन सभ्यता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर गर्व है। जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए वह हर बलिदान के लिए तैयार है। माओ ने 1949 में कहा था –

“हमारा राष्ट्र अब कभी भी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।” उग्र राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत होने के कारण ही जनवादी चीन शक्तिशाली राष्ट्र बन सका है।

20.2.2 भौतिक तत्त्व- चीन विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश है, जिसकी जनसंख्या लगभग 15 लाख मिलियन के लगभग है। भौगोलिक दृष्टि से यह चारों ओर फैला हुआ है। दक्षिण एशिया, दक्षिण पूर्वी एशिया, पूर्वी जापान और रूस के साथ उसकी भौगोलिक सीमाएँ लगी हुई हैं। जोन आई सेक ने अपनी पुस्तक “चाईनाम ऊ टीन” में लिखा है कि “राष्ट्र के अस्तित्व के लिए भौगोलिक स्थान आवश्यक है एवं चीनी राज्य के लिए अपनी राष्ट्र सुरक्षा और अस्तित्व के लिए प्रदेश या राज्य क्षेत्र का होना आवश्यक है। 1840 में चीन की 10 मिलियन वर्ग किलोमीटर भूमि थी जिसके टुकड़े होने का अर्थ, राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रत्यक्ष चुनौती एवं उसकी राष्ट्रीय संस्कृति का पतन है। च्यांग काई शेक ने आगे लिखा है कि जब तक चीन अपने हारे हुए क्षेत्र वापिस नहीं लेता तब तक चीनी वासी परिवर्तनों का ठीक उपयोग नहीं करेंगे, क्योंकि अन्यथा चीन के सम्मान पर बहुत बड़ा धब्बा होगा।” उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि चीन की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य अपनी खोई भूमि को पुनः प्राप्त करना है, जिसके लिए चीन कूटनीति, युद्ध तथा सर्वर्ष की नीति को काम में ले रहा है।

20.2.3 ऐतिहासिक तत्त्व- साम्यवादी चीन की विदेश नीति को प्रभावित करने में इस देश के प्राचीन इतिहास और उसकी परम्पराओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। चीन के प्रांत क्वांगदुग और क्वांगसि के वायसराय लिसीयाओं ने विदेशियों पर नियंत्रण रखने के लिए चेतावनी दी। उन्हीं के शब्दों में “मेरा यह अभिमत है कि जब असंस्कृत, जो चीन की सीमाओं के पार रहते हैं, यदि वे हमारे देश में व्यापार के लिए आते हैं तो उन्हें व्यापारिक प्रयोजनों के अतिरिक्त चीनी जनता के साथ संबंध स्थापित नहीं करने चाहिये। मांचू राजवंश के पतन के बाद वहाँ जो गढ़बड़ी उत्पन्न हुई थी उसके लिए च्यांगकाई शेक ने “साम्राज्यवादियों की गुप्त गतिविधियों को ही दोषी ठहराया था।” वास्तव में देखा जाए तो च्यांगकाई शेक ने साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते के पीछे असमान संदेहों को उत्तरदायी ठहराया है, जिसने “हमारे राष्ट्रीयता को खोया, प्रतिष्ठा को खोया, परिवार, ग्राम एवं समुद्राय का पारस्परिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हुआ। पारस्परिक सहायता के स्थान पर प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिबद्धता ने स्थान लिया। जन योजना की उपेक्षा की गई एवं किसी ने भी जन मामलों में अभिसूचि नहीं ली।” यद्यपि यह ऐतिहासिक तथ्य राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित नहीं करते, महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति किस तरीके से तथ्यों को देखते हैं। इससे यह भी अर्थ निकाला जाता है कि चीन के उद्गेग या मनोवेग चीन की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है।

20.2.4 वैचारिक तत्त्व- 1945 में माओ ने यह घोषणा की थी कि चीन की साम्यवादी पार्टी शुरूआत से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है क्योंकि मार्क्सवाद विश्व सर्वहार वर्ग का क्रान्तिकारी वैज्ञानिक चिन्तन है। इसका चीनी विचारधारा पर बड़ा प्रभाव है एवं इसके आधार पर इन्होंने साम्यवादी विचारधारा को विश्व में आगे बढ़ाया है एवं जहाँ-जहाँ पर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन चल रहे हैं उनको नैतिक समर्थन भी देता आ रहा है। चार प्रकार की विचारधारा का चीनी विदेश नीति पर प्रभाव पड़ा है: (1) कन्फूशियस की विचारधारा (2) सनयात्सेन की विचारधारा, (3) मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रभाव, (4) माओवाद का प्रभाव। उपर्युक्त मूल विचारधाराओं को चीन ने एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया था। माओ युग की समाप्ति के बाद सत्ता में आये टेंग शियाओं पेंग की विचारधारा का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

20.2.5 जनसंख्या का तत्त्व- चीन की विदेश नीति के निर्धारण में जनसंख्या का तत्त्व भी प्रभावशाली रहा। चीन की जनसंख्या विश्व के राष्ट्रों में सबसे अधिक है। चीन में जनसंख्या का विस्तार विस्फोटक गति से हुआ। इस मानव शक्ति के कारण ही माओ युद्ध पर अधिक जोर देते थे। वैसे भी चीन ने युद्धों में विजय चीनी जनसंख्या के कारण ही प्राप्त की थी। चीन में सबसे अधिक मजदूर वर्ग है, जो वहाँ की 94 प्रतिशत जनसंख्या है। जनसंख्या की नीति के आधार पर चीन ने राष्ट्रीय कार्यक्रम चलाये। मंगोलिया में सबसे अधिक जनसंख्या चीनी है। चीनी जनता में परम्परागत तत्त्व आज भी पाये जाते हैं।

20.3 चीनी विदेश-नीति के साधन

साम्यवादी चीन विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक रहा है। जिस किसी भी भू-भाग पर उसका कभी अस्थायी या नाममात्र का भी अधिकार रहा था, उसे वर्तमान में वह अपना “खोया हुआ भाग” मानता है। चीन की विदेश नीति के साधन, नैतिक सीमाओं से सम्बद्ध नहीं हैं, अपने लक्ष्यों को पाने के लिए वह कोई भी साधन अपनाने में संकोच नहीं करता। इसमें प्रमुख सैनिक शक्ति का दबाव, राजनीतिक कार्य, कूटनीति, प्रचारात्मक, मनोवैज्ञानिक युद्ध, आर्थिक प्रतियोगिता और मूलोच्छेद है।

20.3.1 युद्ध एवं हिंसा- माओ का कहना था कि- “हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। युद्ध अनुचित होकर भी मार्कर्सवादी होने पर सर्वथा उचित हो जाता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति क्रान्ति के विरुद्ध तथा संशोधनवाद की प्रतीक है।” जनवादी चीन लम्बे समय तक युद्ध और हिंसा का समर्थन करता रहा।

20.3.2 लम्बे संघर्ष की योजना- चीन के अनुसार विश्व में साम्यवाद के प्रसार के लिए संघर्ष की योजना का अनुसरण करना होगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। लेकिन इसकी व्याख्या माओ की अपनी है। उसका मत था कि पूँजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय और साहस नहीं होता। अतः जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देखकर लम्बा संघर्ष छेड़ा जाएगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी राष्ट्रों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है, और राजनीति का अवलम्बन। इसलिए वे पूँजीवादी देशों में तोड़-फोड़ कर सकते हैं। लम्बे संघर्ष की योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और दूसरे देशों में साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है।

20.3.3 साम्यवादी प्रचार- माओ चीन की विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विश्व के सभी गैर-साम्यवादी देशों में विशेषकर एशिया और अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवादी प्रचार का समर्थक रहा है। माओ का कहना था कि विश्व के साम्यवादी आन्दोलन चीन को आदर्श मानकर सशस्त्र रूप धारण कर लेंगे। देंग शियाओं पेंग और उसके बाद के नेतृत्व की यह प्राथमिकता नहीं रही है।

20.3.4 सैनिक सहायता कार्यक्रम- साम्यवाद की स्थापना के लिए जनवादी चीन दूसरे देशों को सैनिक सहायता देने का पक्षधर है लेकिन उसे यह भरोसा होना चाहिए कि उस समय देश के लक्ष्य लगभग बही हैं जो स्वयं उसके तथा उसकी सहायता की प्रतिक्रिया स्वरूप यथासम्भव किसी बड़े देश का मुकाबला करना पड़े और सहायता से उसकी सुरक्षा को खतरा पहुँचाने की सम्भावना न हो।

20.3.5 दोहरी नीति- चीन की विदेश नीति पर विचारधारा और राष्ट्रीय हित, इन दो तत्त्वों का विशेष प्रभाव है जिनमें असन्तुलन पैदा हो जाने अथवा सामंजस्य न रहने पर जो नीति बन जाती है उसमें दोहरापन का आभास होता है। एक तरफ चीन सोवियत संघ को संशोधनवादी कहकर उसकी कटु आलोचना करता रहा, तो दूसरी ओर वह पूँजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका की तरफ मित्रता का हाथ बढ़ाता रहा। भारत के सम्बन्ध में भी चीन को दोहरेपन की नीति का आभास होता है। एक ओर तो वह भारत की भूमि दबाकर बैठा है और दूसरी ओर वह उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विविध समझौते कर रहा है।

20.4 चीनी विदेश नीति : विकास के चरण

साम्यवादी चीन की विदेश नीति पर टिप्पणी करते हुए डाक बार्नेट ने ठीक ही लिखा है कि- “पीकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी- चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धर्मकी और तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रण रहा है।” चीन अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तत्व पर तो कभी दूसरे तत्व पर विशेष बल देता रहा है। उसका मूलभूत उद्देश्य यही रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों को अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाकर उनका भरपूर लाभ उठाया जाए और अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए। इस दृष्टि से चीनी विदेश नीति को चार चरणों में विभाजित करके हम उसका अध्ययन कर सकते हैं :

20.4.1 उग्र नीति का युग (1949-53)- अक्टूबर, 1949 में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। दिसम्बर, 1949 में चीन ने सोवियत संघ से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। 1 फरवरी, 1950 में मित्रता सन्धि और पारस्परिक सहायता की चीन-सोवियत सन्धि सम्पन्न हुई। नवम्बर, 1950 में ट्रेड यूनियनों के विश्व संघ के तत्त्वावधान में पीकिंग में एशिया तथा अफ्रीका के देशों का ट्रेड यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में लिड. शाओ चीने ने यह घोषणा की कि “हमारे सम्मेलन को समूचे एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति के युद्धों का समर्थन करना चाहिए।” वियतनाम, बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, फिलिपाइन्स के मुक्ति संघर्षों का वर्णन करते हुए उसने कहा कि “चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का विकास किया जाना चाहिए।” 1949 में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर बल दिया- (1) चीन में से विदेशी प्रभाव को बिल्कुल समाप्त कर दिया

जाए, (2) चीन का एकीकरण करके सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन में लाया जाए। 1950 में चीन ने युद्ध विराम के सब प्रस्तावों को टुकराते हुए कोरिया युद्ध में बड़े उत्साह से भाग लिया। कोरिया पर आक्रमण के साथ ही चीन ने दूसरी शक्तियों के विरोध की परवाह न करते हुए तिब्बत में अपनी सेनाएं भेज दीं तथा 24 अक्टूबर, 1950 को पीकिंग रेडियो ने घोषणा की कि तिब्बत को मुक्त करने का आदेश दे दिया गया है। 1952 के उत्तरार्द्ध में चीन ने कतिपय कारणों से युद्ध की नीति में परिवर्तन बांछनीय समझा। ये कारण थे— (1) व्यापारिक प्रतिवर्षों के कारण होने वाली आर्थिक कठिनाइयां, (2) 1952 में स्टालिन की यह घोषणा कि ‘पूंजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है, (3) चीन द्वारा अनुभव करना कि संयुक्त राज्य अमरीका एशिया में अपनी शक्ति निरन्तर बढ़ा रहा है, (4) घरेलू कारण— जैसे कोरिया के युद्ध ने चीन की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव डाला। इस समय चीन अपनी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ कर रहा था। इस योजना को सफलतापूर्वक चलाने के लिए दूसरे देशों का सहयोग आवश्यक था, इसके लिए उनके प्रति मृदु विदेश नीति अपनाना आवश्यक था।

20.4.2 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति 1954-57- चीन की उग्र और युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति में परिवर्तन की पहली सूचना पेकिंग में अक्टूबर, 1952 में होने वाले एशियायी और प्रशान्त क्षेत्रीय शान्ति सम्मेलन में मिली। इसमें 1954 के ट्रेड-यूनियन सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शान्ति एवं सह-अस्तित्व की चर्चा की गई। सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अनुरोध किया कि वह वियतनाम, मलाया एवं अन्य देशों में युद्ध समाप्त कर सन्धि-वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता कराने की दिशा में प्रयत्नशील हो। जून, 1953 में कोरिया से युद्ध-विराम सन्धि हुई। अप्रैल, 1954 में चीन ने तिब्बत के बारे में भारत से सन्धि की तथा इसमें पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। चाऊ एन लाई ने शान्तिपूर्ण इरादों का विश्वास कराने के लिए नयी दिल्ली में घोषणा की कि “विश्व के सभी देश चाहे वे छोटे हो या बड़े निर्बल हों या बलवान— विभिन्न सामाजिक पद्धतियों के बावजूद शान्तिपूर्ण रीति से रह सकते हैं।” चीन ने बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लिया। इस अवसर पर चाऊ एन लाई ने दो कार्यों से अपने को शान्तिप्रिय सिद्ध किया (1) प्रवासी चीनियों के सम्बन्ध में इण्डोनेशिया से सन्धि करके उसने ऐसे चीनियों की आकंक्षाओं से संकरस्त एशियाई देशों को आश्वस्त किया, (2) ताईवान से तनाव कम करने के लिए उसने सन्धिवातां का प्रस्ताव किया। इस समय सर्वत्र चीन की प्रशंसा होने लगी और शान्तिप्रियता पर बल देने वाली प्रवृत्ति अर्थात् बाण्डुंग शावना की खूब चर्चा हुई।

20.4.3 नयी आक्रामक युद्धवादी नीति का युग (1957-69)— 1957 के बाद चीनी नीति में कठोरता तथा आक्रामकता के लक्षण परिलक्षित होते हैं। पश्चिमी देशों के साथ व्यवहार में वह कड़ा रूख अपनाने लगा। एशियाई देशों के प्रति भी बाण्डुंग भावना लुप्त होती हुई दिखाई देने लगी। इस नीति को अपनाने के कई कारण थे— पहला कारण सोवियत संघ द्वारा पहला स्पूतनिक उड़ाकर तथा अन्तः महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र बनाकर अपनी सैनिक तथा वैज्ञानिक उन्नति की उत्कृष्टता की धाक जमाना था। दूसरा कारण था सोवियत गुट के देशों की विलक्षण आर्थिक उन्नति। तीसरा कारण यह था कि 1956 के हंगरी के विद्रोह के बाद पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में साम्यवाद की नीति में कुछ संशोधनों की मांग हो रही थी। अतः चीन ने इसका प्रबल प्रतिरोध करते हुए नयी उग्र आक्रामक नीति का श्रीगणेश किया। 1958 के लोबनान के संकट में, चीन के तट के पास वाले टापुओं के संकट में, बर्लिन संकट तथा 1959 के लाओस के संकट इत्यादि में चीन ने कड़ा रूख अपनाया। इसी समय से चीन भारत के साथ विवाद में भी कठोर नीति अपनाने लगा, तिब्बत में भी उसने कड़ी नीति अपनाना प्रारम्भ किया 1959 में भारतीय सीमा पर चीन के अतिक्रमण बढ़ाने लगे और उसने अक्टूबर 1962 में भारी तैयारी और विशाल सेनाओं के साथ भारत पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण आरम्भ कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर, 1963 ई. से एक नवीन कूटनीतिक अभियान आरम्भ किया। चीन का यह विश्वास था कि अफ्रीका का महाद्वीप क्रान्ति के लिए बिलकुल तैयार है, वहां अपने प्रभाव का विस्तार तीव्र गति से करना चाहिए। दिसम्बर 1963 से चाऊ एन लाई अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों की आठ सप्ताह तक चलने वाली यात्रा के लिए रवाना हुए। किन्तु 1965 के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि चीन का यह कूटनीतिक अभियान सफल नहीं हुआ। जनवरी 1966 में मध्य अफ्रीका गणराज्य में हुए विद्रोह के बाद चीनी राजदूत को, तथा चीन के कृषि विशेषज्ञों को 24 घण्टे के भीतर देश छोड़ने का नोटिस दिया गया। इससे 22 दिसम्बर, 1965 को दमोही में एक सैनिक क्रान्ति हुई तथा उसने साम्यवादी चीन से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भंग किए।

20.4.4 सहयोग और मैत्री की कूटनीति का युग (1970-81)- साम्यवादी चीन ने आतंक और तोड़-फोड़ की जिस नीति का अनुसरण किया उससे वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में काफी बदनाम हो गया। चारों ओर से उसका विरोध होने लगा और वह लगभग अलग-थलग पड़ गया। चीन ने अपनी इस पृथकता की स्थिति को तोड़ने के लिए एशिया और अफ्रीका के छोटे देशों में अपने प्रभाव-विस्तार की चेष्टाएं की किन्तु उनमें भी वह लगभग असफल रहा। नासिर के नेतृत्व में अरब जगत चीनी कूटनीति का शिकार होने से बचा रहा। अतः यह आवश्यक हो गया कि चीन अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन कर आतंक एवं तोड़-फोड़ के स्थान पर सहयोग, मैत्री एवं सह-अस्तित्व की नीति अपनाएं- चाहे मौलिक रूप से उसका इनमें विश्वास नहीं था। 1970ई. के प्रारम्भ से ही चीन ने अपनी विदेश नीति का संचालन पुनः इस रूप में आरम्भ किया ताकि अधिकाधिक मित्र और समर्थन प्राप्त किया जा सके तथा पुरानी नीति के कारण विदेश नीति के स्वरूप में जो बिगाड़ पैदा हुए थे उन्हें सुधार कर विश्व के देशों को अपनी सदाशयता में विश्वास दिलाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने कुछ ऐसी करवट ली कि चीन का मार्ग सुगम हो गया। राष्ट्रपति निक्सन के नेतृत्व में अमरीका ने अपना चीन-विरोधी दृष्टिकोण शिथिल कर दिया और उसकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया तथा अमरीकी सहयोग ने सोवियत नेतृत्व का मुकाबला करने के लिए चीन को आकर्षित किया। चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में भी प्रवेश मिल गया जिससे उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। इसने चीन में महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा जाग्रत कर दी। इस युग में मैत्री, सहयोग और संयम की नई कूटनीति अपनाते हुए चीन ने एक ओर अमरीका के साथ सम्बन्ध स्थापित करने प्रारम्भ किए तथा दूसरी ओर सोवियत संघ के विरुद्ध अपना प्रचार अभियान शिथिल करके उसके साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति का सहारा लिया।

20.4.5 आधुनिकरण की नीति- माओ के देहान्त के बाद चीन मार्क्सवाद से हटता चला गया और चीन के नेताओं ने यह अनुभव किया कि यदि उन्होंने नई नीतियों का अनुसरण नहीं किया तो वे अपने देश को एक समृद्ध देश नहीं बना सकेंगे। इस दिशा में देश का नेतृत्व किया शक्तिशाली नेता टेंग शियाओ पैंग सियाओपिंग ने। उन्होंने चीन का आधुनिकीकरण की दिशा में मार्ग प्रशस्त किया, जिसे उन्होंने 'द्वितीय क्रान्ति' की संज्ञा दी। सियाओपिंग के नेतृत्व में चीन ने उच्च वैज्ञानिक और तकनीकी का सहारा लेकर सभी क्षेत्रों में तीव्र विकास करने की नीति अपनाई। सैनिक क्षेत्र में भी उच्च अनुसन्धान करके अत्याधुनिक हथियारों के विकास करने की नीति का सहारा लिया। इस युग में चीन इस तेजी से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की ओर अग्रसर हुआ कि साग विश्व आश्चर्यचकित रह गया।

1987 के बाद चीन ने एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों के देशों में साम्यवाद फैलाने की नीति त्याग दी और अपना ध्यान मुख्यतः शस्त्रास्त्र के व्यापार तथा आर्थिक और तकनीकी सम्बन्ध भी स्थापित करने की दिशा में केन्द्रित किया। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् चीन ने रूस, यूक्रेन, ब्लारूस तथा मध्य एशिया के गणराज्यों से सामान्य और मधुर सम्बन्ध बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण रूप से पहल की। इन सम्बन्धों में उत्तरोत्तर सुधार हुआ। दूसरे शब्दों में सोवियत संघ के विघटन के बाद जो शक्ति-शून्यता उत्पन्न हुई, उसे भरने के लिए भी साम्यवादी चीन प्रयत्नशील है। वह अब महाशक्ति की भूमिका के निर्वाह करने की तैयारी में लगा हुआ है।

20.5 चीनी विदेश नीति की प्रमुख विशेषता

चीन ने अपनी नीतियों को कभी स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया। वह अपनी नीतियों का ज्यादा शाब्दिक बखान नहीं करता। अितु वह कर्म के माध्यम से अपनी नीतियों को अभिव्यक्त करता है। चीन ने जिन नीतियों और साधनों को अपनाया है उनकी प्रमुख क्षिणिताएँ निम्नलिखित हैं-

20.5.1 आक्रामकता की नीति- आक्रामकता चीन का स्वभाव है, आक्रामकता का मतलब प्रहार या हमला ही नहीं, किसी न किसी तरीके से दूसरे देशों या अपने देश में भी इसी तरह की स्थितियाँ पैदा करने का प्रयास करना है, जिनसे तनाव बनता है और बढ़ता है। तनाव बढ़ने की यह प्रवृत्ति कभी-कभी आक्रमण का स्वरूप धारण कर लेती है, जैसा कि 1950 में कोरिया और 1962 में भारत के साथ हुआ था। 1969 में सोवियत संघ और 1979 में वियतनाम के साथ भी चीन ने इसी आक्रामकता का परिचय दिया। इसी तरह प्रहार का तात्पर्य अपने प्रभाव, प्रभुत्व और दादागिरी का प्रसार करना है। चीन शायद यहीं चाहता है। उसका मानना भी है कि इस

तरह की गतिविधियों से केवल इतिहास के पत्रों में ही उसका स्थान स्थायी न हो बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका दबदबा तथा आधिपत्य बढ़े। मोटे तौर पर दूसरे को आतंकित करने की नीति ही शायद उसका स्वभाव बन चुका है।

20.5.2 चारा और छड़ी की नीति- चीन की विदेश नीति में प्रायः पंचशील के सिद्धान्तों अर्थात् विश्व शान्ति, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, अनाक्रमण, प्रादेशिक अखण्डता, अहस्तक्षेप, मैत्रीपूर्ण सहयोग आदि सिद्धान्तों की दुहाई दी जाती रही है। परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति चीन का लगाव केवल दिखावा मात्र है और उसका लक्ष्य दूसरे देशों में भ्रम पैदा करता है। वस्तुतः चीन की नीति, शान्तिप्रियता की आड़ में शक्ति-अर्जन, शक्ति-निर्माण और शक्ति-प्रयोग की रही है। पामर और पार्किन्स ने कहा है कि “चीन की विदेश नीति चारा और छड़ी की रही है अर्थात् मीठे शब्दों और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के साथ प्रबल तरीकों और अपशब्दों के प्रयोग की रही है।”

चीन की शैली की प्रमुख तकनीक है— शक्ति, धमकी, दमन प्रॉक्सी द्वारा युद्ध विध्वंस, असनुष्ट तत्त्वों का समर्थन, आन्तरिक विद्रोह, छापामार युद्ध, आर्थिक सहायता, सैनिक प्रशिक्षण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन सांस्कृतिक शिष्टमण्डल, निर्देशित यात्राएं, जन आन्दोलन एवं मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन, प्रवासी चीनियों का प्रयोग, साम्यवादी दल आदि। बार्नेट ने लिखा है कि, “पीकिंग की नीति कभी भी चिकनी-चुपड़ी बातों या केवल दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धमकी और मूलाञ्छेद का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रण रहा है।”

20.5.3 सैनिक शक्ति एवं उसका विस्तार- चीन की विदेश नीति का एक मुख्य उद्देश्य उसको विश्व की एक महाशक्ति शक्ति बनाना है। उसके लिए शक्ति अर्जन, शक्ति निर्माण, शक्ति विस्तार और शक्ति प्रयोग आवश्यक तत्त्व हैं। चीन के पास प्रचुर मात्रा में जन शक्ति है और एक विशाल सेना है जो आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस है। चीन सभूची चीनी जनता को ही सेना के रूप में संगठित करने के लिए दृढ़ संकल्प है।

चीन स्वयं एक परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश है और परमाणु शक्ति के क्षेत्र में वह निरन्तर आगे बढ़ रहा है। उसने परमाणु बम का विस्फोट 1964 में किया था। वह प्रक्षेपास्त्रों और स्वचालित परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण करता है। उसके पास परम्परागत हथियारों का भी विशाल भण्डार है।

20.5.4 विस्तारवादी नीति- चीन की विदेश नीति सैनिकवादी, साम्राज्यवादी और विस्तारवादी है। कुछ पश्चिमी प्रेक्षकों का कहना है कि “चीन सबसे अधिक विस्तारवादी देश है। वह रूस के कुछ प्रदेशों और कुछ भारतीय क्षेत्रों को हड्डप जाने की कोशिश में है।” चीन के विचार में अभी भी बहुत चीन का स्वरूप हावी है। चीनी मानते हैं कि सीमा सम्बन्धी दर्जनों लिखित और अलिखित सन्धियों एवं समझौतों द्वारा उसके क्षेत्रों का बहुत-सा भाग रूस तथा अन्य कई देशों के कब्जे में है।

चीन के विस्तारवादी इरादे इस एक तथ्य से स्पष्ट हैं कि प्रत्येक पड़ोसी देश के साथ उसके या तो सीमावर्ती झगड़े हो चुके हैं या वर्तमान में वे झगड़े विद्यमान हैं या सीमावर्ती क्षेत्र में विरोधी तत्त्वों को प्रोत्साहन एवं प्रशिक्षण देकर उसने आन्तरिक क्रान्ति और उपद्रव को भड़काने का प्रयास किया है। उदाहरणतः चीन के रूस भारत तथा वियतनाम के साथ सीमावर्ती झगड़े हैं।

20.5.5 प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा- चीन प्रवासी चीनियों को अपने नागरिक समझता है। अतः वह उनके हितों, अधिकारों, परिवार और सम्पत्ति की रक्षा करना उसका कर्तव्य मानता है। चीन समय-समय पर प्रवासी चीनियों को रक्त सम्बन्धों बन्धुता और रिश्तेदारी के सम्बन्धों की याद दिलाता रहता है। लेखों और भाषणों में यह प्रायः दोहराया जाता है कि “सभी देशभक्त एक बड़े ही पारिवार से सम्बन्ध रखते हैं चाहे वे पहले आगे आयें या बाद में आयें।” चीनी प्रवासियों के बच्चों को यही पढ़ाया जाता है कि “मैं चीनी हूँ। मैं सिंगापुर, पेरिस, जकार्ता या सान फ्रांसिस्को आदि में रहता हूँ। मैं चीन को प्यार करता हूँ।” दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में करोड़ों प्रवासी चीनी निवास करते हैं। ये सभी देश गैर-साम्यवादी हैं परन्तु इन देशों की अर्थव्यवस्था पर प्रवासी चीनियों की निर्णायक भूमिका है। स्थानीय लोगों तथा प्रवासी चीनियों में संघर्ष होते रहते हैं।

20.5.6 साम्यवाद का समर्थन, साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार तथा साम्यवादी जगत का नेतृत्व- चीन की विदेश नीति मार्क्स, लेनिन और माओ के विचारों एवं सिद्धान्तों से प्रेरित एवं प्रभावित है। उसकी नीति में साम्यवाद और राष्ट्रवाद का मिश्रण है।

उसकी विदेश नीति में राष्ट्रवाद की विचारधारा इतनी अधिक है कि उसकी साम्यवादी व्यवस्थाएँ साम्यवाद के मूल सिद्धान्तों से मेल नहीं खातीं। चीन साम्यवाद के वर्ग संघर्ष, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, सशस्त्र संघर्ष और अनिवार्य युद्ध की अवश्यम्भाविता में विश्वास करता है। यह किसी मध्य मार्ग, टटस्थला अथवा गुट निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। उसकी धारणा है कि विजय प्राप्ति के लिए साम्राज्यवाद या समाजवाद की ओर झुकना होगा।

विश्व में समाजवाद लाने के लिए चीन दृढ़ संकल्प है। उसकी धारणा है कि “वह भविष्य की हवा पर सबार है।” इसलिए वह “विश्व क्रान्ति के जिहाद” को जारी रखना चाहता है। चीन समाजवाद लाने के लिए संसदीय तरीकों के स्थान पर ‘सशस्त्र संघर्ष’ को न्यायोचित एवं एकमात्र साधन मानता है। चीन की विदेश नीति का केन्द्र बिन्दु ‘बन्दूक’ हैं क्योंकि उसकी नली से शक्ति निकलती है। यही कारण है कि जैसे-जैसे रूस ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को स्वीकार किया, चीन ने उसे संशोधनवादी, बुजुआवादी, प्रतिक्रियावादी, समाजवादी-साम्राज्यवादी कहना शुरू कर दिया।

चीन का साम्यवाद राष्ट्रवाद पर आधारित है। वह साम्यवाद के विस्तार के साथ चीनी राष्ट्र की शक्ति एवं प्रभाव में विस्तार चाहता है। वह एशिया, अफ्रीका और लातीन अमरीका के साम्यवादी देशों का नेतृत्व करना चाहता है। 1981ई. के बाद चीन ने आक्रामक दृष्टि से साम्यवाद के प्रचार की नीति को त्याग किया। अब वह उदारीकरण, वैश्वीकरण की अपरिहार्यता को समझने लगा है।

20.6 चीन की विदेश नीति का वर्तमान स्वरूप

वर्तमान समय में चीन विश्व की एक महाशक्ति नहीं। वह विश्व में एक बड़ी शक्ति है। परन्तु उसका भरसक प्रयास है कि उसे 21 वीं शताब्दी के आरम्भ अथवा उसकी प्रथम दशाब्दी में विश्व की एक महाशक्ति का दर्जा प्राप्त हो जाए।

20.6.1 एकधुरीय विश्व में अविश्वास- चीन एकधुरीय विश्व में विश्वास नहीं करता। चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन की 23 अप्रैल, 1997 से शुरू हुई रूस की पांच दिवसीय यात्रा के अन्त में जिस ऐतिहासिक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए गए उसमें एक शक्तिशाली देश (अमरीका) के प्रभुत्व को रोकने की व्यवस्था है। चीन और रूस दोनों का कहना है कि नई विश्व व्यवस्था एक-धुरीय नहीं हो सकती। वे एक देश का प्रभुत्व स्वीकार नहीं कर सकते। वे इसे रोकने का उद्देश्य रखते हैं। नई निश्चल व्यवस्था बहु-धुरीय है जिसके अनेक केन्द्र हैं। उनका कहना है कि बेहतर यही है कि अमरीका स्वीकार कर ले कि शीतयुद्धोत्तर नई विश्व व्यवस्था बहु-धुरीय है और भविष्य में भी रहेगी।

20.6.2 अमरीका से बराबरी- चीनी अमरीका से बराबरी करता है। परमाणु हथियारों के विकास एवं अनुसन्धान में वह उसकी बराबरी ही नहीं करता बल्कि उसके एकाधिकार को चुनौती भी देता है। चीन अपनी परमाणु महत्वाकांक्षा का बेबाक प्रदर्शन करता है।

20.6.3 शस्त्र व्यापार को बढ़ावा देना - चीन शस्त्रों एवं परमाणु हथियारों एवं तकनीक का व्यापारी है। अमरीका के विरोध के बावजूद उसने कोरिया, पाकिस्तान और ईरान को शस्त्रों और परमाणु हथियारों एवं तकनीक का निर्यात (हस्तान्तरण) किया है। चीन पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम में सहायता कर रहा है। उसने उसे एम-11 प्रक्षेपास्त्र एवं 5000 बलयाकार चुम्बक (रिंग मैग्नेट) दी हैं। उसने ईरान को क्रूज प्रक्षेपास्त्र दिए हैं।

20.6.4 कूटनीतिक दग्बाबाजी और विस्तारवादी- चीन एक कूटनीतिक, दग्बाबाज और विस्तारवादी देश है। कुछ पश्चिमी प्रेक्षकों का कहना है कि चीन “सबसे अधिक विस्तारवादी देश है।” चीन इन सभी क्षेत्रों पर अपना दावा पेश करता है जो इतिहास में किसी समय उसके अंग या उसके अधीन रहे हैं। चीन की इस एक नीति के कारण उसके हर पड़ोसी देश के साथ सीमा विवाद हैं अथवा उसकी सेनाओं की पड़ोसी देशों के साथ सैनिक झड़पें हो चुकी हैं।

20.7 सारांश

सन् 1980ई. के बाद चीन द्वारा मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था और आर्थिक सुधारों को लागू करने के फलस्वरूप यह निश्चित

रूप से विश्व में आर्थिक एवं राजनीतिक केन्द्र में एक महत्वपूर्ण राज-अभिनेता के रूप में उभर कर आया है। पिछले 14 वर्षों से खुले दरबाजे की नीति के कारण वहाँ आर्थिक वृद्धि दर 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है और यह 10 प्रतिशत तक पहुँचने वाली है। इस आश्चर्यजनक सफलता का रहस्य चीन के आधुनिक निर्माता डेंग शियाओं पेंग द्वारा माओं की सांस्कृतिक क्रान्ति को नकारना चीन के अन्तर्राष्ट्रीय पृथक्करण को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसकी छवि को सुधार कर चीन को विश्व की प्रमुख शक्तियों की पंक्ति में लाने का प्रयास करना है। चीन की विदेश नीति सफलता-असफलता, सरलता और जटिलता, एकरूपता और प्रतिकूलता का विचित्र मिश्रण है। दूसरे शब्दों में इसमें 'कठोरता' और 'लचीलापन' का सम्मिश्रण है। चीनी नेता इन दोनों तत्त्वों में एक अच्छा सन्तुलन बनाये हुये हैं। घरेलू राजनीति एवम् अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण के अनुसार इन दोनों तत्त्वों का सावधानी से तालमेल बिठाने का प्रयास कर रहे हैं। चीनी नेतृत्व कठोर नीति अपनाने से नहीं झिझके हैं। जब वे आर्थिक मुद्दों पर विचार करते हैं, सामाजिक या लचीलेपन की नीति प्रदर्शित करते हैं, उसे अंगीकार करते हैं।

आजकल चीन की विदेश नीति में शान्ति, मित्रता तथा सौम्यता के लक्षण परिलक्षित हो रहे हैं। अमरीका, जापान, भारत आदि देशों से चीन के सम्बन्ध मधुर होते जा रहे हैं। इसके लिए आर्थिक उदारीकरण तथा वैश्वीकरण का यागदान रहा है।

अध्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. साम्यवादी चीन की विदेश नीति की विशेषताओं का विवेचन कीजिए?
2. 1949 में साम्यवादी चीन के प्रादुर्भाव के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का विश्लेषण कीजिए?
3. चीनी विदेश नीति के ऐतिहासिक विकास चरणों का उल्लेख कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. चीनी विदेश नीति की नवीन प्रवृत्तियाँ क्या हैं?
2. चीन की विदेश नीति के किन्हीं दो प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. चीन में साम्यवादी क्रान्ति कब हुई?
2. साम्यवादी चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का कब सदस्य बना?

इकाई - 21

रूस की विदेश नीति

संरचना

- 21.0 उद्देश्य
- 21.1 प्रस्तावना
- 21.2 रूसी विदेश नीति के निर्माता : बोरिस येल्तसिन, व्लादीमिर पुतिन
- 21.3 रूसी विदेश नीति के आधार
 - 21.3.1 राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा
 - 21.3.2 देश में साम्यवाद को पुनः नहीं उभरने देना
 - 21.3.3 रूस के लोकतान्त्रिक स्वरूप की सुरक्षा
 - 21.3.4 यूरोपीय राष्ट्र के रूप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना
 - 21.3.5 अमरीका का समर्थन प्राप्त करने की नीति
 - 21.3.6 सोवियत संघ के उत्तराधिकारी की भूमिका
 - 21.3.7 निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया का समर्थन
- 21.4 रूसी विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ
 - 21.4.1 रूस और राष्ट्रकुल
 - 21.4.2 रूस और संयुक्त राज्य अमरीका
 - 21.4.3 रूस और भारत
 - 21.4.4 रूस और संयुक्त राष्ट्र संघ
 - 21.4.5 रूस और साम्यवादी चीन
 - 21.4.6 रूस और नाटा
 - 21.4.7 रूस और निःशस्त्रीकरण
- 21.5 सारांश

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत रूस की विदेश नीति का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन का इकाई करने के पश्चात् आप:

- सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी विदेश नीति की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- रूस की वास्तविक भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

सोवियत संघ का विघटन बीसवीं शताब्दी की एक अत्यन्त असाधारण घटना थी। इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप,

प्रकृति और दिशा को ही बदल दिया। 1917 की अक्टूबर क्रान्ति ने एक सशक्त साम्यवादी शक्ति को जन्म दिया, जिसे लेनिन ने पल्लवित, विकसित किया। स्टालिन ने अपनी कठोर नीति द्वारा उस व्यवस्था को सुटूँढ़ किया। खुश्चेव व बुलगानिन ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर साम्यवादी व्यवस्था को नया स्वरूप प्रदान किया। ब्रेज़नेव ने देतां (तनाव शैथिल्यता) की नीति के माध्यम से पूर्व-पश्चिम के तनावों को दूर करने में साम्यवादी स्वरूप को एक नवीन दिशा प्रदान की और गोर्बाच्चोव ने साम्यवादी विचारधारा में 'नवीन चिंतन' की शुरूआत कर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को शान्ति एवं सहयोग के आधार पर संचालित करने की विधिवत घोषणा की। इस प्रकार प्रारम्भिक क्रान्ति से इस शताब्दी की लगभग तीन-चौथाई यात्रा के दौरान सोवियत संघ अपने आपको अनेक कठिनाइयों के दौर से उबारता हुआ, अब विश्व इतिहास का पृष्ठ मात्र बनकर रह गया है।

भूतपूर्व सोवियत संघ का शक्तिशाली अंग, रूस अब उसका स्थान संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में एक स्थायी सदस्य के रूप में ले चुका है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं में सम्मिलित किया गया है तथा उसे जी-7 धनी औद्योगिक राष्ट्रों में भी स्थान दिया गया है। अब अमरीका ही विश्व की दृष्टि में केवल मात्र शक्तिशाली राष्ट्र रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिलने के बाद विश्वभर में फैले सोवियत संघ के राजनयिक मिशनों को भी रूसी राजनयिक मिशनों में परिवर्तित कर दिया गया।

21.2 रूसी विदेश नीति के निर्माता : बोरिस येल्सिन तथा ब्लादीमिर पुतिन

11 मार्च, 1985 को सोवियत संघ साम्यवादी दल के पोलिट ब्यूरो के सदस्य मिखाइल गोर्बाच्चोव सर्वसम्मति से पार्टी के महासचिव बने। सत्ता हाथ में आते ही उन्होंने 11 जून, 1985 को सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए क्रान्तिकारी कार्यक्रमों-पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त की घोषणा की। आर्थिक पुनर्निर्माण और खुलेपेन की इन नीतियों ने सोवियत संघ को कटूरपंथी साम्यवाद के कड़े शिकंजे से मुक्त करना प्रारम्भ किया। देखते-देखते सोवियत जनता भी अमरीकी जनता की तरह लोकतन्त्र की ओर उन्मुख हुई। इसी के साथ संघ के पन्द्रह गणराज्यों द्वारा किसी-न-किसी रूप में स्वायत्ता की मांगें शुरू हुईं और ये मांगें बाल्टिक गणराज्यों से अधिक मुख्य हुईं। वही नहीं, खुलेपेन के परिणामस्वरूप कई गणराज्यों में भीषण साम्राज्यिक झगड़े भी प्रारम्भ हुए और तो और बन्द अर्थव्यवस्था से अचानक खुले बाजार की अर्थव्यवस्था की ओर सोवियत संघ का पदार्पण भी उसे महंगा पड़ा।

18 अगस्त, 1991 को साम्यवादी दल, सेना, के, जी. बी. और नौकरशाही के कटूरपंथी गुट ने सांठ-गांठ करके सोवियत संघ पर अपने कब्जे की घोषणा की और यानायेव ने मिखाइल गोर्बाच्चोव को राष्ट्रीय पद से हटाकर, स्वर्य को राष्ट्रपति के ₹४ में प्रतिष्ठित किया। बोरिस येल्सिन ने इस विद्रोह के विरुद्ध जन-भान्दोलन का नेतृत्व किया। उनके नेतृत्व में लाखों रूसियों ने मास्को में टैंकों के आगे खड़े होकर यानायेव तथा उनके सहयोगियों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। इस प्रबल जन-शक्ति के आगे यानायेव और उनके सहयोगियों के पाँव उखड़ गये तथा उन्हें पदच्युत होना पड़ा। मिखाइल गोर्बाच्चोव पुनः तत्कालीन सोवियत संघ के राष्ट्रपति पद पर सत्तारूढ़ हुए। लेकिन इसके बाद मिखाइल गोर्बाच्चोव का पद बोरिस येल्सिन के आगे कमज़ोर होता गया तथा बोरिस येल्सिन का कद निरन्तर ऊँचा उठता गया। इसके बाद वे सोवियत संघ की 'धुरी' बन गये तथा संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य राष्ट्रों द्वारा उन्हें महत्व देना प्रारम्भ किया गया। यथार्थ में वे सोवियत संघ में साम्यवादियों के विरुद्ध लोकतान्त्रिक शक्तियों के प्रतीक बन गये तथा पाश्चात्य देश उनके प्रति आशा भरी दृष्टि से देखने लगे। रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति के रूप में, उन्होंने तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्चोव से 'परमाणु बटन' प्राप्त किया। उन्होंने रूसी विदेश नीति की प्राथमिकताओं सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों का निरूपण किया। इसीलिए उन्हें रूसी विदेश नीति के 'निर्माता तथा सूत्रधार' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। बोरिस येल्सिन के देहावसान के बाद, ब्लादीमिर पुतिन देश के नये राष्ट्रपति बने। उन्होंने भी रूसी विदेशनीति को नये आयाम प्रदान किये। अतः उन्हें रूसी विदेशनीति का निर्माता भी माना जाता है।

21.3 रूसी विदेश नीति के आधार

सोवियत संघ के विधिवत विघटन के साथ रूस के राष्ट्रपति बोरिस येल्सिन ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में रूसी विदेश नीति के जिन आधारों तथा प्राथमिकताओं का निर्धारण किया। उन्होंने निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है-

21.3.1 राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा- राष्ट्रपति बोरिस येल्सिन ने विचारधारा के व्यामोह से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा को अपनी विदेश नीति का प्रमुख आधार बनाया। रूस के राष्ट्रीय हित हैं- देश की जर्जर अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करना तथा आर्थिक

विकास की गति को तेज करना, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा देश के लोकतान्त्रिक स्वरूप को बरकरार रखना। रूसी विदेश नीति इन्हीं मूलभूत उद्देश्यों को साकार करने में लगी हुई है।

21.3.2 देश में साम्यवाद को पुनः नहीं उभरने देना- सोवियत संघ साम्यवाद का सुदृढ़ गढ़ रहा है। अतः उसके पतन के बाद भी उसकी जड़ों का यहाँ गहरा होना स्वाभाविक ही है। रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन को आन्तरिक क्षेत्र में साम्यवादियों की प्रबल चुनौती का समाना करना पड़ा है। रूस में हुए आम चुनावों में साम्यवादियों को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। इसने येल्तसिन के सम्मुख प्रबल चुनौती उपस्थित की। बोरिस येल्तसिन रूस में साम्यवाद को पुनः नहीं उभरने देने के लिए कृत-संकल्प थे। वे इसके लिए संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य लोकतान्त्रिक देशों का भी सहयोग प्राप्त करते रहे। वर्तमान में रूसी राष्ट्रपति ब्लादीमिर पुतिन भी इसी नीति का अनुसरण कर रहे हैं।

21.3.3 रूस के लोकतान्त्रिक स्वरूप की सुरक्षा- रूस के प्रथम राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने यह स्पष्ट घोषणा की कि वहाँ से साम्यवाद व स्टालिनवाद को जड़ से खत्म कर दिया गया है। यहाँ पूर्णरूप से लोकतन्त्र की स्थापना को प्राथमिकता दी जायेगी। इससे अब राजनीतिक संघर्ष एवं दो विचारधाराओं का संघर्ष हमेशा के लिए समाप्त हो गया है। लोकतन्त्र की स्थापना करके इसे मजबूत बनाना, इसके आधार पर विदेश नीति का संचालन करना विश्व राजनीति में निश्चित ही एक नया परिवर्तन था।

21.3.4 यूरोपीय राष्ट्र के रूप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना- रूस मूलतः यूरोपीय राष्ट्र है। अतः वह यूरोपीय राष्ट्र के रूप में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना चाहता है। इसी को आधार बनाकर रूस यूरोपीय राष्ट्रों के साथ अधिकाधिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। वह यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया में भी भाग ले रहा है, तथा जून 1994 में उसने उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन 'नाटो' की भी सदस्यता प्राप्त की है। यूरोपीय राष्ट्रों के साथ सभी देशों में संबंध स्थापित करना रूस की विदेशनीति का मूलभूत लक्ष्य है।

21.3.5 अमरीका का समर्थन प्राप्त करने की नीति- बोरिस येल्तसिन की विदेश नीति का मुख्य आधार और सर्वोपरि प्राथमिकता अमरीका का सक्रिय समर्थन प्राप्त करना। वे इस बात को जानते थे कि अगर अमरीका ने रूस को तत्काल अर्थिक सहायता प्रदान नहीं की तो उसकी आर्थिक स्थिति भयावह होकर नियन्त्रण से बाहर हो जायेगी। वर्तमान में, ब्लादीमिर पुतिन के नेतृत्व में रूस संयुक्त राज्य अमरीका के साथ सहयोग की नीति पर चल रहा है। अतः वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसके साथ किसी भी तरह से संघर्ष या टकराव के पक्ष में नहीं है।

21.3.6 सोवियत संघ के उत्तराधिकारी की भूमिका- रूसी विदेश नीति का एक अन्य आधार रूस द्वारा सोवियत संघ के उत्तराधिकारी की भूमिका का निर्वाह करना है। वह अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर सोवियत संघ के विघटन से उत्पन्न शून्यता को भरने का प्रयास कर रहा है। वह इस तथ्य को साकार करना चाहता है कि उसमें सोवियत संघ की तरह ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की क्षमता है।

21.3.7 निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया का समर्थन- बोरिस येल्तसिन अपनी विदेश नीति में निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देने की नीति पर चल रहे हैं। उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ आणविक हथियारों और प्रक्षेपास्त्रों के परिसीमन करने सम्बन्धी विभिन्न समझौतों पर हस्ताक्षर करते हुए सैनिक व्यय में भारी कटौती की। वर्तमान रूसी राष्ट्रपति ब्लादीमिर पुतिन भी इसी नीति का अनुसरण कर रहे हैं।

21.4 रूसी विदेश नीति की मुख्य विशेषताएँ

26 दिसम्बर, 1991 ई. को सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस एक स्वतन्त्र-सम्प्रभु राज्य के रूप में सामने आया है। रूस की विदेश नीति के बारे में दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं। पहला दृष्टिकोण तो यह है कि रूस पुराने सोवियत संघ का उत्तराधिकारी राज्य है अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह उसी भाँति की विदेश नीति अपनायेगा जो पुराने सोवियत संघ की थी। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि आज रूस पुराने सोवियत संघ से एकदम भिन्न स्थिति में है, वहाँ न तो साम्यवादी दल की सत्ता है और न मध्य एशिया के गणराज्य उसके अंग हैं। रूस तो अब एकदम यूरोपीय भू-क्षेत्र का देश है, अतः विदेश नीति के क्षेत्र में उसकी

सोच और रूझान एक यूरोपीय महादेश की भाँति होगी। उसकी विदेश नीति में आमूलचूल परिवर्तन अपरिहार्य है। इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

21.4.1 रूस और राष्ट्रकुल- सोवियत संघ के गणराज्य कजाकिस्तान की राजधानी अल्माअता में सोवियत संघ से अलग हुए 12 में से 11 गणराज्यों के राष्ट्रपतियों ने 21 दिसम्बर, 1991 को एक समझौते पर हस्ताक्षर कर स्वतन्त्र राष्ट्रों के राष्ट्रकुल की स्थापना को अपनी स्वीकृति प्रदान की। जार्जिया को छोड़कर सभी 11 गणराज्यों ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर किये। जार्जिया ने केवल प्रेक्षक के रूप में भाग लिया। जिन समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये, उनकी मुख्य बातें हैं—(1) 11 गणराज्यों ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ का स्थान रूसी गणराज्य को दिये जाने की सिफारिश की (2) सभी 11 गणराज्य राष्ट्रकुल के सह-संस्थापक सदस्य माने जायेंगे और उनके समान अधिकार होंगे। 11 गणराज्य स्वतन्त्र सार्वभौमिक गणराज्य होंगे और उनकी वर्तमान सीमाओं को स्थान्त्रित प्राप्त होगी। (3) 31 दिसम्बर तक के लिए एक संयुक्त सैनिक कमान होगी जिसके बाद एक स्थायी कमान का गठन किया जायेगा। परमाणु अस्त्रों पर सदस्य देशों के राष्ट्राध्यक्षों का नियन्त्रण होगा। 30 दिसम्बर, 1991 को मिन्स्क में आयोजित राष्ट्रकुल सम्मेलन में इस बात पर सहमति व्यक्त की गयी कि परमाणु हथियारों पर नियन्त्रण की वर्तमान प्रणाली जारी रखी जाये। इस प्रणाली में यह व्यवस्था है कि परमाणु बटन रूसी राष्ट्रपति के पास रहेगा किन्तु इसका प्रयोग रूस, कजाकिस्तान, बैलारूस तथा उक्रेन की सहमति से किया जायेगा।

21.4.2 रूस और संयुक्त राज्य अमरीका- अमरीका और सोवियत संघ के मध्य एकराब के अंत के साथ समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में गहन परिवर्तन आये हैं। शीत युद्ध के अंत के बाद अमरीका व रूस के मध्य मौलिक रूप से नवीन एवम् ‘सहयोगात्मक संबंधों’ के अनेक अवसर उत्पन्न हुए हैं। अमरीका और रूस की सकारात्मक भागीदारी से न केवल इन दोनों देशों के पारस्परिक हितों में अभिवृद्धि का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ बल्कि उनकी यह भागीदारी 21 वीं शताब्दी में सम्पूर्ण मानवता के समक्ष उत्पन्न गम्भीर चुनौतियों का सामना करने के लिये भी आवश्यक है। जैसा कि ज्ञातव्य है कि राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शासनकाल में सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन आया था जिसके फलस्वरूप अमरीका के सोवियत संघ एवं रूस के साथ सम्बन्धों में सुधारों के लिये अनुकूल बातावरण बना। गोर्बाच्योव द्वारा प्रतिस्थापित सोवियत ‘नवीन चिन्तन’ में प्रमुख बात यह निहित थी कि शान्ति की रक्षा करना समस्त राष्ट्रों का प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए।

राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन के साथ अमरीका-रूसी संबंधों में एक नये अध्याय की शुरूआत हुई। अपने पद ग्रहण के तुरन्त बाद येल्तसिन ने कहा कि “हमारा लक्ष्य विश्व के अन्य देशों के साथ मानववाद, स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के आदर्शों को प्रतिस्थापित करना है।” उन्होंने अपनी वचनबद्धता को दोहराते हुये कहा कि रूस एक खुली नीति पर चलने की इच्छा रखता है। तथा वह शास्त्रों में व्यापक कटौती एवम् सैनिक से गैर-सैनिक अर्थव्यवस्था का समर्थन करता है। जून, 1992 में रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने अमरीका की यात्रा की। अमरीका तथा रूस के बीच शिखर बार्टा से दोनों देशों का संयुक्त सैनिक अभियान सम्भव हो गया। राष्ट्रपति जार्ज बुश तथा रूसी राष्ट्रपति येल्तसिन ने वाशिंगटन चैटर ह तथा जिन नौ अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किये उनमें दोनों देशों के बीच विस्तृत सैनिक, आर्थिक और वैज्ञानिक सहयोग का आह्वान किया गया। दोनों देशों के राष्ट्रपतियों ने शस्त्र कटौती के एक महत्वपूर्ण समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस व्यापक समझौते के तहत परमाणु हथियारों की संख्या में दो-तिहाई कटौती की गई।

हाल ही में नाटो के विस्तार को लेकर रूस और अमरीका में मतभेद उत्पन्न हुए हैं। अमरीका की पहल पर पूर्वी यूरोप के तीन देशों पोलोण्ड, हंगरी और चेक गणराज्य को जुलाई 1997 में नाटो संगठन में शामिल कर लिया गया। शीत युद्ध के दौरान ये तीनों राष्ट्र सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में थे। नाटो के विस्तार को चूंकि रूस अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरा समझता है अतः हेलसिंकी शिखर सम्मेलन में उसने राष्ट्रपति किलंटन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था। वर्तमान में अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश एवं रूसी राष्ट्रपति पुतिन के बीच मैत्री एवं सहयोग की सन्धि सम्पन्न हुई है। दोनों देशों के बीच सहयोग तथा मित्रता के नये युग का श्रीगणेश हुआ है।

21.4.3 रूस और भारत- सोवियत संघ के साथ भारत के धनिष्ठ सम्बन्ध थे। अतः सोवियत संघ के विघटन से भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक था। पूर्व सोवियत संघ की भाँति ही रूस भारत से धनिष्ठ सम्बन्ध बनाने को इच्छुक है। रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन की जनवरी, 1993 की भारत यात्रा ने दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों को नये रूप में प्रारम्भ किया गया। येल्तसिन, लोकतांत्रिक पद्धति से चुने जाने वाले प्रथम रूसी राष्ट्रपति थे, जिन्होंने सोवियत संघ की समाप्ति के बाद पहली बार भारत की यात्रा की यद्यपि नीति

विश्लेषणकर्ताओं का अभिमत है कि एशिया में भारत को रूस द्वारा प्राथमिक महत्व नहीं दिया जा रहा है। उनका यह संकेत राष्ट्रपति येल्तसिन की चीन व दक्षिण कोरिया की यात्राओं के बाद भारत यात्रा से था। कुछ सीमा तक यह विश्लेषण उचित भी लगता है। परन्तु बदलती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों एवं रूस की स्वयं की आंतरिक कठिनाइयों के परिप्रेक्ष्य में प्राथमिकताओं को निर्धारित करना मास्को की अपनी स्वतन्त्रता एवम् निर्णय आवश्यकताओं का आकलन की स्वयत्ता है। अतः शीत युद्ध काल में नई दिल्ली मास्को के सम्बन्ध समय के अनुरूप विशेष सम्बन्धों पर आधारित थे, जिनसे एक-दूसरे के राष्ट्रीय हितों की रक्षा होती थी। परन्तु सोवियत संघ की समाप्ति के बाद रूस नई भूमिका में है अतः अब पूर्व की अपेक्षाएं करना व्यर्थ है।

इसके उपरांत भी भू-राजनीतिक, भू-सामरिक एवम् आर्थिक दृष्टि से भारत-रूस सम्बन्ध महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। चाहे कितने भी उथल-पुथल रूस की आंतरिक राजनीति में हो रहे हों, भौगोलिक व सामरिक परिस्थितियों ने एक-दूसरे को महत्वपूर्ण बनाया है। श्री ब्लादीमिर पुतिन की भारत यात्रा तथा प्रधान मंत्री डॉ. मनमोहनसिंह की यात्रा से भारत रूस सम्बन्धों को नये आयाम प्राप्त हुए हैं।

21.4.4 रूस और संयुक्त राष्ट्र संघ- रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ में सोवियत संघ का स्थान ले लिया है। वह अब सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य है, फिर भी वह अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण महाशक्ति के रूप में सक्षम भूमिका का निर्वाह करने में अपने आपको अक्षम पा रहा है। रूस यहां संयुक्त राज्य अमरीका को किसी भी तरह से चुनौती देने की स्थिति पर नहीं है। इराक और लीबिया पर लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों, सर्विया में 'नाटो' देशों की सैनिक कार्यवाही तथा हैती में अमरीकी कार्यवाही के सम्बन्ध में रूस की विवशता देखी जा सकती हैं। रूस की इस विवशता के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ पर अमरीका का बचस्व स्थापित हो गया है तथा सुरक्षा परिषद् उसके हाथ का खिलौना बन गई।

21.4.5 रूस और साम्यवादी चीन- वैसे रूस और चीन के बीच वैचारिक मतभेद रहे हैं। रूस में साम्यवाद के अन्त के बावजूद भी चीन ने समाजवादी व्यवस्था को नहीं छोड़ा है। अतः दोनों देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में अन्तरविरोध होने के बावजूद भी रूस-चीन ने संघर्ष, तनाव की स्थिति का परित्याग कर अनुकूलता, मित्रता एवं सहयोग की नीति का अनुसरण किया है। चीन की आर्थिक क्षेत्र में खुलेपन की नीति एवं विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने की मुक्त आर्थिक नीति, चीन द्वारा आर्थिक तकनीक सैनिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति ने रूस को बहुत प्रभावित किया है। बोरिस येल्तसिन ने बदले हुए परिवेश में साम्यवादी चीन के साथ सम्बन्ध मुधारने की नीति का महारा लिया। इसी नीति के तहत उन्होंने 19 दिसम्बर, 1992 को साम्यवादी चीन की यात्रा की। दोनों ही देशों के बीच 'मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों' का विकास करने तथा सीमाओं पर तैनात सैनिकों में कमी करने के बारे में सहमति हुई। दोनों देश सैनिक क्षेत्र में भी एक दूसरे से सहयोग कर रहे हैं। श्री ब्लादीमिर पुतिन के कार्यकाल में भी दोनों देशों के संबंध मैत्रीपूर्ण हैं।

21.4.6 रूस और उत्तर अटलाण्टिक संघ संगठन - शीत युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमरीका ने सोवियत संघ से अपने सहयोगी पश्चिमी राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए उत्तरी अटलाण्टिक संघ संगठन (नाटो) की स्थापना की। यह विश्व का सबसे शक्तिशाली सैनिक संगठन है। इतिहास की यह एक विचित्र विडम्बना ही मानी जायेगी कि जिस संगठन का जन्म ही सोवियत संघ के विरुद्ध हुआ हो उसके उत्तराधिकारी के रूप में जून, 1994 में रूस भी इस संगठन का 'शान्ति के लिए सहभागिता' के रूप में सदस्य बन गया। रूस ने ऐसा करके यूरोप में तनाव के वातावरण को कम किया है। पूर्वी यूरोप के पूर्व साम्यवादी देश भी इसके सदस्य बन चुके हैं।

21.4.7 रूस और निःशस्त्रीकरण- सोवियत संघ की तरह रूस भी निःशस्त्रीकरण की नीति पर चल रहा है। 3 जनवरी 1993 को तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश तथा रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने मास्को में स्टार्ट-2 संधि पर हस्ताक्षर किये। परमाणु हथियारों को कम करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था। जार्ज बुश के बाद अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन तथा रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने भी इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। सन् 1996 में रूस ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि पर भी हस्ताक्षर किये। श्री ब्लादीमिर पुतिन भी निःशस्त्रीकरण की नीति का अनुसरण कर रहे हैं।

21.5 सारांश

वर्तमान में रूस के सामने अनेक समस्याएं और चुनौतियाँ हैं। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, अमरीका और पश्चिमी देशों से उसे आर्थिक सहायता चाहिए, नियन्त्रित अर्थव्यवस्था को बाजार अर्थव्यवस्था में बदलने की समस्या है, भूतपूर्व सोवियत गणराज्यों से नये सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है, राजनीतिक एवं आर्थिक परेशानियां जितनी गम्भीर हैं, पूर्व

सोवियत सैनिकों की भारी भरकम सेना तथा उसकी मानसिक स्थितियां उन कठिनाइयों से भी अधिक हैं, यह सेना आज रूस की शक्ति नहीं, वरन् कमज़ोरी बन गई है।

इतनी सारी कमियों के बावजूद भी रूस एक महाशक्ति है। उसके पास अमरीका और यूरोप को नष्ट करने की क्षमता है। बीटो के रूप में रूस के पास राजनीतिक शक्ति है। इस स्थिति में रूस की अनदेखी नहीं की जा सकती है। उसकी विश्व राजनीति में अभी भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रूस की विदेश नीति की विशेषताओं की विवेचना कीजिए ?
2. सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस की विदेश नीति की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लौह आवरण से क्या अभिप्राय है ?
2. बोरिस येल्सिन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं बताइये ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वर्तमान में रूस की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य क्या है ?
2. व्लादीमिर पुतिन की विदेशनीति की प्रमुख विशेषता बताइये।

इकाई - 22

पाकिस्तान की विदेश नीति

संरचना

- 22.0 उद्देश्य
- 22.1 प्रस्तावना
- 22.2 पाकिस्तान की विदेश नीति का विकास
 - 22.2.1 आन्तरिक समस्याएं
 - 22.2.2 सैनिक गुटों में सम्मिलित होना
 - 22.2.3 चीन के साथ मैत्री एवं भारत के साथ युद्ध
 - 22.2.4 भारत-पाक युद्ध और बंगलादेश का स्वतन्त्र होना
 - 22.2.5 अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिष्ठा का प्रयास
 - 22.2.6 जनरल जिया उल हक का नेतृत्व
 - 22.2.7 बेनजीर भुट्टों का नेतृत्व एवं लोकतन्त्र को महत्व
 - 22.2.8 नवाज शरीफ का नेतृत्व एवं अमरीका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध
 - 22.2.9 कश्मीर मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने का प्रयास
 - 22.2.10 नवाज शरीफ का नेतृत्व और भारत-पाक सम्बन्धों में परिवर्तन
 - 22.2.11 जनरल परवेज मुशर्रफ का नेतृत्व एवं शासन में परिवर्तन
- 22.3 पाकिस्तान की विदेश नीति की प्रगुण विशेषताएं
 - 22.3.1 भारत का विरोध
 - 22.3.2 जम्मू कश्मीर मसले का अन्तर्राष्ट्रीयकरण
 - 22.3.3 अमरीका का पिछलगू
 - 22.3.4 शस्त्रीकरण की नीति
 - 22.3.5 इस्लामिक आधार
 - 22.3.6 सेना की भूमिका
- 22.4 सारांश

22.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत पाकिस्तान की विदेश नीति का उल्लेख किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

Q पाकिस्तान की विदेश नीति का विकास कैसे हुआ? समझ सकेंगे,

Q विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं समझ सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ पाकिस्तान, अब केवल पाकिस्तान रह गया है। यह मूलरूप में 1947 में ब्रिटिश भारत को भारत तथा पाकिस्तान, दो राज्यों में विभाजित होने से अस्तित्व में आया। इसका पूर्व भाग जो पहले पूर्वी-पाकिस्तान कहलाता था, 1971 में अलग हो गया और वर्तमान में स्वतन्त्र बंगलादेश के रूप में अस्तित्व है।

پاکستان کی پیشلے 57 وہیں کا ایتھاں راجنیتیک دیستی سے بہت عتلہ-پوچھ کا رہا ہے۔ اس میں ساریٰ ایتھاں راجنیتیک ایسٹریٹ 1947 سے 1958 تک رہی۔ اس میڈیا چار گورنر جنرلؤں، اک راشٹرپتی تھا ساتھ پریڈانمینیوں نے ویشم پاریسٹیوں میں پاک پر شاہزاد کیا۔ اکتوبر 1958 میں تکالیف سینیک پریڈان جنرل ایجوب خاں نے راشٹرپتی سیکنڈر میرزا کو دیش ڈالنے کو ویشم کرکے ساتھ ہٹھیا لی۔ جنرل ایجوب خاں پاک کے شاہزاد کی ویشم سیٹیوں سے نیپٹے ہوئے 1968 تک راشٹرپتی بن رہے۔ 1969 میں جنرل یاہیا خاں پاک کے راشٹرپتی تھا مुखی مارشل لاؤ پریڈان بن چڑھے۔ اسکے پشچاٹ 1971-77 تک جو لیکار ایلی بھٹوں اور 1977-78 تک جنرل جیا ڈل ہک پاک کے راشٹرپتی رہے۔ 17 اگسٹ، 1988 کو ویشم دویٹنا میں رہسپھر ڈنگ سے جنرل جیا کا دعویٰ خد انتہا ہو گیا۔ نومبر، 1988 میں راشٹری ی اسے ملکی کے سوچنے چونا ہوئے اور پاکستان پیپلز پارٹی سب سے بडی دل کے روپ میں ڈالی۔ بے نجی بھٹوں کے نے تک میں پاکستان میں لوکتاتھیک شاہزاد کی سٹھانہ ہوئی۔ بے نجی بھٹوں کے نوایا شریف کے بیچ ساتھ کی آنکھیں ڈالیں کے ہل میں انتہا: نوایا شریف کی جیت ہوئی اور فروری، 1997 میں سامنہ ہوئے چونا ہوئے میں پاکستان میں مسیلمانی گیا کی ویچ کے ساتھ ہی نوایا شریف پون: پریڈانمینی ہوئے۔ نوایا نتم چوتا چکر کے انوسار ہل سے ناٹھک جنرل پریڈان میں شریف نے شریف سرکار کا تھا پالٹکر ساتھ ہستگات کر لی۔ شریف نوایا شریف کو دیش ڈالنے کے لیے بادھ کیا گیا۔ جنرل پریڈان میں شریف نے ڈنکو ساتھ سے پادھیت کرکے شاہزاد کی باغدھر سانحہ لی۔ وہ پاکستان کے راشٹرپتی بن گیا۔

22.2 پاکستان کی ویДЕش نیتی کا ویکااس

1947 سے لے کر سن 2007 تک پاکستان کی ویДЕش نیتی کو نیمیلیخیت چرخوں میں ڈالتا جا سکتا ہے۔

22.2.1 آنٹریک سامسیاہ- 1947 سے 1954 تک کے کال میں پاکستان نے میں میں بڑھنے کا پریل کیا۔ پاکستان کو سانچوک راشٹر سانچ کی سادھیت پ्रاپ ہوئی۔ 1947 میں کشمیر پر کباولیوں کے ساتھ میلکر آکھمان کیا اور کشمیر سامسیاہ کو انتراشٹری میڈا ہوئے کی کوٹنیتی پراپمی کی۔ اس سامی پاکستان کے سماں جو سامسیاہ ہیں ڈنکو کشمیر، نہری پانی، آرثیک تھا شرمناہیوں کی سامسیاہ پرمیخ ہیں۔

22.2.2 سینیک گروں میں سامیلیت ہونا- دوسری چرخ 1954 سے 1958 تک کا ہے، اس میں ڈنکے پیشیمی دلہوں کے ساتھ سینیک گروں میں سامیلیت ہونے کی نیتی اپنائی۔ سن 1954 میں پاکستان نے امریکا سے سینیک سانچ کر لی۔ وہ سیٹوں کا سادھی ہوئے۔ 1955 میں وہ بگدا د پیکٹ کا بھی سادھی ہوئے اور ڈنکے اپنے کتیپی اکٹے امریکا کو دے دیا۔ اب ڈنکے امریکا سے سینیک سہاہیت میلنے لگی۔ کوئی کوئی کے یوڈھ میں وہ سانچوک راچی امریکا کا کٹور سامنہ کیا۔ اک ترہ سے اس ایڈی میں پاکستان امریکا کے سامیکا د کیوڑی ایڈیان میں سامیلیت ہو گیا۔ اس سامی امریکا کا ڈیکھی سامیکا کے پرسا کو رکنا، پاکستان میں سوچیت سانچ کی میڈیا ایشیا کی دکھنی سیما کے نیکٹ سینیک اکٹے پریڈان کرکے سوچیت سانچ کی سینیک گتیبیتی کی نیریکھن کرنا ہے، کینٹو پاکستان اس سینیک گٹبندھن کو بھارت کے کیوڑی میں سہاہیت سامنہ ہوئے۔ سانکھپ میں، سیٹوں اور سیٹوں سانچ سانچوں میں سامیلیت ہونے میں پاکستان کا مول ڈیکھی ویشیت: کشمیر کے پریشان پر پیشیمی دلہوں کا سہیوگ تھا آرثیک اور سینیک سہاہیت پاٹ کرنا ہے۔

22.2.3 چین کے ساتھ میڈیا ایڈیان بھارت کے ساتھ یوڈھ- پاک ویДЕش نیتی کا تیسرا چرخ 1958 میں سینیک کرانی کے باہم پریپمی ہوتا ہے۔ اس کال (1958-68) میں راشٹرپتی جنرل ایجوب خاں پاک ویДЕش نیتی کے سانچالک ہے۔ ایجوب کی ویДЕش نیتی کے پرمیخ آیا ہے: (1) پیشیمی دلہوں سے سامنہ رکھنے ہوئے سوچیت سانچ تھا چین سے میڈیا بڑھنے کی نیتی کا سوچنیا، (2) چین کے ساتھ سیما کیا دل کرنا اور پاک چین میڈیا کی آدھار بھی تیار کرنا، (3) 19 سیتمبر، 1960 بھارت کے ساتھ سانچوں جل سانچ پر ہستاکھر کرنا تھا دوں دلہوں کے میڈیا جنگ دے کے بہت بڑے میڈیوں کو ہل کر لئے، (4) ایجوب کی پریڈر نیتی کی سب سے بڑی اسکھلیت 1965 کا بھارت-پاک یوڈھ ہے۔ اس یوڈھ میں سانچوک راچی امریکا نے بھارت اور پاکستان دوں دلہوں کی شاہیت سہاہیت بند کر دی فیر بھی ڈنکا ڈیکھی پاکستان کی اور ہی ہے۔ اس یوڈھ میں پاکستان کو بھارت کے ہاتھوں پریجی کا سامنا کرنا پڑا۔ بھارت-پاکستان کے بیچ تاشکنڈ سامنہ ہوئا ہے۔

22.2.4 بھارت-پاک یوڈھ اور بانگلادھ کا سوچنے ہونا- پاکستان کی ویДЕش نیتی کا چوتھا چرخ 1969 سے 1971 تک مانا جاتا ہے، اس ایڈیک میں یاہیا خاں پاک ویДЕش نیتی کے کرتا ہردار ہے۔ ڈنکو نے بانگلادھ پر ایڈیک پریپمی کیا۔ شوچ میڈیا کے نے تک میں پوری پاکستان میں سوچنے ہونا کا آنڈولن پریپمی ہوئا۔ پوری پاکستان سے لاخوں بانگلادھی شرمناہی بند کر بھارت

आने लगे। शरणार्थियों की संख्या भारत में एक करोड़ तक पहुंच गई। सितम्बर, 1971 में भारत और पाकिस्तान में दुसरा युद्ध प्रारम्भ हुआ। पाकिस्तान के 93 हजार सैनिकों ने भारतीय सेना के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। बंगलादेश स्वतन्त्र हो गया। यह पाकिस्तान की शर्मनाक पराजय थी।

22.2.5 अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिष्ठा का प्रयास- पाक विदेश नीति का पांचवां चरण (1972–1977) तक प्रारम्भ होता है, इस अवधि में जुलिफकार अली भुट्टों विदेश नीति के निर्माता थे। ऐसा कहते हैं कि भुट्टों की सबसे बड़ी उपलब्धि परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में ही थी। जब भुट्टों ने सत्ता संभाली, तो पाकिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय छवि धूमिल थी। बंगलादेश में जाति-वध के कारण पाकिस्तान लोकमत की आलोचना का शिकार हुआ। भुट्टों ने श्रीमति इन्दिरा गांधी के साथ 3 जुलाई, 1972 में शिमला समझौते पर हस्ताक्षर किए। शिमला समझौते के परिणाम स्वरूप पाकिस्तान जहाँ अपने 5139 वर्ग मील क्षेत्र पाने में सफल रहा वहीं युद्धबन्दी भी छुड़वा लिए गए। आलोचकों के अनुसार भारत के सैनिकों ने जो कुछ युद्ध के मैदान में जीता था, भुट्टों की कूटनीति के आगे भारत ने शिमला में खो दिया। भुट्टों की कूटनीति के परिणामस्वरूप अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक तथा आर्थिक सहायता पुनः प्रारम्भ कर दी। बाद में उसका सेनाध्यक्ष जनरल जिया उल हक ने उनका न केवल तख्ता ही पलटा, अपितु उन्हें फाँसी पर भी लटका दिया।

22.2.6 जनरल जिया उल हक का नेतृत्व- पाकिस्तान की विदेश नीति का छठा चरण सन् 1977 में जनरल जिया उल हक के सत्तासीन होने के साथ प्रारम्भ होता है। अमरीका उनका सबसे बड़ा कूटनीतिक मित्र था लेकिन अमरीका का कटूर शत्रु ईरान पाकिस्तान का सबसे बड़ा व्यापारिक साझीदार था। जिया ने ऐसी स्थिति बना दी थी कि अमरीका पाकिस्तान के बिना अपनी अफगान नीति में एक कदम भी परिवर्तन नहीं कर सकता था। उन्होंने पूर्व सोवियत संघ को भी जता दिया था कि उनकी इच्छा के बगैर वह शान्ति स्थापित नहीं कर सकता। अमरीकी दबाव के बावजूद उन्होंने अपना परमाणु कार्यक्रम जारी रखा, इसके बाद भी उनके बारे में यह धारणा रही कि इस उपमहाद्वीप में वे नरमपन्थी हैं और भारत के साथ दोस्ती चाहते हैं।

22.2.7 बेनजीर भुट्टों का नेतृत्व एवं लोकतन्त्र को महत्व- नवम्बर, 1988 में बेनजीर भुट्टों के प्रधानमंत्री बनने के साथ पाक विदेश-नीति का सातवां चरण प्रारम्भ होता है। उनके प्रधानमंत्री बनने से एक लम्बे समय बाद पाक में लोकतन्त्र का नया दौर प्रारम्भ हुआ। प्रधानमंत्री बनने के बाद बेनजीर ने कहा था कि आज पाकिस्तान गलत विदेश नीति के कारण मुश्किलों में फंस गया है। बेनजीर ने विदेश नीति को गतिशील बनाने के लिए कई कदम लड़ाए, जैसे (1) 11 फरवरी, 1989 को उन्होंने चीन की तीन- दिवसीय यात्रा की तथा द्वि-पक्षीय क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार विमर्श किया (2) 6 जून, 1989 को बेनजीर अमरीका की सरकारी यात्रा पर गई, जहाँ उन्होंने राष्ट्रपति जार्ज बुश तथा विदेश सचिव जेम्स बेकर से बातचीत की। श्रीमती भुट्टों ने कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए जिनके अन्तर्गत अमरीका पाकिस्तान को 60 एफ-16 विमान तथा 46 करोड़ डॉलर की सहायता प्रदान करने के लिए तैयार हुआ। (3) जुलाई, 1989 में श्रीमती भुट्टों ने ब्रिटेन तथा फ्रांस की यात्रा की। श्रीमती थैरेचर ने बेनजीर को और अधिक सहायता देने का आश्वासन दिया। (4) पाकिस्तान ने अक्टूबर 1989 में राष्ट्रमण्डल की पुनः सदस्यता प्राप्त की। (5) अक्टूबर, 1989 में श्रीमती भुट्टों ने बंगलादेश की यात्रा की। उन्होंने राष्ट्रपति जनरल इरशाद से बातचीत के दौरान 10 वर्षीय व्यापार समझौते को अन्तिम रूप देने पर बल दिया। इस समझौते के तहत पाकिस्तान से चावल एवं कपास के बदले बंगलादेश जूट तथा चाय की आपूर्ति करने पर सहमत हुआ।

बेनजीर की विदेश नीति में भारत-पाक सम्बन्धों को विशिष्ट महत्व दिया गया। वे भारत के साथ तनाव रहित सामान्य सम्बन्ध बनाने की इच्छा रखती थीं। उन्होंने पदासीन होने के तुरन्त बाद भारत के साथ युद्धवर्जन सम्बन्ध प्रस्ताव को टुकराते हुए कश्मीर समस्या सहित अन्य विवादों के निपटारे हेतु शिमला समझौते के महत्व को रखीकार किया। बेनजीर के शब्दों में, “भारत और पाकिस्तान शिमला समझौते की भावना से कश्मीर सहित अपनी सभी आपसी समस्याएं हल कर सकते हैं।” उन्होंने कश्मीर पर भारत विरोधी दृष्टिकोण अपनाया।

22.2.8 नवाज शरीफ का नेतृत्व एवं अमरीका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध- नवाज शरीफ के प्रधानमंत्री बनने के साथ 6 नवम्बर, 1990 को पाकिस्तान की विदेश नीति का आठवां चरण प्रारम्भ होता है। उन्होंने अमरीका से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने और भारत से सम्बन्ध सुधारने की इच्छा प्रकट की।

भारत के विरुद्ध आतंकवाद को पाकिस्तान के समर्थन तथा भारत के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने में उसकी प्रवृत्ति मार्च 1993 में मुम्बई में हुए बम विस्फोटों से प्रकट हुई। जम्मू-कश्मीर, पंजाब तथा देश के अन्य भागों में भारत के खिलाफ आतंकवाद

को पाकिस्तान की सहायता और दुष्प्रेरण से बातावरण दूषित हुआ और द्विपक्षीय सम्बन्धों पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा। खाड़ी संकट के दौरान पाकिस्तान ने बहुराष्ट्रीय सेना की तरफ से लड़ने के लिए अपनी सेना भेजी। पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध जम्मू और कश्मीर की स्थिति को लेकर एक देश-विशिष्ट के सम्बन्ध में प्रस्ताव पेश करने की कोशिश और उसके साथ ही जम्मू और कश्मीर में मानवाधिकार के उल्लंघन के बराबर प्रचार का प्रयास जेनेवा मानवाधिकार आयोग की और न्यूयार्क में तीसरी समिति की बैठकों में विशेष चर्चा का विषय रहा।

22.2.9 कश्मीर मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने का प्रयास- अक्टूबर, 1993 में बेनजीर भुट्टों के प्रधानमंत्री बनने के साथ पाकिस्तान की विदेश नीति का नवां चरण प्रारम्भ होता है। भारत-पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय सम्बन्धों में गिरावट- की प्रवृत्ति बनी रही। पाकिस्तान द्वारा कश्मीर मुद्दे का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने के सतत प्रयास, भारत के विरुद्ध आतंकवाद का निरन्तर समर्थन, भारत के साथ द्विपक्षीय बातचीत की शुरूआत करने के मुद्दों पर दूराग्रह और इसके निरन्तर नकारात्मक रूख ने बातावरण को दूषित बनाया। उग्रवादियों को प्रशिक्षण देने, उन्हें हथियारों से लैस करने, धन देने तथा उनका मार्ग निर्देशन करने के अतिरिक्त पाकिस्तान ने तीसरे देशों से भाड़े के सैनिक लेकर सीमा के पार से जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद को बढ़ावा दिया। कश्मीर समस्या का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने की इच्छा से संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग के 50 वें अधिवेशन (मार्च 1994) में पाकिस्तान ने जम्मू और कश्मीर में मानवाधिकारों की स्थिति पर एक प्रस्ताव लाने का निर्णय किया और उस पर समर्थन जुटाने के लिए एक सक्रिय अभियान छेड़ा। लेकिन बाद में कई मित्र देशों के कहने पर उसने अपना यह प्रस्ताव वापस ले लिया।

22.2.10 नवाज शरीफ का नेतृत्व और भारत-पाक सम्बन्धों में परिवर्तन- फरवरी, 1997 में सम्पन्न चुनावों में नवाज शरीफ के नेतृत्व में पाकिस्तान मुस्लिम लीग की जीत हुई और नवाज शरीफ प्रधानमंत्री बने। प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के बाद तत्काल ऐसा लगा कि नवाज शरीफ भारत से सम्बन्ध सुधारने की इच्छा रखते हैं। 28 से 31 मार्च, 1997 तक दोनों देशों के विदेश सचिवों के बीच हुई द्विपक्षीय बातचीत जनवरी, 1994 के बाद पहली अधिकारिक बार्ता थी। पूर्व प्रधानमंत्री इन्द्रकुमार गुजराल ने 9 अप्रैल, 1997 को पाकिस्तान के विदेशमंत्री गौहर अयूब खान से उस समय मुलाकात की जब वे गुट निरपेक्ष आन्दोलन की मन्त्रिस्तरीय बैठक के सिलसिले में नई दिल्ली की यात्रा पर आए थे। अपने प्रधानमंत्री काल में इन्द्रकुमार गुजराल ने 12 मई, 1997 को माले में सार्क शिखर सम्मेलन के दौरान, 23 सितम्बर, 1997 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के सत्र के दौरान न्यूयार्क में और 25 अक्टूबर, 1997 को राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों की बैठक के दौरान एडिनबर्ग में तथा 15 जनवरी, 1998 को बंगलादेश-भारत-पाकिस्तान व्यापार शिखर सम्मेलन के दौरान ढाका में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ के साथ द्विपक्षीय बातचीत की। वर्ष 1997-98 में भारत-पाक सम्बन्धों में सकारात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद जम्मू तथा कश्मीर और भारत के अन्य भागों में सीमा पार से आतंकवाद को पाकिस्तान द्वारा समर्थन और बढ़ावा देने में कोई कमी नहीं आई। अतः भारत की ओर से बार-बार अनुरोध किया गया कि सीमा पार से होने वाले आतंकवाद को समर्थन देने तथा जम्मू और कश्मीर में अकारण गोलीबारी को बन्द किया जाना चाहिए।

भारत में भाजपा नीत राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की सरकार बनने के बाद-पाकिस्तान के प्रति भारत ने कठोर दृष्टिकोण अपनाया। पूर्व प्रधानमंत्री इन्द्र कुमार गुजराल के 'लेने से ज्यादा देने' के सिद्धान्त का परित्याग कह दिया गया और नई सरकार ने स्पष्ट घोषणा की कि वह कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों को सहन नहीं करेगी।

(1) परमाणु विस्फोट और आर्थिक भंवर में फंसता पाकिस्तान- विश्व भर में हड़कम्प मचाने वाले भारत के परमाणु परीक्षणों के सिर्फ 17 दिन बाद 28 मई, 1998 को पाकिस्तान ने धमाके का जवाब धमाके से दिया। भारत ने चूंकि पांच परीक्षण किए थे सो पाकिस्तान को उतने धमाके तो करने ही थे बल्कि 'हिसाब बराबर करने' के बाद बढ़त भी लेनी थी, सो 30 मई को उसने एक ओर परीक्षण कर डाला। उसके परमाणु परीक्षणों की तीव्रता चाहे भारत जितनी नहीं थी, पर परमाणु बमों के मामले में यह बात मायने नहीं रखती थी। नवाज शरीफ ने जब परमाणु विस्फोटों की सफलता की घोषणा की तो समूचे पाकिस्तान में खुशी की लहर दौड़ गई। लोग इस बात से खुश थे कि उनका देश भारत से बराबरी प्राप्त करने के बाद 'अब आगे' निकल गया है। परन्तु विस्फोट के दो-तीन माह बाद ही पाकिस्तान आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण भंवरजाल में फंस गया। पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था प्रतिबन्धों का मुकाबला करने में अक्षम थी। पाकिस्तान पर 36 अरब डॉलर का विदेशी कर्ज था जो उसके सकल घेरलू उत्पाद का 72 प्रतिशत था। पश्चिमी देशों द्वारा आर्थिक मदद रोकने का असर दिखने लगा। परिणामतः तेजी से आर्थिक भंवर में फंसते राष्ट्र को उबारने के लिए नवाज शरीफ अपनी सरकार की नैया जैसे-तैसे खींचने की कोशिश में लगे दिखलायी दिए।

(2) कश्मीर मामले का अन्तर्राष्ट्रीयकरण- मई, 1998 में भारत द्वारा किए गए विस्फोटों के बाद पाकिस्तान ने कश्मीर मामले के अन्तर्राष्ट्रीयकरण में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। 11 मई को भारत और 28 मई को पाकिस्तान के परीक्षणों के बाद इस्लामाबाद और दिल्ली के बीच राजनीतिक पहल पहली बार 11 जून को हुई जब पाकिस्तान ने बातचीत प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन साथ ही एक शर्त भी लगा दी कि वार्ता तभी आगे बढ़ सकती है, जब भारत कश्मीर और शान्ति एवं सुरक्षा पर बातचीत के लिए तैयार हो जाए। सार्के के 10 वें शिखर सम्मेलन (29-31 जुलाई 1998) एवं डरबन में सम्पन्न 12 वें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में कश्मीर समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर लाने की कोशिश की।

(3) लाहौर घोषणा- भारत व पाकिस्तान के मध्य सौहार्द में वृद्धि के उद्देश्य से पाकिस्तान एवं भारत के प्रधानमंत्रियों ने सितम्बर, 1998 में अमरीका में हुई भेंट के समय दिल्ली-लाहौर के बीच सीधी बस सेवा प्रारम्भ करने का निर्णय किया। इस नीति के अनुसरण में भारत के प्रधानमंत्री ने फरवरी 1999 में दिल्ली-लाहौर की बस सेवा के उद्घाटन अवसर पर लाहौर का यात्रा करके ऐतिहासिक पहल की। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी तथा प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने लाहौर घोषणा पर हस्ताक्षर किये जो दोनों देशों की शांति और सुरक्षा के लिए एक युगान्तरकारी घटना है। इस यात्रा का पाकिस्तान के कहरपंथियों ने जोरदार विरोध किया।

(4) करगिल क्षेत्र में पाक सेना समर्थित घुसपैठियों के हमले- मई 1999 में जम्मू-कश्मीर के द्रास-करगिल-बटालिक क्षेत्र में पाकिस्तान समर्थक उग्रवादियों ने आक्रमण करके भारतीय सेना को व्यापक क्षति पहुंचाई। घुसपैठियों ने सभी प्रमुख पहाड़ियों पर कब्जा जमा लिया। पाकिस्तान ने पूरी तरह सोच समझकर नियोजित ढंग से करगिल सेक्टर में आक्रमण किया ताकि लद्दाख की जीवन रेखा को काटा जा सके तथा कश्मीर मुद्दे का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जा सके।

भारतीय सेना की भारी सफलता और जबरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के चलते पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने 5 जुलाई, 1999 को वाशिंगटन में अमरीकी राष्ट्रपति किंग्स्टन को आश्वासन दिया कि वे भारतीय भूमि से पाकिस्तानी सैनिकों और मुजाहिदीन को वापस बुला लेंगे तथा नियन्त्रण रेखा का पूरी तरह सम्मान करेंगे।

अतः नवाज शरीफ को पाकिस्तान का सबसे अधिक शक्तिशाली असैनिक प्रधानमंत्री माना गया है। इतिहास की विडम्बना यह है कि यह शक्तिशाली प्रधानमंत्री संकटों के ऐसे चक्रवृह में पैदा हुआ कि उसका उससे बाहर निकलना असम्भव सा होता गया। मई, 1998 के अन्तिम सप्ताह में अपनी विदेश नीति के कारण जनता की नजरों में जो महानायक बन गया था, बाद में अधिकांश लोग उसे खलनायक के रूप में देखने लगे।

22.2.11 जनरल परवेज मुशर्रफ का नेतृत्व एवं शासन में परिवर्तन- 12 अक्टूबर, 1999 को पाकिस्तान के थल सेनाध्यक्ष जनरल परवेज मुशर्रफ ने नवाज शरीफ सरकार का तख्ता पलटकर स्वयं को देश का मुख्य अधिशासी घोषित कर दिया। नवाज शरीफ की निर्वाचित सरकार का सेना द्वारा तख्ता पलट दिए जाने की विश्व में तीखी प्रतिक्रिया हुई। लेकिन उसका जनरल परवेज मुशर्रफ पर कोई प्रशांत नहीं पड़ा। वे वर्तगान गें भी गुटदृढ़ता से पाकिस्तान का शारान कर रहे हैं।

22.3 पाकिस्तान की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं

पाकिस्तान की विदेश नीति के विकास चरणों का अध्ययन करने से मूल प्रेरणा स्रोत भारत का भय और उसके निवारण के लिए मित्रों की खोज करना रहा है। कीथ कैलार्ड के शब्दों में “उसकी विदेश नीति पर निरन्तर केवल एक तत्व हावी रहा है- भारत के विरुद्ध सुरक्षा पान को इच्छा” अतः पाकिस्तान की विदेश नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित रूप से उभरती हैं।

22.3.1 भारत का विरोध- भारत का विरोध पाकिस्तान की विदेश नीति का आधार स्तम्भ है। भारत विभाजन के समय की घृणा और अविश्वास ने दोनों ही देशों को आज तक युद्ध की तैयारी में लगाए रखा। भारत के प्रति शत्रुता का विचार पाकिस्तान की धार्मिक राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन गया है। भारत और पाकिस्तान के मध्य चार बार युद्ध हो चुके हैं।

22.3.2 जम्मू-कश्मीर प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीयकरण- जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, किन्तु सर्वप्रथम तो पाकिस्तान ने युद्ध द्वारा उसे हथियाने का प्रयत्न किया, बाद में आतंकवाद और घुसपैठिए भेजकर अस्थिरता उत्पन्न करने की नीति अपनाई और अब पिछले कुछ वर्षों से पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर कश्मीर में मानवाधिकार हनन की घटनाओं का दुष्प्रचार करके इस प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न निकायों में, गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलनों में, सार्के शिखर सम्मेलनों में पाकिस्तान किसी-न-किसी बहाने कश्मीर मुद्दे को अवश्य उठाता है।

22.3.3 अमरीका का पिछलगू - पाकिस्तान भारतीय उपमहाद्वीप में अमरीका का पिछलगू एवं अमरीकी परस्त विदेश नीति अपनाने वाला देश है। पाकिस्तान 'सीटो' एवं 'सेण्टो' का सदस्य बना, पेशावर के अड्डे को अमरीका को उपभोग करने देने के लिए प्रतिबद्ध था, तथा अमरीका से हथियार प्राप्त करता रहा। जनरल मुशर्रफ भी अमेरिकी समर्थन के कारण ही अपने पद पर बने हुए हैं। वे अमरीका के कट्टर समर्थक हैं।

22.3.4 शस्त्रीकरण की नीति-पाकिस्तान पश्चिमी देशों से अस्त्र प्राप्त कर अपने को शक्तिशाली बनाता रहा। उसने अमरीका, चीन और यहां तक कि पूर्व सोवियत संघ से भी हथियार प्राप्त किए। पाकिस्तान यद्यपि इन्कार करता है, पर विशेषज्ञों का मानना है कि चीन और कुछ सीमा तक जर्मनी पाकिस्तानी बम के जनक होने का दावा कर सकते हैं। चीन ने अतीत में कई तरह के हथियारों के अलावा पाकिस्तान को परमाणु बम ले जाने वाली मिसाइल का भी जनक है।

22.3.5 इस्लामिक आधार- पाकिस्तान की विदेश नीति का इस्लामिक आधार रहा है। नवाज शरीफ ने घोषणा की थी कि शरीयत या इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था ही, जिसके मूल आधार कुरान और सुनी हैं, देश का सर्वोच्च कानून होंगा एक जमाने में भुट्ठों इस्लामिक बम बनाने की बात करते थे। भुट्ठों ने स्वयं लिखा है, "ईसाई, यहूदी और हिन्दू कौमों के पास यह हैसियत (परमाणु बम) है, साम्बवाद ताकतों के पास भी यह है, सिर्फ मुस्लिम सभ्यता ही इससे महरूम है।" 28 मई, 1998 को सारी दुनिया के सामने पाकिस्तान के परमाणु परीक्षण करने का औचित्य पेश करते हुए प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने कहा कि "सीधे अल्लाह से हुक्म मिलने पर ही उन्होंने वैज्ञानिकों को परमाणु परीक्षणों की इजाजत दी।"

22.3.6 सेना की भूमिका- इण्डिया दुड़े लिखता है, "जिस देश के कुल 57 साल के इतिहास में आधे समय फौजी शासन रहा हो, जहाँ फौजी शासक जियातल हक की 11 साल पहले मौत के बाद हर निर्भावित सरकार कार्यकाल पूरा करने के पहले ही बखास्त की जाती रही हो, जहाँ परमाणु बटन फौज के ही हाथ है।" सन 1947 के बाद पाकिस्तानी जनता को लम्बे समय तक सैनिक सत्ता के अधीन रहना पड़ा। सैनिक सत्ता का आज भी विदेश नीति के निर्माताओं पर यथोचित दबाव है ताकि राज्य की कुल आय का आधे से ज्यादा भाग सेना और रक्षा पर व्यय किया जा सके। विदेश नीति के निर्माण में सेना एवं सैनिक अधिकारियों की प्रभावक भूमिका से उग्र और आक्रामक विदेश नीति के लिए मार्ग प्रशस्त होता है।

22.4 सारांश

पाकिस्तान की विदेश नीति अवसरवादी रही है। वह कभी संयुक्त राज्य अमरीका तो कभी चीन और पूर्व सोवियत संघ के मोहरे के रूप में काम करता रहा है। अमरीका ने आर्थिक और सैनिक सहायता देकर न केवल उसकी परवरिश की अपितु इस ढंग से की कि पाकिस्तान एक बिगड़े हुए बच्चे के रूप में बढ़ा हुआ। भले ही उसने आणविक विस्फोट कर दक्षिण एशिया में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया हो, किन्तु वर्तमान में पाकिस्तान की आर्थिक दशा शोचनीय है। जार्ज बुश के नेतृत्व में अमरीका पाकिस्तान को विपुल आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है।

अध्यास प्रश्नावली

निवन्धात्मक प्रश्न

- पाकिस्तान की विदेश नीति के ऐतिहासिक विकास का परीक्षण कीजिए।
- पाकिस्तान की विदेश नीति को प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- जनरल परवेज मुशर्रफ की विदेश नीति का वर्णन कीजिए।
- लाहौर घोषणा पत्र का विस्तृत वर्णन करो।
- शिमला समझौता क्या है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

- आगरा शिखर वार्ता क्यों असफल हुई ?
- जनरल परवेज मुशर्रफ ने कब शासन सत्ता संभाली ?

अध्याय-23

भारत की विदेश नीति

संरचना

- 23.0 उद्देश्य
- 23.1 प्रस्तावना
- 23.2 भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व
 - 23.2.1 भौगोलिक तत्त्व
 - 23.2.2 विचारधारा का प्रभाव
 - 23.2.3 आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व
 - 23.2.4 ऐतिहासिक परम्पराएँ
 - 23.2.5 वैयक्तिक तत्त्व
 - 23.2.6 राष्ट्रीय हित
 - 23.2.7 आन्तरिक शक्तियों और दबावों का प्रभाव
- 23.3 भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ
 - 23.3.1 असंलग्नता की नीति
 - 23.3.2 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति
 - 23.3.3 मैत्री और सह-अस्तित्व की नीति
 - 23.3.4 साधनों की पवित्रता की नीति
 - 23.3.5 पंचशील की नीति
 - 23.3.6 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध
 - 23.3.7 संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने की नीति
 - 23.3.8 सेतुबन्ध का कार्य
- 23.4 भारत की विदेश नीति का विकास-
 - 23.4.1 भारतीय विदेश नीति : नेहरू युग
 - 23.4.2 शास्त्रीय युग
 - 23.4.3 इन्दिरा युग
 - 23.4.4 जनता युग
 - 23.4.5 इन्दिरा युग
 - 23.4.6 राजीव गांधी युग
 - 23.4.7 राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का युग

- 23.4.8 पी.वी. नरसिंह राव युग
 - 23.4.9 अटलबिहारी वाजपेयी युग
 - 23.4.10 देवेगौड़ा युग
 - 23.4.11 गुजराल युग
 - 23.4.12 अटल बिहारी वाजपेयी युग
 - 23.4.13 डॉ. मनमोहन सिंह का युग
- 23.5 सारांश

23.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू से लेकर वर्तमान कार्यरत प्रधानमंत्री मनमोहनसिंह तक भारत की विदेश नीति के बदलते प्रतिमानों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- भारतीय विदेश नीति के ऐतिहासिक आधार को समझ सकेंगे,
- विदेश नीति के निर्धारक तत्वों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं को समझ सकेंगे,
- विदेश नीति के बदलते प्रतिमानों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

भारतीय विदेश नीति, अन्य देशों की विदेश नीतियों की तरह विकसित पल्लवित, पुष्टि, और परिपक्व हुई है। भारत के सन्दर्भ में देखा जाये तो विदेश नीति देश के राष्ट्रीय आन्दोलन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक मूल्यों, राजनीतिक परिस्थितियों, स्थानीय विशेषताओं, नेतृत्व, व्यक्तित्व, भौगोलिक एवम् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं से प्रभावित रही है और उनका संचयी प्रभाव इसके निर्माण, शिक्षा, प्रतिमानों एवं स्वरूप पर पड़ा है। भारत जैसे बहुधार्मिक, विविध जातीयताओं, विविध संस्कृतियों एवं धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक देश में विदेश नीति का निर्माण एक कठिन समस्या थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति थी, ने विदेश नीति से सम्बन्धित मामलों में अभिरुचि लेना शुरू कर दिया था। प्रारम्भ में, कांग्रेस दल के वार्षिक सम्मेलनों में बाह्य नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किये जाते थे। परन्तु महात्मा गांधी के राजनीतिक मंच पर छा जाने के पश्चात् भारतीय नेताओं ने भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के प्रति विश्व दृष्टिकोण को अपनाया। महात्मा गांधी के शब्दों में—“भारत इस पृथ्वी के एशियाई एवम् अन्य गैर-यूरोपीय जातियों (Non-European Races) के खोज की कुंजी है।” उन्होंने आगे कहा कि भारत का धर्म न केवल अपने आप को ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त कराना है। बल्कि अपने सामीप्य और दूर के पड़ोसियों को भी।”

इस देश का राष्ट्रवादी क्षितिज और विस्तृत हुआ एवम् जवाहर लाल नेहरू जो विदेशी मामलों पर कांग्रेस की ओर से मुख्य अधिवक्ता थे, के साथ, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत की अभिरुचि और गहन हुई। पण्डित नेहरू ने सितम्बर, 1946 में एक प्रेस सम्मेलन में कहा था, “वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान कराने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन कराने का प्रयत्न करेगा। साथ ही वह दुनिया के शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।”

नेहरू का यह कथन आज भी भारत की विदेश नीति का आधार-स्तम्भ है। भारत की विदेश नीति की मूल बातों का समावेश हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 में कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देगा, राज्य राष्ट्रों के मध्य न्याय और सम्मानपूर्वक सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रयास करेगा, राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा सन्धियों का

सम्मान करेगा तथा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच फैसलों द्वारा निपटाने की रीति को बढ़ावा देगा।” पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार के गठन के साथ ही भारत अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करने लगा।

23.2 भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

भारतीय विदेश नीति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में किया गया। इसके निर्माण में प्राचीन भारतीय परम्परा और स्वाधीनता संग्राम के आदर्शों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। भारतीय चिन्तन और दर्शन में सदैव भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को स्वीकार किया गया और सहिष्णुता उसका स्वभाव रहा है। अतः जब भारत ने अपनी विदेश नीति में गुट-निरपेक्षता और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तत्वों को सर्वोपरि महत्व दिया तो इसके पीछे देश की ऐतिहासिक परम्पराएँ थीं। भारतीय विदेश नीति में उपनिवेशवाद, जातिवाद, फासीवाद का विरोध सन्निहित है, उसे राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस अनेक प्रस्तावों द्वारा स्पष्ट कर चुकी थी। इस प्रकार भारत की विदेश नीति का उदय किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं, बल्कि इतिहास की उपज रही है। पामर एवं पाकिंस के शब्दों में “भारत की विदेश नीति की जड़े चिंगत कई शताब्दियों में विकसित समस्याओं के मूल में छिपी हैं और इसमें चिन्तन शैलियों, ब्रिटिश नीतियों की विरासत, स्वाधीनता आन्दोलन तथा वैदेशिक मामलों में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की पहुंच, गांधीवादी दर्शन के प्रभाव, अहिंसा तथा साध्य और साधनों के महत्व के गांधीवादी सिद्धान्तों आदि का प्रभावशाली योग रहा।” डॉ. बी.पी. दत्त के अनुसार “ऐतिहासिक परम्पराओं, भौगोलिक स्थिति और भूतकालीन अनुभव भारतीय विदेश नीति के निर्माण में प्रभावक तत्त्व रहे हैं।”

भारत की विदेश नीति के निर्माण में जिन तत्त्वों का विशिष्ट महत्व रहा है, वे निम्नलिखित रूप से हैं :

23.2.1 भौगोलिक तत्त्व- किसी भी देश की विदेश नीति के निर्माण में उस देश की भौगोलिक परिस्थितियां प्रमुख और निर्णायक महत्व की होती है। सरदार के. एम. पणिकर के अनुसार, “जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उनका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्त्व से हुआ करता है।” एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि “यह समझना कठिन नहीं है कि भूगोल का सुरक्षा से कितना गहरा सम्बन्ध है। चूंकि हर देश की भौगोलिक विशेषताओं में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं आता, इसलिए प्रत्येक देश की वैदेशिक नीति के कुछ स्थायी पहलू होते हैं। वास्तव में, यह कहना अतिशयेक्षितपूर्ण न होगा कि वैदेशिक नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।” नेगोलियन बोनागार्ड ने भी कहा था कि “किसी भी देश की विदेश नीति उरके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।” डॉ. एयर्स का मत है कि “समझाते तोड़ जा सकते हैं, सन्धियां भी एकतरफा समाप्त की जा सकती हैं, परन्तु भूगोल अपने शिकार को कसकर पकड़े रहता है।” भारत के सन्दर्भ में उपर्युक्त बातें सही हैं। भारत की विदेश नीति के निर्धारण में देश के आकार, एशिया में उसकी विशेष स्थिति, तथा दूर-दूर तक फैली हुई भारत की सामुद्रिक और पर्वतीय सीमाओं का विशेष स्थान रहा है। भारत का समुद्री तट 3,500 मील और स्थलीय सीमाएँ 8,200 मील लम्बी हैं। केवल चीन के साथ भारत की सीमाएँ 1,500 मील लम्बी हैं जो विश्व में किसी भी साम्यवादी देश की गैर-साम्यवादी देश के साथ सबसे लम्बी स्थलीय सीमा है। उत्तर में साम्यवादी राष्ट्र चीन विद्यमान है। दक्षिण में हिन्द महासागर, दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर विद्यमान है। भारत का विदेशी व्यापार इन्हीं मार्गों से होता है। अतः समुद्री व स्थलीय सीमाओं की रक्षा के लिए भारत के पड़ोसी देशों से अच्छे सम्बन्धों और पश्चिमी राष्ट्रों की मित्रता की आवश्यकता है।

23.2.2 विचारधाराओं का प्रभाव- भारत की विदेश नीति के निर्धारण में शान्ति और अहिंसा पर आधारित गांधीवादी विचारधारा का भी गहरा प्रभाव रहा है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही संविधान के अनुच्छेद 51 में राज्य नीति के निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत विश्व-शान्ति की चर्चा की गयी। हडसन लिखते हैं कि “गांधी के शान्तिवाद ने देश को यह भरोसा दिलाया कि विश्व में शान्ति ‘समझातों’ से स्थापित हो सकती है, न कि रक्षात्मक संगठन बनाने से। भारत का यह कर्तव्य है कि वह विरोधी पक्षों से अलग रहे और उनमें मध्यस्थ का कार्य करे।”

23.2.3 आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व- स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से भारत की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक पुनर्निर्माण कर उसे आत्मनिर्भर बनाना रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे विदेशी पूँजी, तकनीकी ज्ञान और विश्व शान्ति की आवश्यकता है। भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मूल में यही तत्त्व अन्तर्निहित है कि अमरीका और सोवियत संघ दोनों भारत के मित्र बने रहें और दोनों से आर्थिक और तकनीकी सहायता प्राप्त होती रहे।

सैनिक दृष्टि से भारत शक्तिशाली राष्ट्र नहीं था। अपनी रक्षा के लिए अनेक दृष्टियों से वह पूरी तरह विदेशों पर निर्भर था। भारत की दुर्बल सैनिक स्थिति उसे इस बात के लिए बाध्य करती रही कि विश्व की सभी महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मैत्री बनाये रखी जाय। प्रारम्भ से ही भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य था, उसका भी यह मुख्य कारण था कि सैनिक दृष्टि से भारत ब्रिटेन पर ही निर्भर था।

23.2.4 ऐतिहासिक परम्पराएँ- अतीत से ही भारत शान्तिप्रिय देश रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि भारत ने कभी किसी देश पर राजनीतिक प्रभाव लादने या उसकी प्रादेशिक अखण्डता के भंग करने की कोशिश नहीं की। यह ऐतिहासिक परम्परा भारत की विदेश नीति का महत्वपूर्ण तत्व है।

भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का चरित्र और उसकी विशेषताएँ जैसे- शान्ति, समन्वय और सहिष्णुता की भावनाएँ, हमारी विदेश नीति का बहुत बड़ा आधार हैं। चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों का सामना करते हुए भी भारत ने अपने आक्रमणकारियों के प्रति सहिष्णुता और मित्रता का हाथ बढ़ाया है। जातीय रंगभेद की नीति का विरोध भारतीय मानवतावादी विचार से प्रभावित है, पंचशील के सिद्धान्तों पर बुद्ध के अष्टमार्ग भगवान महावीर तथा गाँधी की अहिंसा की अवधारणा पर आधारित है।

23.2.5 वैयक्तिक तत्त्व- पण्डित जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत के प्रधानमंत्री थे, अपितु विदेशमन्त्री भी थे। उनके व्यक्तित्व की छाप विदेश नीति के हर पहलू पर झिलकती है। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फ्रासीवाद के विरोधी थे। वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने के प्रबल समर्थक थे। वे महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति को ढाला और आज इसका जो कुछ भी रूप है वह पं. नेहरू के विचारों का ही मूर्त रूप है। वस्तुतः पं. नेहरू ही भारत की शान्तिबादी, गुट निरपेक्ष नीति के कर्णधार रहे हैं।

23.2.6 राष्ट्रीय हित- पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में स्पष्ट कहा था, “किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशीला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत की विदेश नीति का भी ध्येय यही है।” भारत का राष्ट्रीय हित क्या है? यह निर्धारित करना आसान नहीं है। भारत के दो प्रकार के राष्ट्रीय हित हैं—स्थायी राष्ट्रीय हित जैसे देश की अखण्डता और सुरक्षा तथा अस्थायी राष्ट्रीय हित, जैसे खाद्यान्न, विदेशी पूँजी, तकनीकी विकास आदि। यदा-कदा भारत की विदेश नीति में विरोधाभास दिखायी देता है, यह इस बात को सिद्ध करता है कि भारत की विदेश नीति में राष्ट्रीय हितों का सबसे बड़ा स्थान है। राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही भारत ने पश्चिमी एशिया के संकट में इजरायल के बजाय अरब राष्ट्रों का सदैव समर्थन किया। गुटनिरपेक्ष होते हुए भी ५ अगस्त, 1971 को सोवियत संघ के साथ एक 20 वर्षीय सन्धि की। भारत की विदेश नीति दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप के विरुद्ध है, परन्तु अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए ही भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की भर्त्सना नहीं की। वर्तमान में भी भारत अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ही अमरीका के साथ संबंध सुधारने का प्रयास कर रहा है।

23.2.7 आन्तरिक शक्तियों और दबावों का प्रभाव- किसी देश की आन्तरिक शक्तियाँ और दबाव समूह भी विदेश नीति के निर्धारण में प्रभावक भूमिका निभाते हैं। जब राष्ट्र आन्तरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ और मनोवैज्ञानिक रूप से एकता के सूत्र में गुंथा होता है तो राष्ट्र की विदेश नीति भी अधिक स्पष्ट सुदृढ़ और प्रभावशाली होती है, परन्तु जब राष्ट्र आन्तरिक (मतभेदों) के कारण विभक्त होता है और राजनीतिक अस्थिरता पायी जाती है तो विदेश नीति प्रायः शिथिल और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर प्रायः निष्क्रिय और प्रभावहीन होती है। भारत की विदेश नीति भी इसका अपवाद नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के 17 वर्षों तक भारत आन्तरिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से निर्बल होने पर भी विश्व राजनीति में इस कारण योगदान दे सका कि श्री नेहरू का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था। परन्तु 1964 में उनकी मृत्यु के बाद भारतीय विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कमज़ोर हो गई। उसके बाद श्रीमती गाँधी का व्यक्तिगत उभरकर सामने आते ही इस उप-महाद्वीप में उनके व्यक्तित्व का निर्णायक प्रभाव पड़ने लगा। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं कि उन पर भारत की पूर्ण पकड़ न रहने से उसकी भूमिका कमज़ोर पड़ गई।

23.3 भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ

सितम्बर 1946 में अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद से ही भारतीय विदेश नीति विकसित होने लगी। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा कि स्वतन्त्र भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी गुट में सम्मिलित नहीं होगा। भारत विश्व के किसी भी भाग में उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध करेगा और विश्व शान्ति के समर्थक देशों के साथ सहयोग करेगा।

पण्डित नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। यदि स्वाधीन भारत की विदेश नीति का समीक्षात्मक विश्लेषण करें तो निम्नलिखित विशेषताएँ हमारे सामने प्रकट होती हैं :

23.3.1 असंलग्नता की नीति- यह भारतीय विदेशनीति की प्रमुख आधारशिला है। गुटनिरपेक्षता गुटों की पूर्व उपस्थिति का संकेत करती है। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसने पाया कि विश्व की राजनीति दो विरोधी गुटों में विभक्त हो चुकी थी। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका और दूसरे का सोवियत संघ था। विश्व के अधिकांश राष्ट्र दो विरोधी खेमों में विभाजित हो गये और भीषण शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। शीत-युद्ध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और इसके साथ-साथ एक तीसरे महासमर की तैयारी होने लगी। स्वतन्त्र भारत के लिए यह एक विकट समस्या थी कि इस स्थिति में वह क्या करें? ऐसी स्थिति में भारत या तो दोनों में से किसी एक के साथ जुड़ सकता था अथवा दोनों से पृथक् रह सकता था। भारत के नीति निर्धारक कहने लगे कि वे विश्व के किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होंगे। गुटबन्दी में शामिल होना न तो भारत के हित में था न विश्व के। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी प्रश्नों पर वे गुटनिरपेक्षता की नीति का अवलम्बन करेंगे। भारत ने दोनों गुटों से पृथक् रहने की जो नीति अपनायी उसे “गुटनिरपेक्षता” की नीति के नाम से जाना जाता है।

इस नीति का आशय है कि भारत वर्तमान विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी में भी शामिल नहीं होगा, किन्तु अलग रहते हुए उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने की कोशिश करेगा और उनकी बिना शर्त सहायता से अपने विकास में तत्पर रहेगा। भारत की गुटनिरपेक्षता एक विधेयात्मक, सक्रिय और रचनात्मक नीति है। इसका ध्येय किसी दूसरे गुट का निर्माण करना नहीं बरन् दो विरोधी गुटों के बीच सन्तुलन का निर्माण करना है। असंलग्नता की यह नीति सैनिक गुटों से अपने आपको दूर रखती है, किन्तु पड़ोसी व अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहन देती है। यह गुटनिरपेक्षता नकारात्मक तटस्थिता, अप्रगतिशीलता अथवा उपदेशात्मक नीति नहीं है। इसका अर्थ सकारात्मक है अर्थात् जो सही और न्यायसंगत है उसकी सहायता और समर्थन करना तथा जो अनीतिपूर्ण एवं अन्यायसंगत है उसकी आलोचना एवं निन्दा करना। अमरीकी सीनेट में बोलते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कहा था, “यदि स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो वहां हम न तो आज तटस्थ रह सकते हैं और न भविष्य में तटस्थ रहेंगे।”

असंलग्न नीति का गुण्य आधार रैनिक गठबन्धनों से आगे आगे आगे गृथक् रखना, गहाशक्तियों के शीतयुद्ध से आगे आगे बचाये रखना, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गुणात्मक आधार पर स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता इत्यादि प्रमुख बातें सम्मिलित की जा सकती हैं। यदि गहराई से इसका विश्लेषण किया जाये तो असंलग्नता की विचारधारा एक विस्तृत विचारधारा है। जिसके माध्यम से न केवल असंलग्न राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र सोच-नीतियों को बनाये रख सकते हैं बल्कि इस तरीके द्वारा वह मूल बुराइयों जैसे- साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद जैसी शक्तियों के विपरीत अपने संघर्ष को जारी रखना एवं नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है। आज जो दक्षिण-दक्षिण सहयोग, उत्तरी दक्षिणी सहयोग, एशियाई आर्थिक सहयोग, आशियान जैसे महत्वपूर्ण संगठन बने हुए हैं, वे इस असंलग्न नीति की देन हैं। इसमें भारत का प्रमुख योगदान कहा जा सकता है। डॉ. वी.पी. दत्त ने अपनी पुस्तक ‘इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी’ में लिखा है कि “गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त विदेश नीति का दिशा सूचक रहा है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय हितों का संबद्धन हुआ है।”

23.3.2 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति- भारत की विदेश नीति सदैव ही विश्व-शान्ति की समर्थक रही है। भारत ने प्रारम्भ से ही यह अनुभव किया कि युद्ध और संघर्ष नवोदित भारत के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है। अपस्तु 1954 में सरदार के.एम. पण्डिकर ने कहा था, “भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से भानव-जाति की उत्तरि को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।” 1956 में स्वेज नहर के संकट के कारण भारत की आर्थिक योजनाएँ अत्यधिक प्रभावित हुई। 1967 के अरब-इजरायल युद्ध के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था बुरी तरह लड़खड़ाने लगी। शान्तिवादी नीति की घोषणा करते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि “हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति भी स्थिति बचाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम उसे रोकने में समर्थ हो सकें। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटाने के लिए भारत शान्तिमय साधनों, द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय वार्ताओं व समझौतों, मध्यस्थता, पंच-निर्णयों आदि पर बल देता है। उदाहरणतः, स्वतन्त्रता

प्राप्ति के समय से नदियों के पानी पर चल रहे भारत-पाक विवाद के कारण जो दोनों देशों में तनाव था उसे 1960 में 'सिन्धु जल सन्धि' द्वारा हल किया गया। कच्छ के प्रश्न को लेकर जब 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो भारत ने समस्या के शान्तिपूर्ण हल के लिए त्रिसदस्यीय ट्रिब्यूनल स्थापित करना स्वीकार कर लिया और भारतीय जनता के कड़े विरोध के बाद भी भारत सरकार ने राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर और सम्बन्धों को सुधारने हेतु ट्रिब्यूनल द्वारा दिये गये निर्णय को स्वीकार कर लिया। 1966 में ताशकंद समझौते में भी भारत ने पाकिस्तान को वे क्षेत्र लौटा दिये जो भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक थे। 1971 के युद्ध के बाद भी भारत ने पाकिस्तान के प्रति सद्भावना का दृष्टिकोण अपनाया और 1972 में शिमला में द्विपक्षीय वार्ताओं पर बल दिया। अप्रैल 1974 के त्रिपक्षीय समझौते द्वारा युद्धबन्दियों को लौटा दिया, उन 145 युद्धबन्दियों को भी लौटा दिया जिन पर बंगलादेश अमानुषिक हत्याओं के मुकदमे चलाना चाहता था। यह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का ही प्रतीक है कि भारत ने राष्ट्रीय हितों के बलिदान पर भी सितम्बर 1977 के फरक्का समझौते द्वारा पानी की कमी वाले दिनों में बंगलादेश को गंगा का अधिक पानी देना स्वीकार कर लिया।

भारत ने अन्य पड़ोसी देशों के साथ भी विवादों को निपटारा शान्तिमय साधनों से किया है।

23.3.3 मैत्री और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति- भारत की विदेश नीति मैत्री और सह-अस्तित्व पर जोर देती है। भारत की यह धारणा रही है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना पैदा हो। यदि सहअस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो आणविक शस्त्रों से समुच्ची दुनिया का ही खिनाश हो जायेगा। इसी कारण भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मैत्री सन्धियां और व्यावहारिक समझौते किये। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "विश्व में आज अलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है। हम दूसरों से अलग रहकर जिन्दा नहीं रह सकते। हमें या तो सहयोग करना चाहिए अथवा युद्ध। हम शान्ति चाहते हैं। अपना वश चलते हम दूसरे राष्ट्र के साथ लड़ाई नहीं चाहते हैं।"

23.3.4 साधनों की पवित्रता की नीति- भारत की नीति अवसरवादी और अनैतिक नहीं रही है। भारत साधनों की पवित्रता में विश्वास करता रहा है। भारत की विदेश नीति महात्मा गांधी के इस मत से बहुत प्रभावित है कि न केवल उद्देश्य वरन् उसकी प्राप्ति के साधन भी पवित्र होने चाहिए। यद्यपि उनके सत्य और अहिंसा के साधनों को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सका है, फिर भी भारत निरन्तर इस बात का प्रयत्न करता रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से किया जाये, हिंसात्मक साधनों से नहीं। स्वयं भारतीय संविधान में कहा गया है कि-

"राज्य (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का, (2) राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का, (3) संगठित लोगों के, एक-दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का, (4) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने इत्यादि का प्रयत्न करेगा।" यदि साधनों की श्रेष्ठता में भारत का विश्वास न होता तो 1965 का 'ताशकंद समझौता' एवं 1972 का 'शिमला समझौता' कभी नहीं किया जाता।

23.3.5 पंचशील की नीति- 'पंचशील' के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी भारत की शान्तिप्रियता का द्योतक है। 1954 के बाद से भारत की विदेश नीति को इन सिद्धान्तों ने एक नयी दिशा प्रदान की। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

- (1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना,
- (2) अनाक्रमण,
- (3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना,
- (4) समानता एवं पारस्परिक लाभ, तथा
- (5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'पंचशील' के इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वप्रथम 29 अप्रैल, 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते में किया गया था। 28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाउ-एन-लाई तथा भारत के प्रधानमंत्री पण्डित

जवाहरलाल नेहरू ने 'पंचशील' में अपने विश्वास को दोहराया। एशिया के प्रायः सभी देशों ने 'पंचशील' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पंचशील को सम्पूर्ण विश्व की मान्यता प्राप्त हो गयी। 'पंचशील' के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए निःसन्देह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं। 'पंचशील' के सिद्धान्त आपसी विश्वासों के सिद्धान्त हैं। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "यदि इन सिद्धान्तों को सभी देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओं का निदान मिल जायेगा।" भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सदैव ही पंचशील के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है।

23.3.6 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध- भारत उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को विश्व शान्ति के लिए संकट समझता है। वह स्वयं साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों का भुक्तभोगी रहा है, अतः उसके लिए साम्राज्यवाद का विरोध करना अत्यन्त स्वाभाविक है। साम्राज्यवाद का रूप चाहे कूटनीतिक हो या आर्थिक, भारत उसके सभी रूपों का विरोध करता है। भारत ने स्वदा उन राष्ट्रीय शक्तियों का समर्थन किया है जो स्वतन्त्रता संग्राम में लीन रही हैं। उदाहरणः भारत ने इण्डोनेशिया लीबिया, द्यूनीशिया, मोरक्को, मलाया, अल्जीरिया आदि अफ्रीकी राष्ट्रों के स्वतन्त्रता संग्राम का पूरा समर्थन किया है। जब इंगलैण्ड और फ्रांस ने 1956 में मिस्र पर आक्रमण किया और स्वेज नहर को हड्डपने की कोशिश की तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। पश्चिम एशिया में भारत ने डॉलर साम्राज्यवाद का सर्वदा विरोध किया और अरब राष्ट्रों का साथ दिया। दक्षिणी अफ्रीका और रोडेनिया में प्रजातीय विभेद अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था। वहाँ की गोरी सरकार काली चमड़ी वाले लोगों पर प्रजाति के आधार पर घोर अत्याचार करती थी। भारत इस नीति का जोरदार विरोध करता रहा।

संक्षेप में, जहाँ कहीं मानवता जातिभेद, रंगभेद, साम्राज्यवाद, सैनिकवाद या आतंकवाद का प्रभाव रहा है, भारत ने वहाँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में लीन शक्तियों का साथ दिया है।

23.3.7. संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने वाली नीति- भारत संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने वाला एक संस्थापक सदस्य है। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति स्थापित करने वाला एक सहारा मानता है। भारत के लिए यह संघ राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं व्यायोचित साधन है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों और विशेष अभिकरणों में सक्रिय रूप से भाग लेकर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत ने आज तक कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं किया और संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों का यथोचित सम्मान किया है। भारत का यह अभिमत है कि विश्व शान्ति की कल्पना संयुक्त राष्ट्र संघ के बिना नहीं की जा सकती है। यही एक ऐसी संस्था है जो विश्व को भय, अभाव और रोग से मुक्ति दिला सकती है।

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों का सक्रिय सदस्य रहा है। भारत अनेक बार सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य बना है, श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित महासभा की अध्यक्षा रह चुकी हैं। श्री बी.एस. राव और नगेन्द्रसिंह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य रहे हैं। स्वर्गीय डॉ. राधाकृष्णन यूनेस्को के सचिव पद को सुशोभित कर चुके हैं। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक अभिकरणों, समितियों आदि का भी सदस्य रहा है।

23.3.8 सेतुबन्ध का कार्य- भारत विरोधी गुटों में तनाव की स्थिति उत्पन्न होने पर सेतुबन्ध का कार्य करता रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "हमारा काम पुलों को बनाना है तोड़ना नहीं।" विभाजित एवं संघर्षमय विश्व में ऐसी शक्तियों की आवश्यकता है जो तनाव उत्पन्न होने की स्थिति में सेतुबन्ध का कार्य कर सकें।

23.4 भारत की विदेश नीति का विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की विदेश नीति स्वतन्त्र दृष्टिकोण और गुटनिरपेक्षता की रही है। उसके उद्देश्य हैं— विश्व-शान्ति को बनाये रखना, युद्ध की सम्भावनाओं को टालना, विवादों का मध्यस्थता या पंच-निर्णय द्वारा निपटारा करना, जातिभेद, रंगभेद और साम्राज्यवाद का विरोध करना तथा राष्ट्रीय हितों की स्थापना करना। भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने सितम्बर 1946 में कहा था कि "भारत वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए विश्व के समस्त पराधीन देशों के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करने वाला जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्ण उन्मूलन करने का प्रयास करेगा। साथ में वह विश्व के अन्य स्वतन्त्रता प्रेरिती और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावनाओं के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।"

भारत की विदेश नीति का निरन्तर विकास हुआ है। यह एक गतिहीन न होकर गतिशील विदेश नीति है। जैसे-जैसे भारत के राष्ट्रीय हितों में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन आया, विदेश नीति का स्वरूप भी बदलता गया। नेहरू के समय भारत 'तटस्थता' और 'गुटनिरपेक्षता' को अत्यधिक महत्व देता था तो श्रीमती इन्दिरा गांधी के समय भारत ने सोवियत संघ से सन्धि करना उचित समझा। उसका झुकाव सोवियत संघ के प्रति हो गया। जनता शासन में 'असली गुटनिरपेक्षता' पर जोर दिया जाने लगा तो राजीव गांधी ने श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना को भेजकर विदेश नीति को नवीन आयाम प्रदान किया। पी.बी. नरसिंह राव ने नैतिकता तथा मूल्यों पर आधारित नीति पर अधिक बल न देकर आर्थिक पहलू पर अधिक ध्यान देने की चेष्टा की। सोवियत संघ के विघटन के बाद, भारत की विदेशनीति को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इसे विभिन्न दबावों का सामना करना पड़ रहा है। डॉ. मनमोहनसिंह के नेतृत्व में भारतीय विदेशनीति का झुकाव अमरीका की ओर है।

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का विकास अग्रलिखित चरणों में विभाजित किया जा सकता है:

23.4.1 भारतीय विदेश नीति - नेहरू युग - पण्डित जवाहरलाल नेहरू को भारतीय विदेश नीति का निर्माता कहा जा सकता है। वे न केवल स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री और 17 वर्ष तक विदेश मन्त्री रहे, वरन् उससे पूर्व भी लगभग 25 वर्षों से अखिल भारतीय कंग्रेस के विदेशी मामलों के प्रमुख प्रवक्ता भी थे। वे अन्तर्राष्ट्रीयता और अखिल एशियावाद के समर्थक थे। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासीवाद के विरोधी थे। वे विश्व की जटिल समस्याओं से भली-भाँति परिचित थे। वे एक ऐसी विश्व-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। जो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित हो। परन्तु नेहरू यह भली-भाँति जानते थे कि विश्व की तनावपूर्ण परिस्थितियों, जटिल समस्याओं, विरोधाभासी शक्तियों एवं 'तीव्र वैचारिक मतभेदों के व्यास होने' के कारण विश्व में शान्ति एवं स्थायित्वपन को प्राप्त करना एक जटिल कार्य था क्योंकि बिना शांति और स्थायित्वपन के विकास कार्यों तथा गरीबी जैसी जटिल समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता था। अतः नेहरू एक ऐसे प्रतिरूप या मॉडल को विकसित करने में लगे जो समानता एवं न्याय पर आधारित हो। नेहरू के जीवनी लेखक माइकेल ब्रेशर ने लिखा है कि "नेहरू विश्व के सामने अपने देश की आवाज थे, वे शेष दुनिया के साथ अपने देश की नीति के दार्शनिक, निर्माता और यन्त्री थे। अन्य किसी देश में कोई व्यक्ति विदेश नीति के निर्माण में इतनी प्रभावक भूमिका अदा नहीं करता जितनी नेहरू भारत में करते हैं।" 'नेहरू युग' में भारतीय विदेश नीति के कठिपय महत्वपूर्ण पहलू इस प्रकार थे :-

(1) भारत और राष्ट्रमण्डल - नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण निर्णय लिया कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। उन्होंने कहा कि "वर्तमान विश्व में जबकि अनेक विध्वंसकारी शक्तियाँ सक्रिय हैं और हम प्रायः युद्ध के कगार पर खड़े हैं, मैं सोचता हूँ कि किसी समुदाय से सम्बन्ध विच्छेद करना अच्छी बात नहीं है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभदायक है। इससे भारत को लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग मिलेगा।" नेहरू यह जानते थे कि आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशों पर निर्भर है। इस स्थिति में एकाएक राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना उचित नहीं माना होगा अतः भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा।

(2) असंलग्नता - यद्यपि पण्डित नेहरू ने यह कहा कि असंलग्नता को 'नेहरू नीति' नहीं कहा जा सकता तथापि माइकेल ब्रेशर जैसे विद्वान यह मानते हैं कि असंलग्नता के सिद्धान्त का निर्माण और क्रियान्वयन यथार्थ में नेहरू की बहुत बड़ी देन है। नेहरू ने ही विश्व को असंलग्नता का सन्देश दिया है। नेहरू ने भारत के लिए जिस विदेश नीति का प्रतिपादन किया उससे देश की प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। एशिया और अफ्रीका में बहुत-से लोग नेहरू और उनके नेतृत्व वालों सरकार को शोषित मानवता का प्रवक्ता मानते थे और राजनीतिक पराधीनता एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध जारी संघर्ष में उनसे नैतिक और भौतिक समर्थन की अपेक्षा करते थे।

(3) महाशक्ति का सपना - नेहरू भारत को एक महान भविष्य अथवा महान स्थिति का राष्ट्र मानते थे। उन्हें विदित था कि एशिया के मानचित्र पर भारत की जिस प्रकार स्थिति है उसमें उसकी स्थिति, शक्ति एवं प्रभाव तथा क्षमता स्वयंसिद्ध है। वह एक बहुत बड़ी राजनीतिक इकाई है। दक्षिण, पश्चिमी और दक्षिण एशिया के देशों की स्थिति के प्रसंग में भारत की भूमिका इतनी केन्द्रीय है कि यदि वे स्वयं इसे न भी स्वीकार करे तो भी इस भूमिका के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। उनका अनुमान था कि यदि भविष्य में ज्ञांककर देखा जाये और यदि कोई बड़ा संकट नहीं आता है तो भारत अमरीका, सोवियत संघ और चीन के बाद स्पष्टतः चौथी महाशक्ति है। उन्होंने भारत को महाशक्ति बनाने को दृष्टि से ही यहाँ आधारभूत उद्योगों की स्थापना की।

(4) पंचशील- नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'पंचशील' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस कारण उन्हें आदर्शवादी कहा जाता था, किन्तु वस्तुतः यह उनकी यथार्थवादी कूटनीति थी। वे चीन को 'पंचशील' सिद्धान्तों में उलझाये रखना चाहते थे ताकि कोई बड़ा संघर्ष टाला जा सके। लेकिन उनकी चीन संबंधी नीति को भारी असफलता का सामना करना पड़ा, जबकि उसने भारत पर आक्रमण करके उसकी धजियाँ उड़ा दी।

(5) अफ्रोशियाई एकता- नेहरू एशिया और अफ्रीका के नव स्वतन्त्र राष्ट्रों की एकता के प्रबल समर्थक थे। एशियाई राष्ट्रों की एकता बनाये रखने के लिए उनकी पहल पर मार्च 1947 में नई दिल्ली में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया। दूसरा सम्मेलन इण्डोनेशिया के प्रश्न पर जनवरी 1949 में दिल्ली में आयोजित किया गया। नेहरू ने 1955 के बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लिया और वे चाहते थे कि इस सम्मेलन के द्वारा एशियाई देशों के बीच सहयोग और मित्रता की भावना को और मजबूत किया जाये।

23.4.2 भारतीय विदेश नीति- शास्त्री युग- पण्डित नेहरू के निधन के उपरान्त (27 मई, 1964) को श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री बने और 10 जनवरी 1966 में अपनी मृत्युपर्यन्त उन्होंने भारत की विदेश नीति का बड़ी कुशलता से संचालन किया। श्री शास्त्री ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यथार्थवादी नीतियाँ अपनायी। शास्त्री के समय विदेश नीति के मुख्य प्रावधान इस प्रकार से रहें :-

(1) पड़ोसी देशों के प्रति मधुर व्यवहार- शास्त्री ने विदेश नीति में यह परिवर्तन किया कि भारत को पड़ोसी देशों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों पर विशेष ध्यान दिया। इससे पूर्व नेहरू महाशक्तियों पर ही ध्यान केन्द्रित किये हुए थे। उन्होंने श्रीलंका के साथ समझौता करके नये युग का सूत्रपात्र किया।

(2) भारत-पाक युद्ध- 1965 में भारत-पाक युद्ध हुआ। इससे पूर्व दोनों देशों में कच्छ का समझौता हुआ था। शास्त्री के नेतृत्व में भारत ने पाकिस्तान को पराजित किया। जब पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर सैनिक कार्यवाही आरम्भ की, तो सैनिक विशेषज्ञों ने यह मत प्रकट किया कि स्थिति की यही मांग है कि विशाल पैमाने पर जवाबी आक्रमण किया जाये। शास्त्री ने बिना किसी हिचकिचाहट के विशेषज्ञों का तर्क स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में पाकिस्तान की वायु और टैंक शक्ति तहस-नहस कर दी गयी जबकि भारत की क्षति अपेक्षाकृत बहुत कम हुई। इस युद्ध में भारत की विजय से भारतीय जनता में शास्त्री की प्रतिष्ठा चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

(3) ताशकन्द समझौता- कश्मीर में हमारी सेना ने अत्यन्त सन्तोषजनक कार्यवाही की और युद्ध-विराम रेखा पर स्थित महत्वपूर्ण सामरिक स्थल हाजीपीर 'पास' पर अधिकार कर लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप के कारण दोनों देशों में युद्ध-विराम हुआ। सेवियत संघ ने प्रस्ताव रखा कि शास्त्री तथा अव्यूब खां ताशकन्द में मिलें। सेवियत नेता कोसीजिन चाहते थे कि भारत और पाकिस्तान युद्ध त्याग दें और कश्मीर समस्या तथा अन्य मामलों पर शान्तिपूर्ण ढंग से बात करके समझौता कर लें। 10 जनवरी, 1966 को कोसीजिन के प्रयास से भारत और पाकिस्तान के मध्य ताशकन्द में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। समझौते की शर्तों के अनुसार दोनों देशों ने युद्ध-पूर्व की सीपा-रेखा पर लौटना-स्वीकार किया तथा भविष्य में अपने सम्बन्धों को मित्रता और सहयोग के आधार पर विकसित करने का निश्चय किया। समझौते पर हस्ताक्षर करने के तुरन्त बाद ही शास्त्री का ताशकन्द में निधन हो गया। उनके बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री बनी। श्री शास्त्री का कार्यकाल अत्यल्प रहा। फिर भी उन्होंने अपने अत्यल्प कार्यकाल में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

23.4.3 भारतीय विदेश नीति : इन्दिरा युग- विदेश नीति की दृष्टि से श्रीमती गांधी के कार्यकाल को दो भागों में बांटा जा सकता है— पहला कार्यकाल 1966 से मार्च 1977 तक तथा दूसरा कार्यकाल जनवरी 1980 से अक्टूबर 1984 तक। अपने प्रथम कार्यकाल में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में भारत ने नेहरू द्वारा प्रतिपादित बुनियादी नीति का पालन करते हुए बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार आचरण करने की क्षमता का परिचय दिया। श्रीमती गांधी ने गुटनिरपेक्ष नीति को समय की मांग के अनुसार स्वतन्त्र, सर्जनशील और सक्रिय बनाने का प्रयास किया। आचार्य कौटिल्य ने विदेश नीति के छ: गुणों की चर्चा की है— सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संयम और द्वैधीभाव। श्रीमती गांधी ने समय-समय पर कौटिल्य की विदेश नीति के धनुष की छह डोरों को आंशिक रूप में बारी-बारी से प्रयोग करने का प्रयास किया। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि भारत अपनी प्रतिरक्षा के लिए अधिक दिनों तक

शक्तिशाली राष्ट्रों पर भरोसा नहीं कर सकता है। अतः उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वप्रथम साम्यवादी विस्तारवाद और अमरीका विस्तारवाद के बीच के सन्तुलन को साधने के लिए भारत की स्थिर विदेश नीति में परिवर्तन और क्रान्ति के मार्ग को अपनाया। अतः श्रीमती गांधी की विदेश नीति की प्रमुख उपलब्धियों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है।

(1) पड़ोसी- एशिया में अपनी बड़ी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण श्रीमती गांधी ने दूसरे देश के दौरां द्वारा पारस्परिक हितों के मामलों पर विचार-विमर्श करके और द्विपक्षीय बातचीत द्वारा आपसी समस्याओं को सुलझाकर अफगानिस्तान, नेपाल, श्रीलंका और बर्मा आदि अपने अत्यन्त निकट के पड़ोसी देशों के साथ घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। पारस्परिकता और आपसी लाभ के सिद्धान्त के अनुसार अफगानिस्तान और नेपाल के साथ घनिष्ठ आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बने।

(2) उपमहाद्वीप- जहाँ तक हमारे निकटतम पड़ोसी पाकिस्तान के साथ हमारे सम्बन्धों का सवाल था, इस दशक के आरम्भ में परिस्थितियाँ काफी अच्छी थीं। उसी समय ताशकन्द की जो घोषणा हुई थी, उससे दोनों देशों की समस्याओं को अच्छी तरह से समझने का मार्ग प्रशस्त हुआ। यदि इसे अच्छी भावना के साथ क्रियान्वित किया जाता तो इससे भविष्य में भाई-चोर तथा शान्ति की आशा का संचार होता। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, वह सदैव की तरह पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाना चाहता था। लेकिन पाकिस्तान की मनोवृत्ति और रवैये में विकृति के कारण बाद में वे सब घटनाएँ घटीं जिनका दिसम्बर 1971 में सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण सैनिक युद्ध में अन्त हुआ। इस युद्ध में पाकिस्तान की पराजय हुई। पूर्वी पाकिस्तान, स्वतंत्र बंगलादेश के रूप में अस्तित्व में आया।

(3) एशियाई सम्बन्ध- भारत ने समानता और आपसी हित के आधार पर दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया के देशों के साथ मैत्री और सहयोग का हाथ बढ़ाया। उसने 'आशियान' के तत्वावधान में इस क्षेत्र के देशों के बीच प्रादेशिक सहयोग का स्वागत किया और दक्षिण-पूर्वी एशिया को शान्ति, स्वाधीनता और तटस्थिता के एक क्षेत्र के रूप में विकसित करने की उनकी भावना का समर्थन किया। अगस्त 1947 में इण्डोनेशिया के साथ महाद्वीपीय समुद्र सीमा के पुनः निर्धारण के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। पश्चिमी एशिया में भारत ने लगातार अरब-इजरायली संघर्ष में अरबों का समर्थन किया।

(4) अफ्रीका- भारत की जाति-भेद और उपनिवेशवाद विरोध नीति और अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन के कारण उसका अफ्रीकी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। भारत ने कई अफ्रीकी देशों के साथ तकनीकी, आर्थिक और व्यापारिक समझौते भी किये।

(5) सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप- भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों की विशेष बात यह है कि 1971 में सोवियत संघ और भारत के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग के बारे में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। इस सन्धि से भारतीय उपमहाद्वीप में स्थिरता और शान्ति स्थापित होने में बड़ी सहायता मिली। इससे भारत के विरुद्ध किसी आक्रमण के खतरे की अवस्था में सोवियत संघ की सहायता का आश्वासन भी प्राप्त हुआ।

(6) अमरीका- श्रीमती गांधी ने अमरीका के प्रति अपनी नीति में कभी भी भ्रान्तियों का सहारा नहीं लिया। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाभिमान को कभी भी आचं नहीं आने दी। श्रीमती गांधी अपने शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बम वर्षा-बन्द कर देने एवं शान्ति स्थापना के लिए रचनात्मक कार्य किये जाने की इच्छुक थीं। उन्होंने अमरीकी दबावों का कुशलता से सामना किया।

(7) चीन- भारत निरन्तर इसी नीति का सहारा लेता रहा है कि चीन के साथ सम्बन्ध अच्छे हो जाये। 1976 में पीकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति भारत और चीन के सम्बन्धों में एक नयी शुरूआत थी। चीन में राजदूत की नियुक्ति का निर्णय भारत सरकार की विदेश नीति के घोषित सिद्धान्त के आदर्शों के अनुरूप था। इस निर्णय से भारत-चीन सम्बन्धों में सुधारों की प्रक्रिया का सुत्रपात हुआ।

(8) आर्थिक सहयोग पर बल- इस दशक में भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू आर्थिक सहयोग पर अधिकाधिक बल देना, विभिन्न देशों के साथ आर्थिक सहयोग के लिए दोनों देशों के संयुक्त कमीशन की स्थापना भारतीय तकनीकी और सहयोग के कार्यक्रमों का विकास, विशेषकर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासशील देशों के लिए तथा प्रादेशिक

अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर आर्थिक सहयोग का समर्थन-इन सब बातों से यह अच्छी तरह पता चलता है कि भारतीय विदेश नीति में आर्थिक विकास और आर्थिक सहयोग को कितना महत्त्व दिया गया है।

(9) अणु विस्फोट- श्रीमती गांधी ने महाशक्तियों के ग्रम और आशंकाओं को दूर करने के लिए भारत के वैज्ञानिकों ने 18 मई, 1974 को प्रथम परमाणु विस्फोट करके विश्व राजनीति में भारत को एक बड़ी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस सफल भूगर्भीय परीक्षण की संयुक्तराज्य अमरीका तथा पाश्चात्य राष्ट्रों ने कटु आलोचना करते हुए विभिन्न प्रतिबन्ध आरोपित कर दिये।

23.4.4 जनता सरकार एवं विदेश नीति- मार्च, 1977 के ऐतिहासिक परिवर्तन के बाद जनता सरकार की विदेश नीति के मूल सिद्धान्त भी वही रहे जो पण्डित नेहरू ने 1946-47 में निर्धारित किये थे। जनता सरकार की विदेश नीति भी गुटनिरपेक्षता, भाईचारा, शान्ति, सहअस्तित्व, पड़ोसी देशों से निकट सम्बन्धों के विकास आदि पर आधारित रही। भारत के भूतपूर्व विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा था कि “‘पार्टियों के बदल जाने से विदेश नीति नहीं बदलती।’” उनका दृढ़ विश्वास है कि विदेश नीति में ‘देश का हित’ सर्वोपरि होता है। “हम जीओ और जीने दो के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।”

जब प्रधानमंत्री श्री देसाई ने अक्टूबर 1977 में सोवियत संघ की यात्रा की तो उसके बाद संयुक्त घोषणा में दोनों देशों में ‘भिन्न राजनीतिक एवं आर्थिक तन्त्र होने के उपरान्त भी मित्रता’ जैसे तथ्य का समावेश किया गया। ऐसी खुगे एवं सपाट बातों का उल्लेख भारत-सोवियत सम्बन्धों में पहले नहीं होता था। कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार की मान्यता के बारे में भारत ने स्पष्ट किया कि नयी सरकार का स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं है और जब तक वैसा नहीं हो जाता हम कम्पूचिया को मान्यता नहीं दे सकते। श्रीमती गांधी के समय में अमरीका तथा चीन को अधिक रुष्ट न करते हुए सोवियत संघ के साथ उष्ण उत्त्साह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये गये, किन्तु जनता सरकार के समय में घनिष्ठ सोवियत सम्बन्धों को स्थिर रखते हुए अमरीका तथा चीन से अच्छे सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया गया। मोरारजी देसाई ने अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर को यह बता दिया कि भारत केवल तारापुर और राजस्थान के परमाणु संयन्त्रों के लिए पूर्व सहमत निगरानी शर्तों को ही मान सकता है, लेकिन ये जारी वह अन्य संयन्त्रों के बारे में नहीं मानेगा।

दूसरा परिवर्तन भारतीय विदेश नीति में उसके पड़ोसी देशों के प्रति सम्बन्धों में आया। पण्डित नेहरू के नेतृत्व में भारत की पड़ोसी देशों के साथ समस्याएँ उनके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उष्णगम से सुलझाने की प्रवृत्ति थी। यद्यपि श्रीमती गांधी ने उनके साथ सम्बन्ध मधुर करने में क्षेत्रीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया। फिर भी बंगलादेश की मुक्ति और सिक्किम का भारत में विलय होने देशों के लिए चिन्ता के विषय बने। कुल मिलाकर श्रीमती गांधी के समय में पड़ोसी देशों के साथ समस्याएँ निपटाने में ध्यान केन्द्रित किया गया, किन्तु विदेश नीति के संचालन में अपेक्षाकृत कम खुलापन होने से इन देशों ने भूमि एवं जनसंख्या की दृष्टि से विशाल भारत को सदैव शंका की दृष्टि में देखा। जनता सरकार की विदेश नीति में अपेक्षाकृत अधिक खुलापन होने से अब वे देश अपने रूख को बदलने लगे। नयी सरकार ने उदारतापूर्वक नेपाल के साथ तीन नयी सन्धियां कीं, बंगलादेश के साथ फरक्का विवाद को सुलझाया भारत के विदेश मंत्री वाजपेयी ने इस्लामाबाद की यात्रा की तथा चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध घनिष्ठ करने को राजनीतिक इच्छा व्यवहार में दिखाकर उन्हें प्रभावित किया। श्री वाजपेयी ने चीन की यात्रा भी की, लेकिन कम्पूचिया पर चीन के आक्रमण के कारण उन्हें यह यात्रा बीच में ही छोड़कर भारत आना पड़ा।

इस प्रकार भारतीय विदेश नीति की विषय-वस्तु में कोई आधारभूत अन्तर नहीं आया। जनता सरकार की आचरण शैली में भिन्नता होने के कारण देश की विदेश नीति की विषय-वस्तु अधिक प्रभावशाली एवं अर्थपूर्ण बनी। पड़ोसी देशों तथा विश्व की दृष्टि से भारत की अच्छी छवि बनी। वैदेशिक मामलों में जनता सरकार की यही सबसे बड़ी विशिष्ट सफलता है।

23.4.5 भारतीय विदेश नीति : इन्दिरा युग- इन्दिरा गांधी का द्वितीय कार्यकाल अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय चुनौतियों से ग्रस्त था। पुनः सत्ता में आने के कारण श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारतीय विदेश नीति को नई दिशा प्रदान करने, भारत को एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान करने तथा विश्व स्तर की गम्भीर समस्यायें जैसे निःशक्तीकरण, नाभिकीय और परम्परागत शस्त्रीकरण की होड़ रोकने, विश्व अर्थव्यवस्था के असन्तुलन को दूर करने के लिए अथक प्रयास किये।

इस काल में (1980-1984), द्वितीय शीत युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, क्षेत्रीय संघर्षों एवं तनावों में अभिवृद्धि हुई। सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में अपनी फौजों के जमाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा पर्यावरण एक चुनौती बन गई तथा भय

निवारण और भीषण प्रतिक्रिया के सिद्धान्तों में निहित पुरानी सामरिक अनिश्चितताओं को भड़काया- बढ़ाया गया। इस काल में रासायनिक, जैविकीय और जीवाणिक हथियारों के प्रयोग के विरुद्ध सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों के बावजूद इन्हें उन्नत करने और इसका भण्डार कायम करने के लिये विज्ञान और प्रोटोगिक के क्षेत्र की नई-नई विकासित तकनीकों से काम लिया गया। इसी प्रोटोगिक विकास के बल पर नाभिकीय शस्त्रास्त्रों वाले राज्यों में जिनमें कुछ विकासशील देश भी शामिल थे परम्परागत शस्त्रों के आधुनिकीकरण और उसके विविधीकरण और प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया गया।

ऐसी परिस्थितियों में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अमरीका के साथ सम्बन्ध सुधारने के गम्भीर प्रयास किये। इन्दिरा गांधी की 1982 की वाशिंगटन यात्रा के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच मतभेद दूर होने एवं सम्बन्धों में एक अच्छी शुरूआत होने में सहायता मिली। इन्दिरा गांधी जब अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन से अबटूबर, 1981 में कैनकुन में मिली, तो दोनों देशों के नेताओं के बीच राजनीतिक समर्क स्थापित हुआ। जुलाई-अगस्त 1982 ई. की यात्रा को इन्दिरा गांधी ने इसको एक समझ एवं 'मित्रता की खोज में साहस' का नाम दिया है। इन्दिरा गांधी और राष्ट्रपति रीगन ने दोनों देशों के बीच सामान्य हितों की अभिवृद्धि पर जोर दिया। श्रीमती गांधी ने अमरीकी वासियों को यह सन्देश दिया कि भारत की नीतियाँ ठोस धरातल पर आधारित हैं न कि किसी देश को प्रसन्न या अप्रसन्न करने एवं भास्त अमेरिका के साथ अपनी मौलिक नीतियों को त्यागे बिना एक रचनात्मक एवं सहयोगात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसके साथ-साथ श्रीमती गांधी ने यह भी स्पष्ट किया कि भारत, अमरीका द्वारा पाकिस्तान को बड़ी मात्रा में हथियार सप्लाई करने के पक्ष में नहीं है क्योंकि इससे न केवल क्षेत्रीय शक्ति सन्तुलन बिगड़ता है बल्कि इससे भारत अमरीका के सम्बन्धों में भी बिगड़ाव आता है।

श्रीमती गांधी ने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति की दिशा में अथक प्रयास किये। उनके कार्यकाल में भारतीय विदेशनीति का झुकाव सोवियत संघ की तरफ ही रहा।

23.4.6 भारतीय विदेश नीति : राजीव गांधी युग- 31 अबटूबर, 1984 को श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद उनके पुत्र राजीव गांधी को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई गई। उनके बारे में यह धारणा बनी हुई थी कि राजनीतिक अनुभवों के अभाव में वे देश के आन्तरिक और बाह्य मामलों पेचीदी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सदैव उच्च स्तरों का सहारा लिया। ऐसी स्थिति में राजीव गांधी ने सदैव साहस का परिचय दिया। राजीव गांधी के समक्ष ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण था जब संयुक्त राष्ट्र अमरीका और सोवियत संघ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के फलस्वरूप विश्व में आशा की एक नई किरण प्रस्फुटित हुई।

राजीव गांधी ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि विश्व एक ऐसे कगार पर खड़ा है जिसमें महत्वपूर्ण बात दो महाशक्तियों के बीच ऐतिहासिक और राजनीतिक सम्बन्धों को लेकर है। परन्तु जब तक दोनों में रचनात्मक सहयोग न होगा तब तक कोई भी व्यवस्था शान्ति के अनुरूप नहीं हो सकती। अतः राजीव गांधी ने भी श्रीमती इन्दिरा गांधी की विदेश नीति का अनुसरण किया। परन्तु राजीव गांधी युग की दो बड़ी विशेषताएं, विशेष रूप से बाह्य जगत के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में थी। प्रथम, भारत को औद्योगिक, विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में द्रुतगति से अन्य औद्योगिक राष्ट्रों की अग्रिम पर्याप्ति में लाने के लिए उन्होंने पश्चिमी देशों के साथ नये सिर्फ से भारत के संबंध स्थापित करने की पहल की। दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय व क्षेत्रीय मंचों जैसे असंलग्न आन्दोलन (NAM), राष्ट्र मण्डल (Commonwealth of Nations) व सार्क (Saarc) के माध्यम से उन्होंने अनेक समस्याओं पर भारत के पक्ष को जोरदार रूप में प्रस्तुत किया, जिससे भारत की सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय छवि बनने में मदद मिली। उन्होंने श्रीलंका में भारत की शान्ति सेता भेजी, जिसने वहाँ शान्ति स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। लेकिन श्रीलंका का उग्रवादी संगठन लिटटे उनका घोर शत्रु हो गया, तथा कालान्तर में उनकी हत्या कर दी।

23.4.7 भारतीय विदेश नीति : राष्ट्रीय मोर्चा सरकार- नवम्बर, 1989 में राजीव सरकार के पतन के बाद, विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बनी। प्रधानमंत्री वी.पी.सिंह की विदेश नीति वस्तुतः कांग्रेस विचारधारा पर ही आधारित विदेश नीति का अनुसरण मात्र ही थी। लेकिन कतिपय राजनीतिक टीकाकार यह मानते हैं कि राजीव गांधी की पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति कठोर नीति के स्थान पर वी.पी. सिंह सरकार की लचीलेपन की नीति अपनाई। वी.पी. सिंह के 11 महीने के कार्यकाल में श्रीलंका के साथ सम्बन्धों को सुधारने के लिए भारतीय शान्ति सेनाओं की वापसी करने का निर्णय लिया। परिणामस्वरूप शान्ति सेनाएँ 24 मार्च, 1990 तक वापस लौट आयीं और तमिल सुरक्षा की जिम्मेदारी श्रीलंका पर ढाल दी गयी। कुवैत से भारतीय नागरिकों को लाने का सफल प्रयत्न किया गया। विदेश मन्त्री इन्द्रकुमार गुजराल की उल्लेखनीय भूमिका रही।

नवम्बर, 1990 में चन्द्रशेखर के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार केन्द्र में सत्तारूढ़ हुई। उनके 8 माह के शासनकाल में खाड़ी संकट के समय कांग्रेस (इ) के दबाव में आकर अमरीकी विमानों को दी जाने वाली ईधन भरने की सुविधा बन्द कर दी थी।

23.4.8 भारतीय विदेश नीति : पी.वी. नरसिंह राव युग- 1991 में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और कूटनीतिक समीकरणों में आमूलचूल परिवर्तन आया। शीत-युद्ध का अन्त हुआ, सोवियत संघ का विघटन हुआ, खाड़ी युद्ध में विजय के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विश्व राजनीति में सर्वोपरिता कायम हुई। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नेतृत्वविहीन दिखायी देने लगा और भारत आर्थिक संकट के कगार पर आ खड़ा हुआ। ऐसे वातावरण में 20 जून, 1991 को पी.वी. नरसिंहराव देश के प्रधानमंत्री बने। उन्होंने दिसम्बर, 1991 में घोषणा की कि उनकी सरकार विदेश नीति को राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने के लिये एक 'गतिशील साधन' के रूप में प्रयुक्त करेगी। प्रधानमंत्री राव ने संसद सदस्यों का ध्यान दिलाते हुए कहा कि विश्व में जो नाटकीय परिवर्तन हो रहे हैं, उसकी भारत अन्वेषणी नहीं कर सकता। शीत युद्ध के बाद विश्व घटना चक्र जिस तेजी से बदल रहा है उसी के अनुरूप भारत को अपनी विदेश नीति शैली में तथा विषय-वस्तु में परिवर्तन करना या उसके अनुरूप ढालना अनिवार्य है। राव ने जोर देकर कहा कि यदि हम विदेश नीति, बाह्य सम्बन्धों एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में लकीर के फकीर बने रहे तो हम अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा नहीं कर पायेंगे। विदेश नीति की प्राथमिकताओं की ओर इंगित करते हुए, उन्होंने निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया-

- (1) भारत की एकता एवं प्रादेशिक अखण्डता को किसी प्रकार के संकट से बचाना है।
- (2) दक्षिण एशिया क्षेत्र में भू-राजनीतिक सुरक्षा के द्वारा स्थायित्वपन और शान्ति के लिये एक स्थायी पर्यावरण सुनिश्चित करना है।
- (3) इस क्षेत्र के लोगों के लिये आर्थिक कल्याण के लिये पर्याप्त वातावरण तैयार करना है।
- (4) अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मतभेदों को दूर करना सीमाओं पर तनाव को कम करने के लिये प्रभावशाली कदम उठाना है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए राव ने टकरावपूर्ण पद्धति के स्थान पर सहयोगात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्ति को अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने चीन के साथ सम्बन्धों की चर्चा करते हुए कहा कि 1988 से दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सुधारने के लिये भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गांधी ने जो ऐतिहासिक कदम उठाये, उनके सन्दर्भ में एशिया के इन दोनों बड़े राष्ट्रों ने पारस्परिक सहयोग एवं पंचशाल के सिद्धान्तों के आधार पर सम्बन्धों को गतिशीलता प्रदान की।

पड़ोसी राष्ट्रों के साथ भारत के सम्बन्धों का डल्लख करते हुए प्रधानमंत्री राव ने कहा कि भारत अपने द्विपक्षीय सम्बन्धों का वास्तव में कायापलट करना चाहता है, ताकि सहयोगात्मक सम्बन्धों का लाभ सम्बन्धित देश की सरकारों को मिल सके। यद्यपि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों जैसे मानव अधिकार व लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का समर्थन करता है परन्तु भारत किसी भी पड़ोसी राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति को पसंद नहीं करता है और न दूसरे पड़ोसी राष्ट्रों द्वारा भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप या भड़काने की कार्यवाही को सहन करेगा।

23.4.9 भारतीय विदेश नीति : अटल बिहारी वाजपेयी का युग - श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार लगभग 13 दिन के लिए मई 1996 में 11वीं लोकसभा के चुनावों के पश्चात् सत्तारूढ़ हुई। वाजपेयी सरकार ने अपनी विदेश नीति के तहत पाकिस्तान सहित दक्षिण एशिया के अपने सभी पड़ोसियों के साथ द्विपक्षीय रूप में तथा सार्क के मंच पर सम्बन्ध सुधारने पर विशेष जोर दिया। रूस के साथ सम्बन्धों की प्रगाढ़ता और भारत चीन सम्बन्धों को सुधारने पर जोर दिया गया। परमाणु ऊर्जा के शान्ति पूर्ण इस्तेमाल की प्रतिबद्धता पर जोर देते हुए राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक होने पर हमारी परमाणु नीति के पुर्णमूल्यांकन पर जोर दिया गया।

23.4.10 भारतीय विदेश नीति : देवेगोड़ा युग - 13 दलों की साझा सरकार पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंहराव की विदेशनीति से हटकर प्रभावशीलता व परिवर्तन का संकेत दे रही है। मई, 1996 के अंत में देवेगोड़ा ने जब प्रधानमंत्री पद ग्रहण किया तो ऐसी आशंकाएँ व्यक्त की जा रही थीं कि इस संविदा सरकार में भारत की विदेश नीति दिशाहीन, अप्रभावी होगी तथा इससे भारत के पड़ोसी देश, विशेषकर पाकिस्तान भारत के लिये सिरदर्द पैदा करेगा, और जिससे भारत दक्षिण एशिया में भी अपना प्रभाव खो बैठेगा। परन्तु ऐसी आशंकाएँ तथा मूल्यांकन गलत साबित हुये।

सबसे पहले सी.टी.बी.टी. (CTBT) के मामले पर देवेगोड़ा ने कड़ा रुख अपनाया। जिनेवा में जून व अगस्त 1996 के सम्मेलनों में सी.टी.बी.टी. (CTBT) के प्रारूप का कड़ा विरोध किया तथा कहा कि इस सन्धि में एक निश्चित अवधि में परमाणु शस्त्रों को नष्ट करने का जिक्र नहीं किया गया है। भारत ने इसके प्रारूप पर पहली बार अपने बीटो शक्ति का उपयोग किया जिससे अमरीका बहुत नाराज हुआ व भारत को चेतावनी भी दी। इसके बावजूद भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में सितम्बर, 1996 में सी.टी.बी.टी. (CTBT) का भारत ने विरोध किया जबकि प्रचंड बहुमत से इस सन्धि को पारित कर दिया। भारत ने ऐसा करके यह दिखाने का प्रयास किया कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा हितों के मामलों में चुप्पी धारण नहीं कर सकता।

23.4.11 भारतीय विदेश नीति : गुजराल - युग सौम्य राजनीतिक माने जाने वाले देश के 12 वें प्रधानमंत्री श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने वर्ष 1997 के प्रारम्भ में स्वघोषित 'गुजराल सिद्धान्त' में पाँच बिन्दुओं का उल्लेख किया है। प्रथम श्रीलंका, बांगलादेश, भूटान, मालद्वीप और नेपाल जैसे पड़ोसियों के साथ भारत पारस्परिकता के आधार पर सम्बन्धों को संचालित नहीं करेगा। अर्थात् भारत द्वारा जो रियायतें दी जायेगी उनके बदले में वह इन देशों से किसी प्रत्युत्तर की आशा नहीं रखेगा। द्वितीय, कोई भी दक्षिण एशियाई देश, इस क्षेत्र के किसी अन्य देश के विपरीत अपनी भूमि के उपयोग करने की अनुमति नहीं देगा, तृतीय, किसी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। चतुर्थ, सभी दक्षिण एशियाई, देशों को एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता एवं सम्भुता का आदर करना चाहिए और पंचम उन्हें अपने समस्त विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण द्विपक्षीय वार्तालाप द्वारा करना चाहिए।

23.4.12 भारतीय विदेश नीति : अटल बिहारी वाजपेयी- मार्च, 1998 को भारतीय जनता पार्टी के नेता अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में एक गठबन्धन सरकार केन्द्र में सत्ता में आई 11 और 13 मई, 1998 को वाजपेयी सरकार ने पोखरण में पाँच परमाणु परीक्षणों को अंजाम देकर भारतीय विदेश नीति में भारी परिवर्तन का संकेत दिया। प्रधानमंत्री वाजपेयी ने विदेश नीति पर संसद में बहस करते हुये घोषण की कि भारत व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (C.T.B.T) पर सितम्बर, 1999 से पहले हस्ताक्षर कर सकता है परन्तु भारत विखंडनीय परमाणु पदार्थ के उत्पादन (FMCT) पर रोक नहीं लगायेगा। उन्होंने सदन में जोरदार शब्दों में कहा कि भारत एक न्यूनतम विश्वसनीय परमाणु निवारक के सिद्धान्त का परित्याग किसी भी शक्ति के दबाव में नहीं करेगा। उन्होंने 'अग्नि' बेलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र के लम्बी दूरी तक प्रहार करने वाले नवीन संस्करण को जारी रखने का आश्वासन दिया।

वाजपेयी सरकार की विदेश नीति में निरंतरता व परिवर्तन दोनों के लक्षण स्पष्टः प्रकट होते थे। जहाँ एक ओर असंलग्न नीति की शीतोच्च प्रासंगिकता के औचित्य को ठहराते हुए वाजपेयी सरकार ने परमाणु विकल्प का उपयोग कर भारत की पूर्व परमाणु अस्पष्टता की नीति का परित्याग किया। वहीं दूसरी ओर भारत की चली आ रही भेदभाव रहित विश्व परमाणु निःशस्त्रीकरण की नीति के प्रति प्रतिबद्धता को दोहराया।

संक्षेप में, श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में विदेश नीति के प्रमुख सीमा चिह्न निम्नलिखित रूप से रहें हैं :-

- (1) नाभिकीय विकल्प का उपयोग करके अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में प्रमुख निर्णय लेना।
- (2) लाहौर की ऐतिहासिक बस यात्रा।
- (3) भारत में सार्क देशों से आयात पर 1 अगस्त, 1998 से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाने का निर्णय।
- (4) करगिल संकट के समय देश के लिए अधिकतम राष्ट्रों का राजनीतिक समर्थन हासिल करना तथा पाकिस्तान को राजनीतिक दृष्टि से अलग-थलग कर देना।
- (5) राष्ट्रमण्डल से पाकिस्तान को निलम्बित करवाना।
- (6) राष्ट्रपति विलंटन की भारत यात्रा दोनों देशों के बीच मधुर सम्बन्धों की दिशा में महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक घटना मानी जाएगी।
- (7) दक्षिण-पूर्व एशिया में भारत की बढ़ती हुई रूचि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण मेकांग-गंगा परियोजना है। प्रधानमंत्री वाजपेयी की वियतनाम एवं इण्डोनेशिया की यात्रा, भारत के राष्ट्रपति की सिंगापुर यात्रा इस क्षेत्र के देशों के साथ भारत के सम्बन्धों में एक नई शुरूआत है। भारत ने मलेशिया के साथ सैन्य क्षेत्र में सहयोग का प्रयास किया है।

- (8) भारत-यूक्रेन प्रत्यर्पण सन्धि (अक्टूबर 2002), भारत-फ्रांस प्रत्यर्पण सन्धि (24 जनवरी 2003), भारत-पोलैण्ड प्रत्यर्पण सन्धि (फरवरी, 2003), भारत यूरोपीय संघ सम्मेलन तथा भारत-आशियान कार्यसमूह का गठन।
- (9) जून, 2003 में वाजपेयी ने जर्मनी, फ्रांस और रूस की यात्रा की। एवियां (फ्रांस) में जी-8 की बैठक में भाग लिया। वाजपेयी इस बैठक में विकासशील देशों की ओर से विशेष आमन्त्रित थे। वाजपेयी ने यहां विश्व के नेताओं के सम्मुख आतंकवाद पर भारत की चिन्ताओं को दर्ज कराया।
- (10) वाजपेयी ने पाकिस्तान के साथ एक बार फिर वार्ता का सहारा लिया सार्क का 12 वां शिखर सम्मेलन (जनवरी, 2004) समाप्त होने के तुरन्त बाद भारत ने पाकिस्तान से बातचीत की प्रक्रिया पुनः शुरू करने की घोषणा की। सारांश में, अटलबिहारी वाजपेयी के कार्यकाल में भारत द्वारा पाकिस्तान तथा चीन के साथ संबंध सुधारने के प्रयास किये गये।

23.4.13 भारतीय विदेश नीति- डॉ. मनमोहन सिंह- मई, 2004 में 14वीं लोकसभा चुनावों के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में डॉ. मनमोहन ने 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' (UPA) की मिली-जुली सरकार का गठन किया। यह सरकार 61 सदस्यीय वामपन्थी दलों के बाहरी समर्थन पर टिकी हुई है।

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने 'साझा न्यूनतम कार्यक्रम' में विदेश नीति के बारे में उल्लेख किया गया है : पड़ोसी देशों से सम्बन्ध और सुधारने को प्राथमिकता खास तौर पर पाकिस्तान के साथ सभी मुद्दों पर सार्थक बातचीत के साथ-साथ चीन के साथ सीमा-विवाद पर और कारगर बातचीत के प्रयास और व्यापार व निवेश पर भी वार्ता के प्रयास। इनके अलावा अन्य सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध और प्रगाढ़ करने के प्रयास होंगे।

कांग्रेस के विदेश प्रकोष्ठ से जुड़े जे. एन. दीक्षित ने नई सरकार की विदेश नीति को रेखांकित करते हुए लिखा है :

भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार की संस्थागत तैयारियां केवल ऊपरी तौर पर थी। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् जो 1999 में गठित हुई संस्थागत रूप से काम नहीं कर रही थी। राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े अहम फैसले बेहद चलताऊ ढंग से किए गए। इसमें सुरक्षा पर कैबिनेट कमेटी, सुरक्षा पॉलिसी ग्रुप और राष्ट्रीय सलाहकार बोर्ड के अधिकारियों की सलाह का उपयोग किए बिना कुछ लोगों के साथ मिलकर निर्णय कर लिया जाता था। स्ट्रेटेजिक-पॉलिसी ग्रुप और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड के बीच कोई भी व्यवस्थित आदान-प्रदान नहीं था। साथ ही राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकारों के बीच भी विचारों-सूचनाओं का कोई खास आदान-प्रदान नहीं होता था। कांग्रेस सुरक्षा पर कैबिनेट की नियमित बैठकों को संस्थागत रूप देगी। वह राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार, स्ट्रेटेजिक पॉलिसी ग्रुप और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार परिषद् के बीच बेहतर तालमेल को संस्थागत रूप देगी। कांग्रेस रक्षा मन्त्रालय, विदेश मन्त्रालय, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड, सरकार और गुप्तत्र एजेन्सियों के बीच भी बेहतर तालमेल और सतत सम्बन्धों को सुनिश्चित करेगी।

आतंकवाद और अलगाववाद देश की प्रमुख समस्याएँ बनकर उभरे हैं। उत्तर-पूर्व और मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्रों में चरमपन्थियों की गतिविधियों ने गांधीर चुनौती प्रस्तुत की है। भारत अलगाववाद और आतंकवाद की दोहरी चुनौती से निवटने के लिए बहुरेखीय योजना लागू करेगा, लेकिन कांग्रेस का सबसे अहम काम यह होगा कि संक्रमण से गुजर रही और पृथक् विचारों से जु़़ रही विश्व में देश के हित को ध्यान में रखते हुए वह सभी स्वतन्त्र विकल्पों का प्रयोग करे। यह भारतीय विदेश नीति का मूल है, जिसको आधार बनाकर जवाहरलाल नेहरू ने एक राष्ट्रीय सहमति विकसित की थी। डॉ. मनमोहनसिंह के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार संयुक्तराज्य अमेरिका तथा रूस के साथ समान रूप से ही दूरी बनाये हुए हैं। पड़ोसी देशों के साथ संबंध सुधारने के प्रयास जारी हैं।

23.5 सारांश

भारत की विदेश नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेश नीति पूर्व सोवियत संघ से प्रभावित रही है और अरब-इजरायल विवाद में इसका रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी विदेश नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है। 1962 के चीनी आक्रमण ने पण्डित नेहरू की शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुंचाया। लेकिन गुटनिरपेक्षता की उपयोगिता में उनकी आस्था समाप्त नहीं हुई, क्योंकि संकटकाल में सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनों ने भारत को समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश नीति को

यथार्थवाद की ओर मोड़ा जाए तथा गुटनिरपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाए। परन्तु नेहरू की मृत्यु के पश्चात् इस देश की विदेश नीति आम तौर पर तदर्थवाद पर ही चलती रही। जैसे-जैसे कोई समस्या उत्पन्न हुई या कोई अचानक संकट आया, उसके अनुरूप जैसे-तैसे प्रत्युत्तर निर्णय लेने की आदत बन गई जो शैनः शैनः विदेश नीति का ही एक अभिन्न अंग बन गई।

वर्तमान, परिप्रेक्ष्य में अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में जो राजनयिक उपक्रम हुए हैं, वे इस बात के लिए हमें आश्वस्त करते हैं कि चाहे अमरीका हो, चाहे रूस या दुनिया का कोई अन्य छोटा-बड़ा देश, भारत समस्तरीय आधार पर राजनय करने में सक्षम देश है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के विकास का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. भारत की विदेश नीति के निर्धारिक तत्व क्या हैं ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. गुजराल सिद्धान्त क्या है ?
2. भारत की विदेश नीति के सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए ?
3. पंचशील के सिद्धान्त कौनसे हैं ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के कौन निर्माता थे ?
2. नरसिंह राव की विदेश नीति का प्रमुख लक्षण क्या था ?
3. भारत की विदेश नीति की मुख्य बातों का समावेश संविधान के किस अनुच्छेद में है ?

अध्याय-24

भारत-अमेरिका सम्बन्ध

संरचना

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 भारत-अमेरिका सम्बन्ध

24.2.1 नेहरू युग में भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1947-1964)

24.2.2 शास्त्रीकाल में भारत-अमरीकी सम्बन्ध
(1964-1965)

24.2.3 इन्दिरा गाँधी काल में भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1966-1977)

24.2.4 जनता सरकार और अमरीका
(1977-1980)

24.2.5 श्रीमती गाँधी और अमरीका
(1980-1984)

24.2.6 राजीव गाँधी और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1984-1989)

24.2.7 वी.पी. सिंह-चन्द्रशेखर और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1989-1991)

24.2.8 पी. वी. नरसिंह राव और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1991-1996)

24.2.9 एच. डी. देवगौड़ा-इन्द्रजीत गुजराल और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1996-1998)

24.2.10 अटल बिहारी वाजपेयी और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(1998-2004)

24.2.11 डॉ. बनमोहन सिंह और भारत-अमरीका सम्बन्ध
(2004 से)

24.2 सारांश

24.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत शीत युद्ध काल में एवं शीतयुद्धोत्तर काल में भारत अमरीका के बदलते सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- भारत-अमरीका सम्बन्धों की विकास यात्रा को समझ सकेंगे,
- शीतयुद्धोत्तर भारत-अमरीका सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- वर्तमान भारत-अमरीकी सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

भारत और अमरीका के सम्बन्धों का युद्धोत्तर इतिहास इनको सुधारने की इच्छा होते हुए भी मैत्रीभाव के स्थान पर मतभेदों का क्षेत्र अधिक रहा है। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दोनों देशों के दृष्टिकोणों में गम्भीर भिन्नताएँ रही हैं। लोकतन्त्र का समर्थक होते हुए भी अमरीका ने विदेशों में तानाशाह शासनों और शासकों का समर्थन किया है और हथियारों की सप्लाई को निरन्तर जारी रखकर विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में तनाव की स्थिति को उत्पन्न किया है। दिनमान ने लिखा है कि “घर में लोकतन्त्र और बाहर तानाशाही, अमरीका की विदेश नीति का आधार स्थान रहे हैं, वियतनाम हो या चिली, ग्रीस हो या पुर्तगाल, अमरीका ने आरम्भ से ही फौजी तानाशाही का समर्थन किया और लोकतन्त्र के दमन में महत्वपूर्ण और सक्रिय योगदान दिया। सी. आई. ए. अमरीकी विदेश नीति का केवल एक कारण अस्त्र है। अमरीकी विदेश नीति का दूसरा अस्त्र है उन देशों को हथियारों की सप्लाई, जो कि अमरीका के प्रभाव क्षेत्र में बने रह कर प्रतिद्वन्द्वी देशों के लिए चुनौती बन सकते हैं। संक्षेप में, ‘शान्ति का कपोत’ और ‘तलवार’ अमरीकी विदेश नीति की दो प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। अतः भारत-अमरीका सम्बन्ध कटुता-मित्रता के अद्वितीय उदाहरण को इंगित करते हैं।

24.2 भारत-अमरीका सम्बन्ध

भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। सम्बन्धों के बदलते हुए इस स्वरूप का निम्नलिखित रूप से अध्ययन किया जा सकता है-

24.2.1 नेहरू युग में भारत और अमरीकी सम्बन्ध (1947-1964)- एक अवधि राष्ट्र के रूप में भारत का अविर्भाव उसके बाद से ही अमरीकी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य रहा कि भारत को गुट में लाया जाए और इसके लिए ‘दबाव तथा सहायता की नीति’ अपनाई गई। जब दिसम्बर, 1947 में कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में लाया गया तो अमरीका ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया। जब साम्यवादी चीन का उदय हुआ तो अमरीका ने भारत पर दबाव डाला कि वह चीन को मान्यता न दे, किन्तु भारत ने अमरीकी दबाव को नजरन्दाज करते हुए 1949 में चीन को मान्यता दे दी। भारत के उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया गया और सुरक्षा परिषद् में अमरीकी प्रस्ताव का समर्थन भी किया, लेकिन बाद में जब अमरीकी कमान के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रीय सेना ने 38 वीं अक्षांश रेखा पार कर डत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया तो भारत ने इसका विरोध किया। कोरिया युद्ध में भारत की गुट-निरपेक्ष नीति और शान्ति प्रवासीों की अमरीका ने कटु आलोचना की। जब सितम्बर 1951 ई. में जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए आयोजित सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन में भारत ने शामिल नहीं होने का निर्णय लिया और अमरीका की इस एक-तरफा शान्ति सन्धि का (जिसमें युद्धकालीन मित्र-राष्ट्रों चीन तथा सोवियत संघ को शामिल नहीं किया गया था) विरोध किया तो अमरीका के समाचार पत्र भारत पर उबल पड़े। हिन्द-चीन की समस्या पर भी दोनों देशों के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर रहा।

मई, 1954 में भारत में अमेरिका के प्रति तब बहुत अधिक असन्तोष फैला जब उसने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक सन्धि कर उसे इस बहाने भारी सैनिक सहायता देना प्रारम्भ किया कि इन अमेरिकी हथियारों का प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किया जाएगा। लेकिन 1965 और 1971 के युद्धों ने भारत की इस आशंका को भली प्रकार सत्य सिद्ध कर दिया कि अमरीका के हथियारों का प्रयोग उसके विरुद्ध होना था। सन् 1954 में पाकिस्तान को सीएटो और सेण्टो का भी सदस्य बना लिया, जिसका पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने द्वारा विरोध किया। उहोंने ट्रॉमैन-सिद्धान्त तथा आइजनहॉवर-सिद्धान्त की कटु आलोचना करके अमरीका को नाराज कर दिया। भारत ने लेबनान और जार्डन में अमेरिकी हस्तक्षेप का विरोध करके अमेरिका की नाराजगी मोल ले ली। जब दिसम्बर, 1961 में भारत ने गोवा को पुर्तगाल की दासता से मुक्त किया तो सुरक्षा परिषद् में अमेरिका के प्रतिनिधि ने भारत का विरोध किया। भारत की वियतनाम सम्बन्धी नीति भी अमेरिका को नाराज करने वाली थी।

असहयोग और तनाव के बावजूद भारत और अमेरिका में सहयोग का क्षेत्र भी बहुत व्यापक रहा। अमेरिका ने भारत को अपने पक्ष में करने के लिए आर्थिक और खाद्यान की कूटनीति का सहारा भी लिया। न केवल अमेरिका से भारत को विपुल आर्थिक सहायता प्राप्त हुई, बल्कि उसकी प्रेरणा से ही विश्व विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तकनीकी सहयोग आदि संस्थाओं ने भी भारत को काफी आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता प्रदान की। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सहयोग का विस्तार हुआ। फुलब्राइट योजना के अन्तर्गत दोनों देशों के बीच विद्वानों का आदान-प्रदान किया। अमरीका ने भारत को आर्थिक सहायता और खाद्य

संकट में खाद्यान्नों की सप्लाई करके उदारता दिखाई, लेकिन साथ ही अपनी कूटनीतिक चालों से उसे परेशान भी किया। पण्डित नेहरू ने अमरीका की दबाव-नीति का साहसपूर्वक सामना किया। दिसम्बर, 1959 में अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत-यात्रा से आशा की गई थी कि दोनों देशों के बीच सहयोग के नए युग का प्रादुर्भाव होगा। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भारत को विशेष सम्मान देते हुए चार वर्ष की अवधि के लिए पी.एल. 480 नामक एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत अमरीका ने भारत को पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न भेजने का आश्वासन दिया।

नवम्बर 1960 में जे. एफ. कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति बने और उनके नेतृत्व में अमरीका ने अपनी विदेश नीति में अत्यन्त साहसपूर्ण और दूरगमी परिवर्तन किये। उनसे पूर्व अमरीका यह बात मानने के लिए तैयार नहीं था कि कोई राष्ट्र सम्यवाद और लोकतन्त्र के संघर्ष में असंलग्न रह सकता है। कैनेडी ने निर्गुटा को मान्यता दी और भारत अमरीकी सम्बन्धों को मधुरिमा प्रदान की। अक्टूबर 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब भारत के अनुरोध पर कैनेडी ने बिना किसी शर्त के पर्याप्त मात्रा में भारत को युद्ध समग्री भेजी। कैनेडी का स्पष्ट मत था कि “हम चाहते हैं कि लाल चीन और भारत की इस प्रतिस्पर्द्धी में भारत विजयी हो। हम चाहते हैं कि मुक्त और उभरते हुए एशिया का नेतृत्व मुक्त और उभरता हुआ भारत करे।”

24.2.2 शास्त्री काल में भारत-अमरीकी सम्बन्ध (1964-1965)- कैनेडी के बाद लिण्डन बी. जॉनसन अमरीका के राष्ट्रपति बने। उनका विचार था कि भारत के नये प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री पण्डित नेहरू के मुकाबले एक कमज़ोर नेता सिद्ध होंगे अतः उनको दबाव द्वारा अमरीका के पक्ष में सरलता से झुकाया जा सकेगा, लेकिन शीघ्र ही उनकी यह धारणा असत्य सिद्ध हुई। शास्त्री काल के प्रारम्भ में तो दोनों देशों में कोई बिगड़ाव नहीं आया लेकिन जब उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बम वर्षा हुई तो भारत ने अमरीका की आलोचना की। मई, 1965 की शास्त्री की प्रस्तावित अमरीकी यात्रा को रद्द कर दिया, जिसे भारत ने बहुत गंभीरता से लेते हुए इसे अपना अपमान समझा। इससे दोनों देशों के संबंधों में कदुता की स्थिति उपस्थित हो गई।

1965 में भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध अमरीकन शस्त्रास्त्रों के प्रयोग के कारण भी भारत-अमरीका सम्बन्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस युद्ध के दौरान अमरीका का रुख भारत विरोधी रहा। यह उल्लेखनीय है कि 1965 में अमरीका द्वारा भारत-पाक युद्ध के दौरान 6 जहाजों में भारत के लिए जो सामग्री भेजी गयी थी, उसे अमरीका ने भारतीय तट से केवल 15 किलोमीटर दूरी से बाप्स बूला लिया। इतना ही नहीं, जब पाकिस्तान ने अमरीकन शस्त्रास्त्रों का भारत के विरुद्ध प्रयोग किया तो अमरीका ने पाकिस्तान की इस कार्यवाही पर कोई आपत्ति नहीं की। इसके साथ ही दोनों देशों (भारत, पाकिस्तान) को सैनिक साज-सामान और आर्थिक सहायता भी स्थगित करने का निर्णय लिया। उस समय भारत में खाद्यान्नों का भारी संकट था। इस परिप्रेक्ष्य में अमरीकी सहायता के अन्तर्गत खाद्यान्नों की आपूर्ति बन्द करने की धमकी हर दृष्टि से कठोर एवं निर्मम थी। इसका उद्देश्य भारत को संकट में डालना था।

संक्षेप में, 1965 के भारत-पाक युद्ध में भारत अमरीकी सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये थे। उसने भारत के साथ तटस्थता तथा पाकिस्तान के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार किया।

24.2.3 इन्दिरा गांधी काल में भारत-अमरीकी सम्बन्ध (1966-1977)- 10 जनवरी, 1966 को शास्त्रीजी के देहान्त के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमंत्री बनी। मार्च, 1966 में श्रीमती गांधी ने अमरीका की यात्रा की, किन्तु उसके कोई अनुकूल या सकारात्मक परिणाम नहीं निकले। अमरीकी प्रशासन ने अपनी दबाव नीति में उत्तरोत्तर वृद्धि की। खाद्यान्न के मामले में कैनेडी के चार-वर्षीय सहायता कार्यक्रमों को पुनः लागू नहीं किया गया। उसके स्थान पर अल्पकालीन कदम उठाने की नीति अपनाई गई। भारतीय रूपये के अवमूल्यन के लिए भी प्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला गया।

भारत-पाक युद्ध काल में बन्द की गई आर्थिक सहायता यद्यपि पुनः चालू कर दी गई, तथापि यह अत्यल्प राशि थी। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का समर्थन किया गया और अप्रैल, 1967 में विद्रोही नागा नेता को अमरीका में शरण दी गई। अमेरिकी रक्षा-सचिव मैकेनमारा ने भारत-पाक संघर्ष को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की संज्ञा दी। जिसकी भारत में तीव्र भर्त्सना की गई। 1967 में यह भी रहस्योदयाटन हुआ कि भारत में अनेक संगठनों के माध्यम से सी. आई. ए. अपनी भारत-विरोधी कार्यवाही कर रहा था। 1968 में भारत को अमरीका की ओर से सहायता राशि स्वीकृत की गई, यह राशि पिछले 20 वर्षों में सबसे कम थी। अमेरिकी सहायता में कटौती से भारत की आर्थिक योजनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ा, लेकिन श्रीमती गांधी ने अमेरिकी दबाव का सफलतापूर्वक सामना किया।

1969-70 का वर्ष भारत अमरीकी सम्बन्धों में एक प्रकार से शीतयुद्ध का वर्ष था। वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशों में तनाव बढ़ गया। भारत सरकार ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1970 में उत्तर वियतनाम के साथ पूर्ण राजनयिक सम्बन्धों की घोषणा की। 1970 में भारत सरकार द्वारा भारत में त्रिवेन्द्रम एवं लखनऊ में स्थित अमरीकन सांस्कृतिक केन्द्र बन्द करवा दिये गये क्योंकि ऐसी शंका थी कि केन्द्रों के माध्यम से अवांछित कार्य किये जाते हैं। स्वाभाविक रूप से अमरीकन सरकार इससे अप्रसन्न हुई। इसी समय कम्बोडिया में अमरीकन फौजों के प्रवेश का भारत ने विरोध किया। इस प्रकार दोनों देशों के बीच मतभेद बढ़ते गये।

अमरीकन सरकार द्वारा प्रकाशित भारत के नवशों ने भारतीय संसद एवं जनता में आक्रोश उत्पन्न कर दिया। भारत स्थित अमरीकन सूचना केन्द्र के एक प्रकाशन 'संयुक्त राष्ट्र के बीस वर्ष' में भारत का क्षेत्रफल 30, 46, 232 वर्ग किलोमीटर बताया गया था। इस क्षेत्रफल में जम्मू एवं कश्मीर का भाग सम्मिलित नहीं किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघियकी वार्षिक पत्रिका, 1965 में भी ऐसा ही प्रकाशित किया गया था। भारतीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत का क्षेत्रफल 1 जनवरी, 1966 को 32, 68, 090 वर्ग किलोमीटर था। 5 अगस्त, 1970 को इस विषय पर भारत सरकार का ध्यान संसद में आकर्षित किया गया और इस प्रकाशन पर आपत्ति प्रकट की गयी। 1971 में दोनों देशों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुंच गया। पूर्वी पाकिस्तान में पाकिस्तानी सेना के अत्याचारों के कारण लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत आ गये। यह पाकिस्तान का भारत पर अप्रत्यक्ष आक्रमण था जिसने देश की अर्थव्यवस्था को चरमरा दिया। भारत और विश्व के अनेक देशों के अनुरोध के बावजूद अमेरिका ने इस मानवीय समस्या पर ध्यान नहीं दिया। 3 दिसम्बर, 1971 को भारत एवं पाकिस्तान के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस समय अमरीका ने सुरक्षा परिषद् में भारत विरोधी प्रस्तुत किये किन्तु सावियत संघ के बीटो के कारण वे निरस्त हो गये। अमरीका ने न केवल पाकिस्तान को राजनयिक समर्थन प्रदान किया बरन् भारत के विरुद्ध 'युद्धपोत राजनय' का प्रयोग करते हुए सातवां जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजकर भारत को प्रत्यक्षतः धमकी दी। किन्तु अमरीकी कूटनीति बुरी तरह असफल हुई। भारत ने विश्व मानचित्र पर रवतन्त्र बंगलादेश को प्रतिष्ठित कर दिया। यह अपराजीत राजनय की अपूर्व पराजय थी।

फरवरी, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने कॉर्गेस के नाम अपने वार्षिक विदेश नीति सन्देश में कहा—“अमरीका भारत से आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर बातचीत के लिए तैयार है, किन्तु उसकी रूचि इस बात में है कि दक्षिण एशिया का यह शक्तिशाली देश अपने पड़ोसियों के प्रति कैसा रवैया अपनाता है। उनके इस वक्तव्य पर भारत सरकार के प्रवक्ता ने कहा कि निक्सन झूठे आरोप दोहराकर विश्व को बतलाना चाहते हैं कि भारत एक शक्तिशाली देश बनकर पड़ोसियों को दबाना चाहता है। 21 फरवरी, 1972 को जब संयुक्त राज्य अमरीका ने पाकिस्तान को मुनः सैनिक सहायता देना प्रारम्भ किया तो भारत ने इसका घोर विरोध किया। इसके तुरन्त पश्चात जब अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन चीन की यात्रा पर गये और निक्सन-चाऊ वार्ता के सन्दर्भ में श्रीमती गांधी ने चेतावनी दी कि यदि अमरीका और चीन ने एशिया के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया तो उसे अन्य एशियाई देश स्वीकार नहीं करेंगे। यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में पाकिस्तान क्षेत्र से भारतीय सेना की वापसी और जम्मू-कश्मीर की जनता के 'आत्म-निर्णय के अधिकार' की मांग की गई। यह भारत के आन्तरिक मामलों में स्पष्ट हस्तक्षेप था, जिसका भारत ने घोर विरोध किया। इससे भारत-अमरीकी सम्बन्धों में भारी कटुता की स्थिति उत्पन्न हुई।

अमरीका द्वारा हिन्द महासागर में स्थित डियागो गार्सिया द्वीप में अपना नौ-सैनिक अड्डा स्थापित करने के निर्णय से 1974 में भारत और अमरीका के सम्बन्धों में सुधार के प्रयत्नों को आघात पहुंचा। श्रीमती गांधी ने इस निर्णय की भत्सना की और इसे शान्ति के लिए खतरा बताया। इससे भारत-अमरीकी सम्बन्धों में कटुता की स्थिति उत्पन्न हुई। 18 मई, 1974 को एक सफल भूगर्भीय आणविक परीक्षण द्वारा जब भारत परमाणु विरादरी का छठा देश बन गया तो अमरीका सहित पश्चिमी देशों की बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इससे भी दोनों देशों के बीच तनाव में वृद्धि हुई।

अनेक मतभेदों के बावजूद भारत-अमरीका के बीच वार्ताओं का आदान-प्रदान का क्रम जारी रहा। दोनों देशों के सम्बन्धों में रचनात्मक सुधार की प्रक्रिया 1976 में आगे बढ़ी।

24.2.4 जनता सरकार और अमरीका (मार्च, 1977-दिसम्बर 1980)— अमरीका ने भारत में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक तरीके से निष्पक्ष और मुक्त चुनाव द्वारा सत्ता-परिवर्तन का स्वागत करते हुए नये प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई को अमरीकी-सहयोग का आश्वासन दिया। प्रधानमंत्री देसाई ने भी सोवियत संघ की ओर झुकी हुई भारतीय विदेश नीति में परिवर्तन करते हुए 'विशुद्ध असंलग्नता' की नीति अपनाये जाने की वकालत की। जनवरी, 1978 में राष्ट्रपति कार्टर ने भारत-यात्रा की। दोनों पक्षों में इस बात पर

सहमति हुई कि अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ स्वयं निर्धारित करने का प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार है। दोनों पक्षों ने परस्पर यह वचन दिया कि दूसरे देशों के साथ अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जाएगा और नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार के खतरे को रोकने के लिए दोनों पक्ष कार्य करेंगे।

भारत-अमरीकी द्विपक्षीय सम्बन्ध, व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग के माध्यम से निरन्तर विकसित होते रहे। अमरीका भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बना रहा। जून, 1978 में प्रधानमंत्री देसाई ने अमरीका की यात्रा की। इस अवसर पर जारी संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि विश्व शान्ति के लिए हथियारों की होड़ रोकने हेतु प्रभावशाली उपाय किए जाने चाहिए। दोनों पक्षों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि जनवरी, 1978 में राष्ट्रपति कार्टर की भारत-यात्रा के समय संयुक्त घोषणा पत्र में जिन समान सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया था उनके आधार पर दोनों पक्षों के सम्बन्धों को जारी रखना और बढ़ाना चाहिए। कार्टर युग में भारत अमरीका सम्बन्धों में सुधार की स्थिति देखने को मिली।

24.2.5 श्रीमती गाँधी का दूसरा कार्यकाल और अमरीका (जनवरी 1980- अक्टूबर 1984)- जनवरी, 1980 में श्रीमती गाँधी के पुनः सत्तारूढ़ होने के उपरान्त भारत-अमरीका सम्बन्धों में एक नए मोड़ की शुरूआत हुई। जून 1980 में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने तारापुर परमाणु विजलीघर के लिए समृद्ध यूरेनियम की आपूर्ति करने के सरकारी आदेश पर हस्ताक्षर कर दिये किन्तु अमरीकी सीनेट, प्रतिनिधि सभा ने भारत को 38 टन यूरेनियम देने से इन्कार कर दिया।

अमरीकी कांग्रेस की यह कार्यवाही भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण तथा अमरीका व भारत के बीच 1963 में हुई सन्धि के विपरीत थी। अमरीकी राष्ट्रपति रीगन के निमन्त्रण पर 27 जुलाई, 1982 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी 9 दिन की अमरीका यात्रा पर गयी। श्रीमती गाँधी की इस यात्रा से दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ नरमी आ गयी। इस यात्रा के परिणामस्वरूप अमरीका इस बात को सहमत हो गया कि भारत अपनी तारापुर परमाणु भट्टी के लिए ईंधन फ्रांस से ले सकता है।

श्रीमती गाँधी ने राष्ट्रपति रीगन को पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों की आपूर्ति, अफगानिस्तान और पश्चिमी एशिया संकट, आदि मुद्दों पर भारत के दृष्टिकोण से अवगत कराया। श्रीमती गाँधी ने यह भ्रम दूर करने का प्रयास किया कि भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर है और यह देश अमरीका विरोधी है। सन् 1981-82 की घटनाओं ने यह साबित कर दिया था कि भारत सोवियत संघ का पिछलागू नहीं है। भारत ने जफगान प्रश्न पर सोवियत संघ की भत्सना नहीं की लेकिन उसने सोवियत फौजों के यहां जनना जाल तक पड़े रहने की वकालत भी नहीं की। शस्त्रास्त्र की आपूर्ति के लिए भारत ने फ्रांसीसी मिराज, जर्मन पनडुब्बियों तथा ब्रिटिश जगुआर का सौदा करके यह स्पष्ट कर दिया कि किसी एक ही देश की सैन्य सहायता पर निर्भर नहीं है। चीन से सोवियत संघ की नाराजगी के बाबजूद श्रीमती गाँधी ने सम्बन्ध सुधारने की पेशकश की और पाकिस्तान के साथ अनाक्रमण सन्धि करने का प्रस्ताव रखा।

24.2.6 राजीव गाँधी और भारत-अमरीका सम्बन्ध- अक्टूबर 1984 में राजीव गाँधी भारत के प्रधानमंत्री बने। राजीव गाँधी चाहते थे कि भारत और अमरीका के बीच पुराने मतभेद समाप्त हों और सकारात्मक सहयोग स्थापित हो। नवम्बर, 1984 में भारत और अमरीका में उच्च तकनीकी हस्तान्तरण सम्बन्धी एक समझौता हुआ। इस समझौते में पहली बार अमरीका ने भारत की यह शर्त स्वीकार की कि अगर भारत अमरीका से कोई तकनीक खरीदकर अपने देश में ले आता है तो वह किसी भी विदेशी जाँच-पड़ताल को बर्दाश्त नहीं करेगा। अमरीकी प्रशासन ने भारत को तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में संवेदनशील सैनिक तकनीक जारी करने का निर्णय किया।

इस प्रकार जारी की गयी तकनीक में भारतीय सशक्त सेना के लिए सुपर कम्प्यूटर, भारतीय नौ सेना के फ्रिगेटों के लिए डेटा डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम तथा भारतीय वायुसेना के हल्के युद्धक विमान के लिए जनरल इलेक्ट्रिक 404 इंजन शामिल थे। जून, 1985 में प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने अमरीका की यात्रा की। राष्ट्रपति रीगन ने राजीव गाँधी का स्वागत करते हुए उनकी यात्रा को सन् 1949 में जवाहरलाल नेहरू की 'खोज यात्रा' से जोड़ा। श्री राजीव गाँधी ने राष्ट्रपति रीगन से अनुरोध किया कि वे पाकिस्तान पर अपने परमाणु कार्यक्रम को रोकने के लिए दबाव डालें। इसके उत्तर में रीगन ने कहा कि अमरीका को भी पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम से चिन्ता है। श्री गाँधी की इस यात्रा के पश्चात् दोनों देशों के मध्य उच्चस्तरीय शिष्टमण्डलों का आदान-प्रदान भी हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ की 40वीं वर्षगांठ के अवसर पर श्री गाँधी ने 21 अक्टूबर, 1985 से अमरीका की यात्रा की। 23 अक्टूबर को जब श्री गाँधी की राष्ट्रपति रीगन से भेट हुई तो उन्होंने पाकिस्तान के परमाणु अस्त्र बनाने के कार्यक्रम पर अपने देश की चिन्ता बतायी। साथ ही उन्होंने अमरीका द्वारा पाकिस्तान को निरन्तर की जा रही अमरीकी हथियारों की आपूर्ति के विषय में भी भारत की चिन्ता से उन्हें अवगत कराया।

9 सितम्बर, 1987 को नई दिल्ली में अमरीकी राजदूत गुथर डॉन्स व विदेश सचिव के.पी. एस. मेनन ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत अमरीका कुछ शर्तों पर भारत को सुपर कम्प्यूटर देने पर सहमत हो गया।

24.2.7 वी. पी. सिंह-चन्द्रशेखर और भारत-अमरीका सम्बन्ध- विश्वनाथ प्रतापसिंह और चन्द्रशेखर (दिसम्बर, 1989 से जून 1991 तक) लगभग डेढ़ वर्ष प्रधानमंत्री रहे। इस अवधि में भारत-अमरीकी सम्बन्ध सामान्य बने रहे। अमरीका भारत का सबसे बड़ा व्यापारी भागीदार रहा। खाड़ी संकट के दिनों में भारत ने आन्तरिक राजनीति के दबाव में अमरीकी विमानों को इंधन भरने से रोका जिसे अमरीका ने पसन्द नहीं किया।

24.2.8 पी. वी. नरसिंह राव और भारत-अमरीका सम्बन्ध- शीत युद्ध के समाप्त हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आया। इससे भारत-अमरीकी सम्बन्धों पर रचनात्मक प्रभाव पड़ा और द्विपक्षीय सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के सदस्यों की शिखर बैठक के दौरान प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने न्यूयार्क में राष्ट्रपति बुश से मुलाकात की। रक्षा क्षेत्र में एक-दूसरे के देशों की उच्चस्तरीय यात्राएँ की गईं। अमरीकी सेना के प्रशान्त कमाण्ड और अमरीकी कमाण्डर इन चीफ ने भारत की यात्रा की। भारतीय नौ-सेना प्रमुख की अमरीकी यात्रा के बाद अमरीकी नौ-सेना प्रमुख ने भारत की यात्रा की। अगस्त, 1991 में भारत के सेनाध्यक्ष ने अमरीका की यात्रा की, फिर भारत के रक्षामंत्री शरद पंवार ने अमरीका की यात्रा की तथा हिन्द महासागर में भारत-अमरीकी नौ-सेना के संयुक्त अभ्यास की स्वीकृति भी दी गई। भारत और अमरीका ने 10 से 15 मई, 1995 तक एक संयुक्त नौ-सेना अभ्यास भी किया।

अमरीका ने भारत द्वारा प्रारम्भ किए गए आर्थिक उदारीकरण उपायों का स्वागत किया, इस प्रक्रिया को उत्साहित किया और बहुपक्षीय संस्थाओं से ऋण के लिए भारत के अनुरोध का समर्थन किया। मई 1994 में भारत के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव की अमरीका यात्रा के बाद भारत-अमरीकी सम्बन्धों का तीव्रता से विकास हुआ। 1994-95 के दौरान वाणिज्यिक तथा आर्थिक क्रियाकलाप भारत-अमरीका सहयोग के प्रमुख क्षेत्र थे। भारत में सीधे निवेश करने वाले देशों में अमरीका सबसे बड़ा निवेशक रहा जिसके द्वारा 1991 से 1994 तक अमरीका से वास्तविक सीधा निवेश 2,039 मिलियन रु. का था। 1994 में द्विपक्षीय व्यापार लगभग 2,400 करोड़ रु. का हो गया जिसमें भारतीय निर्यात 16,700 करोड़ का था। भारत ने बदले परिप्रेक्ष्य में अपनी विदेश नीति में परिवर्तन किये। इजरायल के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गए परम्परागत नीति में परिवर्तन कर संयुक्त राष्ट्र संघ में लौकर्षी एवं टेनेर विमान विस्फोट के लिए जिम्मेदार लीबियाई आरोपियों को सौंपने के अमरीका, फ्रांस एवं ब्रिटेन के प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। भारत द्वारा पश्चिम एशिया सम्बन्धी नीति में परिवर्तन का मंकेत तब मिला जब उसने संयुक्त राष्ट्र संघ के सन् 1975 के इजरायल विरोधी प्रस्ताव को रद्द करने सम्बन्धी अमरीका समर्थित नये प्रस्ताव का समर्थन किया।

इन सबके बावजूद अनेक मुद्दों पर भारत-अमरीकी मतभेद सामने आये। अमरीका चाहता था कि भारत परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर कर दे। लेकिन भारत न स्पष्ट कर दिया कि वह वर्तमान स्थिति में परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। यह सन्धि समानता पर आधारित नहीं है।

24.2.9 एच. डी. देवगौड़ा- इन्द्रकुमार गुजराल और भारत-अमरीका सम्बन्ध- एच.डी. देवगौड़ा की सरकार ने विश्वास मत प्राप्त कर लेने के बाद व्यापक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (सी.टी.बी.टी.) के मसौदे पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर अमरीका को चुनौती दे डाली। इसके प्रत्युत्तर में अमरीका की ओर से उसे आर्थिक प्रतिबन्धों की धमकी दी गई, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के असहयोग की भी धमकी दी गई।

इस कहा गया कि विश्व बैंक द्वारा चल रहे वे 93 प्रकल्प खटाई में पड़ जाएंगे जिनकी कीमत 16.2 अरब डालर है। सी.टी.बी.टी. पर भारतीय दृष्टिकोण से यूरो-अमरीकी देश अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सफलतापूर्वक यह प्रचार कर सके कि आणविक निःशस्त्रीकरण के कार्य में भारत अड़ंगे लगा रहा है। फलतः भारत सुरक्षा परिषद् की अस्थायी सीट के लिए बुरी तरह पराजित हुआ।

इन्द्रकुमार गुजराल के प्रधानमंत्री बनने के बाद जून 1997 में भारत और अमरीका के बीच एक महत्वपूर्ण प्रत्यर्पण सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के तहत दोनों ही देश एक-दूसरे द्वारा वांछित ऐसे भगोड़े अभियुक्तों व अपराधियों का प्रत्यर्पण करने पर सहमत हुए जो एक वर्ष से अधिक की सजा के पात्र हों, चाहे उनकी नागरिकता कोई भी हो।

24.2.10 अटलबिहारी वाजपेयी और भारत-अमरीका सम्बन्ध- श्री अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भाजपा नीति राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार की परमाणु नीति से अमरीकी प्रशासन चिन्तित रहा इस सरकार ने परमाणु नीति की पुर्नसमीक्षा की घोषणा की तो अमरीका ने चेतावनी दी कि यदि भारत ने परमाणु परीक्षण किया तो उसके खिलाफ दण्डात्मक प्रतिबन्ध लागू किए जाएंगे।

जब भारत ने 11 एवं 13 मई, 1998 को सफल परमाणु परीक्षण कर आणविक शक्ति बनाने के अपने अडिग निश्चय को प्रकट कर दिया तो अमरीकी राष्ट्रपति किंलटन ने कठोर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए। अमरीका ने जी-5 तथा जी-8 की बैठकों में परीक्षणों की आलोचना करने के लिए भी पहल की।

21 मार्च, 2000 को अमरीकी राष्ट्रपति बिल किलंटन ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा को भारत-अमरीकी सम्बन्धों में एक नया मोड़ माना जाता है। अमरीकी राष्ट्रपति की भारत यात्रा की औपचारिक शुरूआत के पहले दिन किलटन तथा प्रधानमंत्री वाजपेयी ने विभिन्न क्षेत्रों में आपसी सहयोग बढ़ाए जाने सम्बन्धी एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए।

इस दस्तावेज को, जिसे दृष्टिकोण पत्र, 2000 नाम दिया गया है, भारत अमरीका के आपसी सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने के लिए आठ सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की गयी। दोनों देशों के शासनाध्यक्षों के बीच नियमित रूप से शिविर बैठक, सुरक्षा तथा परमाणु अप्रसार पर चल रही बातचीत को गति प्रदान करने, आपसी सम्बन्धों एवं अन्य मुद्दों की समीक्षा करने और आतंकवाद से और अधिक कारगर ढंग से मिलकर निपटने पर सहमति व्यक्त की गई।

24.2.11 डॉ. मनमोहन सिंह और भारत-अमरीका सम्बन्ध- मई, 2004 को 14वीं लोकसभा चुनावों के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में डॉ. मनमोहन ने 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' की मिली-जुली सरकार का गठन किया। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने 'साझा न्यूनतम कार्यक्रम' में विदेश नीति के बारे में कहा कि अमरीका के साथ बदलते सम्बन्धों को अति महत्व देगी। डॉ. मनमोहनसिंह की अमरीका यात्रा के समय परमाणु समझौते सहित विभिन्न समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। इससे दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में सुधार हुआ।

24.23 सारांश

शीत युद्ध के पश्चात् भारत और अमरीका के बीच सम्बन्धों में मधुरता आई है। अमरीकी प्रशासन द्वारा सामरिक दृष्टि से भारत को अधिक महत्व दिया जा रहा है तथा भारत से रक्षा सहित अन्य क्षेत्रों में सम्बन्ध बनाने की सम्भावनाओं पर विचार किया जा रहा है। अमरीका द्वारा भारत पर आरोपित आर्थिक प्रतिबन्धों को उठा लिया गया है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध काल में भारत-अमरीका संबंधों पर प्रकाश डालिए।
2. अमरीका की भारत के प्रति विदेश नीति में बदलाव का परीक्षण कीजिए?

लघूतरात्मक प्रश्न

1. सुदूरपौत्र रणनीति क्या है?
2. राष्ट्रपति बिल किलटन की भारत यात्रा के क्या उद्देश्य थे?

अध्याय- 25

भारत-चीन सम्बन्ध

संरचना

- 25.0 उद्देश्य
- 25.1 प्रस्तावना
- 25.2 भारत-चीन सम्बन्धों का इतिहास
 - 25.2.1 भारत-चीन सम्बन्ध प्रमोद काल
(1949-1957)
 - 25.2.2 भारत-चीन सम्बन्ध टकराव और तनाव का काल
(1957-1978)
 - 25.2.3 भारत-चीन सम्बन्ध संवाद काल
(1978-2005)
- 25.3 सारांश

25.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारत-चीन सम्बन्धों के उत्तार-चढ़ाव घटना चक्र का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- भारत-चीन सम्बन्धों के प्रमोद काल का अध्ययन कर सकेंगे,
- भारत-चीन सम्बन्धों में टकराव और तनाव काल का अध्ययन कर सकेंगे,
- भारत-चीन सम्बन्धों में संवाद काल की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

चीन, भारत का एक महत्वपूर्ण पड़ीसी देश है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत और चीन का अभ्युदय तृतीय विश्व की एक महत्वपूर्ण घटना थी। प्रारम्भिक वर्षों में भारत और चीन के सम्बन्धों की कहानी भारतीय नेताओं की आदर्शवादिता, स्वपदर्शिता की कहानी है। दोनों देश एक दूसरे के घनिष्ठ सहयोगी थे। लेकिन 1962 में चीन ने भारतीय सीमाओं पर आक्रमण कर इस मित्रता को भंग कर दिया। आज भी चीन भारत की भूमि पर अधिकार जमाए हुए हैं। भारत और चीन के बीच सीमा विवाद के होने के बावजूद दोनों देशों में पिछले वर्षों से सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया चल रही है। इससे दोनों देशों के सम्बन्धों में व्यापक सुधार हुआ है। एशिया के इन दो बड़े राष्ट्रों में सम्बन्ध सुधरने से क्षेत्र में स्थिरता का वातावरण बना है।

25.2 भारत-चीन सम्बन्धों का इतिहास

सामरिक, सैनिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से दक्षिण एशिया में चीन की विदेश नीति प्रमुख स्थान रखती है। भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के पश्चात् एवं चीनी साम्यवादी क्रान्ति के फलस्वरूप यह क्षेत्र तनाव एवं संघर्ष का प्रमुख केन्द्र रहा। 1950 ई. में तिब्बत हथियाने के बाद चीनी नेताओं ने भारत की सीमा पर कुछ हलचलें उत्पन्न कीं। 1954 में भारत व चीन के बीच पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर हुये, जिसके अनुसार दोनों देश शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करेंगे। परन्तु 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में भारत ने चीन के विरुद्ध पत्र भी भेजे परन्तु चीन ने मेकोहन रेखा के आसपास सैनिक गतिविधियाँ तेज कर दी और 1962 में भारत पर आक्रमण कर दिया। जबाहर लाल नेहरू के शब्दों में ‘‘चीन को यह शर्म नहीं आई कि उसने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं

पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर भारत के साथ बड़ा विश्वासघात किया है।” अतः भारत-चीन सम्बन्धों के इतिहास को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है-

25.2.1 भारत-चीन सम्बन्धों का प्रमोद काल (1949-1957)- चीन के प्रति भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ में मित्रापूर्ण रहा है। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों से ही नेहरू भारत और चीन की मित्रता पर बल देते रहे। सन् 1942 में च्यांग कार्ह शेक ने भारत की यात्रा की थी, जिससे भारत में चीन के जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रति सहानुभूति की लहर फैल गयी। चीन में साम्यवादी दल की विजय के बाद भारत-चीन सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गये। अक्टूबर, 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति का भारत ने स्वागत किया। गैर-साम्यवादी देशों में भारत ही पहला देश था जिसने चीन को राजनयिक मान्यता प्रदान की। अमरीका की अप्रसन्नता को नजरअदाज करते हुए भी भारत ने कोरियाई युद्ध में चीन का समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत ने उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमें चीन को आक्रान्ता घोषित किया गया था। सितम्बर 1950 में सेनफ्रांसिस्को में 49 राष्ट्रों के साथ होने वाली जापानी सन्धि में भारत इसलिए शामिल नहीं हुआ क्योंकि चीन को उसमें शामिल नहीं किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को मान्यता दिलाने का भारत ने अथक प्रयत्न किया। भारत ने उस समय भी चीन को मान्यता दिलाने का प्रयास किया जब उसका भारत के प्रति दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण था। भारत ने अमरीका की उन नीतियों की सर्वदा आलोचना की जो चीन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों या सम्बाओं में ‘उचित स्थान’ दिलाने में अवरोध प्रस्तुत करती थी।

सन् 1954-57 का काल भारत-चीन सम्बन्धों का प्रमोद-काल कहलाता है। 29 जून, 1954 को दोनों राष्ट्रों के मध्य 8 -वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत से अपने ‘अतिरिक्त देशीय अधिकारों’ को चीन को सौंप दिया। इस व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में ही पंचशील के सिद्धान्तों की रचना की गयी थी। जून, 1954 में जब चीन के तत्कालीन प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई भारत आये तो संयुक्त विज्ञप्ति में पंचशील के सिद्धान्तों पर बल दिया गया। अक्टूबर 1954 में पण्डित नेहरू ने भी चीन की यात्रा की। इस काल में भारत-चीन सम्बन्ध अत्यन्त मधुर रहे। दोनों देशों के सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आई।

25.2.2 भारत-चीन सम्बन्ध टकेराव और तनाव का काल (1957-1978)- पंचशील और बाणदुंग सम्मेलन को भारतीय कूटनीति की महान् सफलताएं माना गया था। परन्तु वास्तविकता यह है कि वे भारतीय कूटनीति की पराजय सिद्ध हुए। तथ्य तो यह है कि भारत की चीन सम्बन्धी नीति जिस अवधारणाओं पर आधारित थी वे धारणाएं ही भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुईं। भारत और चीन के प्राचीन सम्बन्धों की घनिष्ठता को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखा गया था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसके संघर्ष के प्रति सहानुभूति के प्रवाह में बहकर यह भुला दिया था कि चीनी लोग प्राचीन काल से ही चीन को विश्व सभ्यता का केन्द्र मानते आये हैं और विस्तारवादी नीति में विश्वास करते रहे हैं। भारत इस तथ्य का समझ नहीं सका।

भारत पर भूतकाल में आक्रमण न करने का कारण उनकी शान्तिप्रियता नहीं वरन् हिमालय था। परन्तु 20वीं शताब्दी में एक ओर तो विज्ञान की प्रगति और दूसरी ओर तिब्बत को चीन को सौंप देने की गलती कर भारत ने अपने ऊपर चीन के हमले को सरल बना दिया। इसके अतिरिक्त भारतीय विदेश नीति के निर्माता यह भूल गये कि द्वितीय युद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के जागरण से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में भारत और चीन के मध्य एशिया और अफ्रीका विशेषतः दक्षिणी-पूर्वी एशिया, के नेतृत्व के लिए संघर्ष होना अनिवार्य ही था।

(1) **तिब्बत समस्या**- तिब्बत भारत का पड़ोसी राज्य था। इसके उत्तर में चीनी सिक्यांग स्थित है। चीन सदियों से तिब्बत पर अपना अधिकार जताता आ रहा था। चीन की नवी साम्यवादी सरकार ने अपनी स्थापना के साथ ही तिब्बत पर अपना अधिकार घोषित कर दिया और उसे अपने राज्य का अधिन अंग बताया। 1 जनवरी, 1950 को चीन सरकार ने तिब्बत को स्वतन्त्र कराने की घोषणा कर दी। भारत सरकार ने परिवर्तित परिस्थिति में चीन से वार्ता कर लेना ही उचित समझा। दिसम्बर, 1953 में यह वार्ता प्रारम्भ हुई। पंचशील के आधार पर एक समझौता दोनों देशों के बीच सम्पन्न हुआ। इसके अन्तर्गत भारत को तिब्बत में व्यापार एजेन्सियां स्थापित करने का और तीर्थ-यात्राओं तथा अन्य नागरिकों द्वारा तिब्बत की यात्रा कर सकना मुख्य रूप से शामिल किया गया।

25 जून, 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई जेनेवा से पीकिंग जाते समय भारत आये। भारत और चीन के प्रधानमन्त्रियों ने अपनी संयुक्त घोषणा में पंचशील के प्रति पुनः अपना विश्वास प्रकट किया। 18 अक्टूबर, 1954 को नेहरू पीकिंग की

यात्रा पर गये। इसके बाद 28 नवम्बर, 1956 से 10 दिसम्बर, 1956 तक चाउ-एन-लाई ने भारत की यात्रा की। उन्होंने भारतीय संसद को सम्बोधित करते हुए बार-बार भारत एवं चीन की मित्रता का उल्लेख किया। 1956 में तिब्बत के खम्पा क्षेत्र में बड़े पैमाने पर चीनी शासन के विरुद्ध विद्रोह हो गया जो 1959 तक चलता रहा। इस विद्रोह को दलाईलामा का समर्थन प्राप्त था। चीन ने कठोरता के साथ इस विद्रोह को कुचल डाला। 31 मार्च, 1959 को दलाईलामा ने 3 व्यक्तियों के दल के साथ भारत में राजनीतिक शरण ली। इसके पश्चात् बड़ी संख्या में तिब्बती शरणार्थी भारत आये। इन सबको मसूरी के पास बसा दिया गया। चीन ने भारत की इस कार्यवाही को शत्रुतापूर्ण कार्य बताया। वस्तुतः इसी समय से भारत और चीन के सम्बन्ध बिगड़ने प्रारम्भ हो गये।

(2) भारत-चीन सीमा विवाद- चीन विभिन्न रूपों में भारत के साथ सीमा-विवाद उठाता रहा। भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से मान्य सीमा को मेकमोहन रेखा के नाम से जाना जाता है। 1950-51 में साम्यवादी चीन के मानचित्र में भारत के एक बड़े भाग को चीन का अंग दिखाया गया। जब भारत सरकार ने चीन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तो यह कहकर मामला टाल दिया गया कि ये नक्शे को मिन्तांग सरकार के पुराने नक्शे हैं। जून, 1954 में भारत एवं चीन के मध्य तिब्बत को लेकर समझौता हुआ तब वार्ता हेतु चुने गये विषयों में सीमा-विवाद का कहीं प्रश्न ही न था। भारत में वही समझा गया कि समस्त विवादों का समाधान हो चुका है। परन्तु शीघ्र ही 17 जुलाई, 1954 को चीन ने एक पत्र द्वारा भारत पर आरोप लगाया कि भारतीय सेना ने बूजे नामक चीनी स्थान पर अवैध अधिकार कर लिया है। बूजे भारत में बढ़ा होती के नाम से प्रसिद्ध था। चीन के विरोध पत्र का उत्तर देते हुए भारत सरकार ने कहा कि “यह स्थान भारतीय प्रदेश में है और यहां भारतीय सीमा सुरक्षा सेना की चौकी है।” 1954 से ही चीन ने सीमा के विभिन्न भारतीय प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते और टुकड़ियां भेजनी आरम्भ कीं। 23 जनवरी, 1959 के पत्र में चीनी सरकार ने लिखा कि भारत और चीन के मध्य कभी भी सीमाओं का निर्धारण नहीं हुआ है और तथाकथित सीमाएं चीन के विरुद्ध किये गये साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का परिणाम मात्र हैं।

अक्टूबर, 1962 में भारत पर साम्यवादी चीन ने बड़े पैमाने पर आक्रमण कर दिया। इससे पूर्व 12 जुलाई, 1962 को लदाख में गलवान नदी की घाटी की भारतीय चौकी को चीनियों ने अपने धेरे में लिया। 8 सितम्बर को चीनी सेनाओं ने मेकमोहन रेखा पार करके भारतीय सीमा में प्रवेश किया। 20 अक्टूबर, 1962 को चीनी सेनाओं ने उत्तर-पूर्वी सीमान्त तथा लदाख के मोर्चे पर एक साथ बड़े पैमाने पर आक्रमण किया। टिड़ी दल की भाँति वे भारतीय चौकियों पर टूट पड़े। 21 नवम्बर, 1962 को चीन ने एकाएक अपनी ओर से एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और युद्ध समाप्त हो गया। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा पाश्चात्य राष्ट्रों के दबाव के कारण उसे ऐसा करना पड़ा।

25.2.3 भारत-चीन सम्बन्ध संवाद क्षेत्र (1978-2005)- भारत में जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने और चीन में माओतार नेताओं द्वारा बागडोर संभाले जाने के बाद दोनों देशों ने विगत बातों को भूलकर नये सिरे से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में प्रयास किये। अनेक कूटनीतिक माध्यमों से भारत को पीकिंग से इस बात के संकेत मिले कि वह भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने का इच्छुक है। जनवरी, 1978 में वांग-पिंग-नान के नेतृत्व में एक उच्च-स्तरीय चीनी प्रतिनिधिमण्डल भारत आया। इसके बाद व्यापार-वाणिज्य प्रतिनिधिमण्डलों का दौरा हुआ और दोनों देशों के बीच 1978 में 1 करोड़ 20 लाख का व्यापार हुआ। सितम्बर, 1978 में चीन के कृषि वैज्ञानिकों ने भारत की यात्रा की और न्यूयार्क में विदेशमन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने चीनी विदेश मन्त्री हुआंग हुआ से भेंट की। 12 फरवरी 1979 से प्रारम्भ होने वाली अपनी चीन यात्रा को विदेश मन्त्री वाजपेयी ने ‘टोही मिशन’ की संज्ञा दी थी। विदेश मन्त्री वाजपेयी के अनुसार उनकी पीकिंग यात्रा का उद्देश्य लेन-देन करना नहीं अपितु यह जानना था कि इतने वर्षों के बिंदु सम्बन्ध के बाद आज चीन में भारत के बारे में क्या स्थिति है? वाजपेयी की चीन यात्रा में सीमा-विवाद का समाधान नहीं हूंदा जा सका, क्योंकि यह एक जटिल मामला था।

यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो की अन्त्येष्टि के अवसर पर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने चीन के विदेश मन्त्री हुआ कुआ फेंग से वार्ता की। फेंग ने जून 1981 में भारत की यात्रा की और सीमा विवाद सहित सभी प्रकार के सम्बन्धों के सामान्यीकरण हेतु वे वार्ता के लिए राजी हो गये। चीन की सरकार ने भारतीय यात्रियों को मानसरोवर तथा कैलास मानसरोवर जाने की अनुमति भी दे दी। भारत और चीन में विवादों के समाधान के लिए 1982-87 के मध्य कुल मिलाकर चार्टाओं के आठ दौर हुए। 1980 में चीन की ओर से यह बात अवश्य सापेने आयी थी कि लदाख में अक्साईचन में चीन द्वारा छीनी गई 37,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पर भारत चीन का अधिकार मान ले तो चीन पूर्वी क्षेत्र में मेकमोहन रेखा स्वीकार करने को तैयार है। भारत इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता था।

1982 में प्रकाशित चीनी मानचित्रों में भी उन सभी भारतीय प्रदेशों को चीनी प्रदेश बताया गया जिन पर चीन अपना निराधार दावा करता रहा है। इस क्रम में सिविकम तथा अरुणाचल प्रदेश को भी वह भारतीय प्रदेश नहीं मानता। चीन सिविकम कश्मीर व सीमा-विवाद पर अपनी पूर्व नीति बदले बिना ही भारत से सम्बन्ध सुधारना चाहता है। वह इस प्रक्रिया में कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं होना चाहता है। दोनों देशों के बीच 19 जुलाई, 1986 को बीजिंग में वार्ता का सातवां दौर प्रारम्भ हुआ। इस वार्ता में चीन द्वारा 30 जून, 1986 को भारतीय सीमा में की गयी घुसपैठ पर चिन्ता व्यक्त की गयी।

20 फरवरी, 1987 ई. को भारत ने जब अरुणाचल प्रदेश को भारतीय संघ का 24वां राज्य घोषित किया तो 21 फरवरी, 1987 को चीनी विदेश मन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने कहा कि भारत की इस कार्यवाही से चीन की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का गम्भीर उल्लंघन हुआ है। दूसरी तरफ भारत ने चीन के इस विरोध को भारत के घेरेलू मामले में हस्तक्षेप की संज्ञा दी। भारत व चीन के बीच सीमा-वार्ता का आठवां दौर 17 नवम्बर, 1987 को नई दिल्ली में समाप्त हुआ। वार्ता समाप्ति के बाद जारी विज्ञप्ति में कहा गया कि जहां तक सीमा के प्रश्न का सम्बन्ध है दोनों पक्षों के बीच यथास्थिति बनी हुई है।

(1) प्रधानमंत्री राजीव गांधी की चीन यात्रा 1988- 19-23 दिसम्बर, 1988 को भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने 5 दिन के लिए चीन की यात्रा की। पिछले 34 वर्षों में भारत के किसी प्रधानमंत्री की यह पहली चीन यात्रा थी। राजीव गांधी की चीन के राष्ट्रपति यांग शानकुन, चीन के प्रधानमंत्री ली फंग तथा चीन के शीर्ष नेता शियाओं पिंग से लम्बी बातचीत हुई। देंग ने प्रधानमंत्री गांधी से कहा कि “आपकी बीजिंग यात्रा से अब हमें अतीत भूल कर आपसी सम्बन्धों में एक नयी शुरूआत करनी चाहिए।”

राजीव गांधी के अनुसार, “हमने चीन के साथ अपने सम्बन्धों को नये से शुरू करके मैत्री को सुदृढ़ करने का निश्चय किया है।” प्रधानमंत्री राजीव गांधी की चीन यात्रा की एक और बड़ी उपलब्धि आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी व सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाने के लिए संयुक्त आयोग का गठन था। इसे भारत-चीन सम्बन्धों के सुधार में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया है।

(2) चीनी प्रधानमंत्री की भारत यात्रा- 11 दिसम्बर, 1991 को चीनी प्रधानमंत्री ली फंग एक उच्चस्तरीय दल के साथ 6 दिवसीय यात्रा पर नई दिल्ली आये। वे 31 वर्ष बाद भारत आने वाले प्रथम चीनी प्रधानमंत्री थे। इस यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच तीन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। ये समझौते थे शंघाई तथा मुम्बई में वाणिज्य दूतावास खुलेंगे, दोनों देशों के बीच सीमा व्यापार प्रारम्भ होगा तथा चीन व भारत अन्तरिक्ष अनुसंधान, विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग करेंगे। सीमा सम्बन्धी अभ्यास प्रश्नावली पर, चीन और भारत ने इस बात की आवश्यकता दोहराई कि इस प्रश्न का शीघ्र और परस्पर स्वीकार्य समाधान खोजा जाये और तब तक कोई अन्तिम समाधान नहीं खोज लिया जाता तब तक सीमावर्ती क्षेत्रों को तनाव मुक्त रखा जाये।

(3) राष्ट्रपति वेंकटरमन की चीन यात्रा- 17 मई, 1992 को भारत के राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमन चीन के राष्ट्रपति श्री यांग शांकुन के निमन्त्रण पर 6 दिन की सरकारी यात्रा पर चीन गये। श्री वेंकटरमन पहले भारतीय राष्ट्राध्यक्ष थे जो चीन की यात्रा पर गये। यह यात्रा इस बात का प्रमाण था कि पिछले कुछ वर्षों से भारत-चीन सम्बन्धों में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। उल्लेखनीय है कि चीनी राष्ट्रपति श्री यांग ने श्री वेंकटरमन से बातचीत के दौरान ‘हिन्दी-चीनी भाई-भाई, युग की याद दिलायी और भारतीय राष्ट्रपति को आश्वासन दिया कि चीन-भारत के साथ गहरी और अटूट मित्रता निभायेगा।’

(4) प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव की चीन यात्रा 1993- सितम्बर 1993 में प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव की चीन यात्रा ने द्विपक्षीय सम्बन्धों की रवनात्मक प्रवृत्ति को बल दिया। इस यात्रा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि भारत-चीन सीमा क्षेत्रों में वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति और अमन बनाये रखने के सम्बन्ध में हुआ समझौता था यह एक ऐसा समझौता था जिसमें वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति और समरसता को सुनिश्चय करने की एक रूपरेखा निर्धारित की थी। इसके अन्तर्गत भारत और चीन इस बात पर सहमत हुए कि वे सीमा के सवाल के सम्बन्ध में अपनी-अपनी स्थितियों को किसी भी तरह प्रभावित किए बिना वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति बनाए रखेंगे।

(5) चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन की भारत यात्रा- चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन की 28 नवम्बर से 1 दिसम्बर, 1996 की भारत यात्रा उच्चतम स्तर पर द्विपक्षीय वार्ता की प्रक्रिया का एक अंग थी। चीनी राष्ट्रपति की इस यात्रा की उल्लेखनीय उपलब्धि भारत-चीन सीमावर्ती क्षेत्रों में वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर सैन्य क्षेत्र में सकारात्मक उपायों से सम्बद्ध सन्धि सम्पन्न करना था।

(6) राष्ट्रपति के, आर. नारायणन की चीन यात्रा 2000- भारत के राष्ट्रपति के, आर. नारायणन ने भारत के साथ सम्बन्धों को और सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से मई-जून 2000 में चीन की छ: दिवसीय राजकीय यात्रा की। चीन ने भारत के साथ सम्बन्धों में पिछले दो वर्षों से आड़े आ रहे विवादास्पद परमाणु मुद्दों को ठण्डे बरसे में डाल दिया। लेकिन कहा कि भारत में दलाइलामा के साथ करमापा के मौजूद होने से वहां चीन विरोधी गतिविधियां बढ़ सकती हैं। दोनों देशों ने उलझे हुए सीमा विवाद के तर्क संगत हल पर सहमति व्यक्त करते हुए द्विपक्षीय सम्बन्धों के विस्तार के लिए संयुक्त दल गठित करने का निर्णय किया। श्री नारायणन ने चीन की शंकाओं का निराकरण करते हुए भारत का यह दृष्टिकोण दोहराया कि वह तिब्बत को चीन का स्वायत्त क्षेत्र मानता है तथा दलाइलामा को धार्मिक गुरु मानता है जिन्हें भारत में राजनीतिक गतिविधियों में शामिल होने की अनुमति नहीं दी जाएगी। दोनों नेताओं ने परमाणु और ताइवान मुद्दों को छोड़ते हुए कहा है कि सीमा विवाद के समाधान में आपसी समझ, सामंजस्य और सुविधा की भावना को आधार बनाया जाना चाहिए। दोनों देशों के बीच चालीस वर्ष पुराने सीमा विवाद को इतिहास की देन बताते हुए जियांग ने इसके समाधान के लिए तीन नारे दिए- पारस्परिक समायोजन, पारस्परिक सद्भाव और पारस्परिक निपटारा।

(7) चीनी प्रधानमंत्री की भारत यात्रा 2002- 140 सदस्यीय शिष्टमण्डल के साथ जनवरी, 2002 में चीनी प्रधानमंत्री झू रोंगजी ने भारत की यात्रा की। 15 जनवरी को शिखर बार्टा के पश्चात् भारत एवं चीन के मध्य पारस्परिक सहयोग के छ: सहमति-पत्रों पर हस्ताक्षर हुए। इनमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा बाह्य अंतरिक्ष के शांतिपूर्ण कार्यों में उपयोग के लिए भिलजुलकर कार्य करने, पर्यटन के क्षेत्र में सहयोग करने तथा ब्रह्मपुत्र नदी में बाढ़ के दौरान भारत को सूचनाएं उपलब्ध कराने सम्बन्धी सहमतियाँ शामिल थीं। उन्होंने कहा कि चीन पाकिस्तान का निकट सहयोगी एवं मित्र है फिर भी आतंकवाद के विरुद्ध सघर्ष में वह पूरी तरह भारत का साथ देगा।

(8) प्रधानमंत्री वाजपेयी की चीन यात्रा 2003- 22 से 27 जून, 2003 तक प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी चीन की यात्रा पर रहे। भारत के किसी प्रधानमंत्री की 10 साल बाद यह यात्रा सम्पन्न हई। 24 जून, 2003 को भारत और चीन ने ऐतिहासिक घोषणा पत्र, व्यापार सम्बन्धी सहमति पत्र और नौ समझौतों पर भी हस्ताक्षर किए। चीन ने सिक्किम के रास्ते व्यापार करने पर सहमति जताकर इस पूर्वोत्तर राज्य को परोक्ष रूप से भारत का हिस्सा मान लिया, जबकि भारत ने तिब्बत को चीन के स्वायत्त प्रदेश के रूप में मान्यता देने का फैसला किया।

दोनों पक्ष वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति व स्थिरता कायम रखने पर राजी हुए। दोनों देश सीमा विवाद के हल में तेजी लाने का प्रयास करेंगे। दोनों पक्ष इसके लिए विशेष प्रतिनिधि नियुक्त करने पर सहमत हो गए।

25.3 सारांश

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि यदि भारत और चीन का सीमा समझौता हो जाये तो निः सन्देह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और क्षेत्रीय राजनीति पर उसका गम्भीर प्रभाव होगा और इसके व्यापक एवं दूरगामी परिणाम होंगे। भारत-चीन सीमा पर आमतौर पर शान्ति बनी रही है। दोनों पक्षों ने सीमा पर शान्ति और अमन से सम्बद्ध करार (1993) तथा विश्वासोत्पादक उपायों से सम्बद्ध करारों (1996) के अनुसरण में शान्ति और अमन बनाए रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराया है। दोनों देशों के सीमा विवाद अभी भी बने हुए हैं।

अभ्यास प्रश्नावली

निवृत्तात्मक प्रश्न

- भारत और चीन के परस्पर नीति सम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख कीजिए। आज ये सम्बन्ध किस स्थिति में हैं?
- जब से चीन महाशक्ति बना है भारत के चीन से सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं। क्यों?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- भारत-चीन सम्बन्धों के टकराव के कोई दो उदाहरण दीजिए।
- भारत ने चीन को राजनीतिक मान्यता कब दी थी?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

- भारत पर चीन ने आक्रमण कब किया?

अध्याय-26

भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध

संरचना

- 26.0 उद्देश्य
- 26.1 प्रस्तावना
- 26.2 भारत-पाक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली समस्याएँ
 - 26.2.1 हैदराबाद विवाद
 - 26.2.2 जूनागढ़ विवाद
 - 26.2.3 ऋण की अदायगी का प्रश्न
 - 26.2.4 नहरी पानी विवाद
 - 26.2.5 शरणार्थियों की समस्या
 - 26.2.6 कश्मीर विवाद
 - 26.2.7 भारत-पाक युद्ध, 1965 तथा ताशकन्द समझौता
 - 26.2.8 भारत-पाक युद्ध, 1971 तथा शिमला समझौता
 - 26.2.9 भारत विरोधी नीति
 - 26.2.10 पाकिस्तान की सीटों, सेण्टों की सदृश्यता
- 26.3 भारत-पाक सम्बन्ध : रिश्तों को सुधारने के प्रयत्न
- 26.4 सारांश

26.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत दक्षिण एशिया भू-भाग में स्थित भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- भारत-पाक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली समस्याओं का अध्ययन कर सकेंगे,
- भारत-पाक सम्बन्ध : करगिल संघर्ष के बाद बदलते संबंधों का अध्ययन कर सकेंगे,
- भारत-पाक सम्बन्ध : वर्तमान रिश्तों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

भारत-पाक संबंधों की प्रकृति को सही रूप से समझने के लिए भारत विभाजन में निहित विभिन्न तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करना अपरिहार्य है। विभाजन की घटना ने धृणा, अविश्वास और वैमनस्य को क्रूरतम ढंग से उजागर किया है।

पाकिस्तान के जन्म से समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा अधिक उलझ गयीं और इस महाद्वीप में नये संघर्ष का सूत्रपात हुआ जो अपनी प्रकृति से कहीं अधिक गहरा और पेचीदा था। माईकेल ब्रेंकर ने लिखा है कि “स्वतन्त्र राज्यों के अपने संक्षिप्त इतिहास में तीव्रता की भिन्न-भिन्न मात्राओं में, भारत और पाकिस्तान अधोषित युद्ध की स्थिति में रहे हैं।” अतः भारत-पाक सम्बन्धों में तनाव और संघर्ष की स्थिति का बना रहना अस्वाभाविक नहीं है।

26.2 भारत-पाक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली समस्याएं

भारत और पाकिस्तान निकटतम पड़ोसी देश हैं। दोनों एक दूसरे के लिए 'प्रथम' सुरक्षा पंक्ति हैं। फिर भी दोनों के सम्बन्धों में इतना तनाव रहा है जितना कि किन्हीं अन्य देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में (अरब-इजराइल संघर्ष को छोड़कर) नहीं रहा। ज्योति भूषण दास गुप्त ने लिखा है कि "भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में मतभेद रहे हैं, कभी अप्रत्यक्ष और कभी प्रत्यक्ष परन्तु सर्वदा मतभेद।"

भारतीय नेताओं को आशा थी कि देश के विभाजन से शान्ति और आपसी सहयोग को बढ़ावा मिलेगा और दोनों देश शान्ति, सद्भावना और सहयोग के बातावरण में आर्थिक विकास के लम्बे और जटिल कार्य में जुट जायेंगे। लेकिन पाकिस्तान के जन्म के साथ ही दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों में भीषण कद्रुता आ गयी। भारत तथा पाकिस्तान के बीच विवाद के लिए मुख्य कारण उत्तरदायी रहे हैं-

26.2.1 हैदराबाद विवाद- हैदराबाद भौगोलिक दृष्टि से भारत के अन्तर्गत ही मिल सकता था। रियासत के शासक निजाम का रवैया बहुत ही अस्थै और अनिश्चयात्मक था। पाकिस्तान ने हैदराबाद को इस भ्रम में रखा कि संकट के समय वह उसके साथ है। हैदराबाद का निजाम एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये जाने का स्वप्न संजोये था, किन्तु भ्रम बनाये रखने के लिए वह भारत के साथ विलय की बातचीत भी करता रहा। निजाम का मूल लक्ष्य दक्षिणी भारत में मुस्लिम वर्चस्व स्थापित करना था। पाकिस्तान के सहयोग और निजाम के सहयोग से रजाकारों ने मारकाट, लूटमार और हत्याओं के माध्यम से इस क्षेत्र में भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी। परिणामस्वरूप भारत को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। हैदराबाद रियासत को भारत में सम्मिलित कर लिया गया और निजाम को 50 लाख रुपये प्रिवीपर्स के रूप में देना तय किया। पाकिस्तान ने इस प्रश्न को तीन बार सम्मुक्त राष्ट्र संघ में उठाया किन्तु अमरीका के सिवाय उसमें किसी ने भी उसमें किसी ने भी दिलचस्पी नहीं ली।

26.2.2 जूनागढ़ विवाद- जूनागढ़ काठियावाड़ की एक छोटी-सी रियासत थी, जिसका शासक मुस्लिम था। उसने रियासत को पाकिस्तान में सम्मिलित करने की घोषणा कर दी और पाकिस्तान ने उसका विलय स्वीकार कर लिया जबकि वहां की अधिकांश जनसंख्या हिन्दू थी। रिसायत की जनता ने नवाब को पाकिस्तान भागने के लिए बाध्य कर दिया और नवम्बर 1947 में मुस्लिम दीवान को बाध्य होकर भारत सरकार को हस्तक्षेप के लिए आमन्त्रित करना छड़ा। लोगों की इच्छा को ध्यान में रखते हुए जनमत संग्रह के बाद जूनागढ़ भारत में सम्मिलित कर लिया गया।

26.2.3 क्रष्ण की अदायगी का प्रश्न- विभाजन के उपगत भारत और पाकिस्तान के बीच कई आर्थिक समस्याएँ थीं। दोनों देशों के बीच आमदनी और कर्ज का बंटवारा एवं लागत धन के बीच सन्तोषजनक बंटवारा करना था। मुद्रा के सम्बन्ध में निर्णय लेना था। आर्थिक समस्याओं में सबसे कठिन, विस्थापितों की सम्पत्ति की समस्या थी। जो हिन्दू शरणार्थी पाकिस्तान में अपनी सम्पत्ति छोड़कर आये थे उसका मूल्य 3 हजार करोड़ रुपये था, जबकि जो मुसलमान भारत में अपनी सम्पत्ति छोड़कर गये थे उसका मूल्य 300 करोड़ रुपये था। 1950 में नेहरू-लियाकतअली समझौते द्वारा इस समस्या का समाधान किया गया। इस स्थिति ने दोनों देशों के सम्बन्धों को बहुत जटिल बना दिया।

26.2.4 नहरी पानी विवाद- पंजाब के विभाजन के कारण नहरी पानी विवाद उठ खड़ा हुआ। ये नहरें उस समय बनायी गयी थी जब विभाजन का विचार तक किसी के मस्तिष्क में न था। विभाजन के कारण नहरों के पानी का असन्तुलित विभाजन हो गया। पंजाब की पांचों नदियों में से सतलज और रावी दोनों देशों के मध्य से बहती हैं।

झालम और चिनाव पाकिस्तान के मध्य से और व्यास पूर्णतया भारत में बहती है। परन्तु भारत के नियन्त्रण में वे तीनों मुख्यलय आ गये जिनसे दोनों देशों की नहरों को पानी की पूर्ति की जाती थी। पाकिस्तान के पंजाब और सिन्ध प्रदेश सिंचाई के लिए इन नहरों पर ही आश्रित हैं। पाकिस्तान को यह आशंका प्रारम्भ से ही हो गयी थी कि भारत जब चाहे पानी बन्द करके उसकी जनता को भूखे मार सकता है। अतएव विभाजन के तुरन्त पश्चात् से ही नहरी पानी को लेकर दोनों देशों में विवाद उत्पन्न हो गया।

26.2.5 शरणार्थियों की समस्या- विभाजन के बाद मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान में साम्रादायिक दंगे करवाये जिससे हजारों की संख्या में शरणार्थी भारत भागकर आ गये। पाकिस्तान में हिन्दूओं का जीवन और इज्जत सुरक्षित नहीं थी। हजारों व्यक्ति वहां मौत के घाट उतार दिये गये। हजारों महिलाओं के साथ बलात्कार हुए जिसकी भारत में भी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। यहां भी कई

स्थानों पर दंगे हुए और मुसलमान भागने लगे। भारत की धर्म निरपेक्ष सरकार उनकी रक्षा करती थी, परन्तु पाकिस्तान की सरकार अल्पसंख्यक हिन्दूओं की रक्षा नहीं करती थी। इसलिए जितनी बड़ी संख्या में विस्थापित पाकिस्तान से आये उतनी बड़ी संख्या में भारत से पाकिस्तान नहीं गये। बाद में भी पाकिस्तान से हिन्दू शरणार्थी अनवरत आते रहे। ये शरणार्थी पाकिस्तान में अपनी जमीन और सम्पत्ति छोड़ आये थे। भारत ने पाकिस्तान से क्षतिपूर्ति मांगी जिसे वह देने में आनाकानी करता रहा। शरणार्थियों की समस्या आज भी बनी हुई है। इस कारण से दोनों देशों के बीच कटुता की स्थिति उत्पन्न हुई।

26.2.6 कश्मीर विवाद- कश्मीर की समस्या दोनों देशों के बीच एक ऐसे ज्वालामुखी की तरह है जो समय-समय पर लावा उगलती रहती है। अलाप माईकल के शब्दों में, “कश्मीर समस्या अनिवार्यतः भूमि या पानी की समस्या नहीं, यह लोगों और प्रतिष्ठा की समस्या है।”

कश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच सबसे उलझी हुई समस्या है। स्वतन्त्रता के बाद जहां भारत और पाकिस्तान दोनों देशों द्वारा राज्य बने वहीं देशी रियासतें एक प्रकार से स्वतन्त्र हो गयीं। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी थी कि देशी रियासतें अपनी इच्छानुसार भारत अथवा पाकिस्तान में विलय हो सकती हैं। कश्मीर की स्थिति कुछ विशेष प्रकार की थी। अगस्त 1947 में कश्मीर के शासक ने अपने विलय के विषय में कोई तात्कालिक निर्णय नहीं लिया। पाकिस्तान इसे अपने साथ मिलाना चाहता था। 22 अक्टूबर, 1947 को उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबायलियों ने एवं पाकिस्तानियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान ने अपनी सीमा पर भी सेना का जमाव कर लिया।

26 अक्टूबर को कश्मीर के शासक ने आक्रमणकारियों से अपने राज्य को बचाने के लिए भारत सरकार से सैनिक सहायता की मांग की और साथ ही कश्मीर को भारत में सम्मिलित करने की प्रार्थना भी की। भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 27 अक्टूबर को भारतीय सेनाएं कश्मीर की ओर भेजी गयी। इन सेनाओं ने पाकिस्तान को कश्मीर से खदेड़ दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से दोनों देशों के बीच युद्धविराम हुआ। लेकिन विवाद तथा तनाव की स्थिति बनी रही।

26.2.7 भारत-पाक युद्ध, 1965 तथा ताशकन्द समझौता- अप्रैल 1965 में कच्छ के रन को लेकर भारत एवं पाकिस्तान के बीच संघर्ष हुआ। पाकिस्तानी सेना की दो टुकड़ियां भारतीय क्षेत्र में घुस आई और कच्छ के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। पाकिस्तान ने कश्मीर में भी पुस्पैठ प्रारम्भ कर दी थी। यह पुस्पैठ नूर्ण ओजनाबद्ध थी। यींग की सहायता से हजारों पाकिस्तानी सैनिकों को छापामार युद्ध में प्रशिक्षित किया गया था। योजना के अनुसार छापामार दस्ता शस्त्रों से सजित होकर असैनिक वेश में कश्मीर में घुसने वाला था।

पाकिस्तान का विश्वास था कि कश्मीर की मुस्लिम जनता छापामारों का साथ देगी। किन्तु यह विश्वास अन्त में असत्य प्रमाणित हुआ। 4 तथा 5 अगस्त, 1965 को हजारों पाकिस्तानी छापामार सैनिक कश्मीर में घुस आये। इसी बीच पाकिस्तान की नियमित सेना ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पार करके भारतीय भू-भाग पर आक्रमण कर दिया। और पूर्ण रूप से युद्ध आरम्भ हो गया। 4 सितम्बर, 1965 को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास कर भारत और पाकिस्तान दोनों से अपील की कि वे युद्ध-विराम करें। 22 सितम्बर, 1965 को दोनों देशों में युद्ध बन्द हो गया। भारत को युद्ध में 750 वर्ग मील भूमि मिली जबकि पाकिस्तान को 210 वर्ग मील भूमि मिली। यह युद्ध भारत-पाकिस्तान के कटु सम्बन्धों की घोर परिणति थी। इस युद्ध के बाद दोनों देशों के बीच शान्ति-वार्ता प्रारम्भ करने की दृष्टि से सोवियत प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति अव्यूब खां और भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री को वार्ता के लिए ताशकन्द में आमन्त्रित किया। 4 जनवरी, 1966 को यह प्रसिद्ध सम्मेलन प्रारम्भ हुआ और सोवियत संघ के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप 10 जनवरी, 1966 को प्रसिद्ध ताशकन्द सम्मेलन पर हस्ताक्षर हुए। समझौते के अन्तर्गत भारतीय प्रधानमंत्री एवं पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि :

- (1) दोनों पक्ष जोरदार प्रयत्न करेंगे कि संयुक्त घोषणा पत्र के अनुसार भारत और पाकिस्तान में अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध निर्मित हों।
- (2) दोनों देशों के सभी सशस्त्र सैनिक 25 फरवरी, 1966 के पूर्व उस स्थान पर वापस चले जायेंगे जहां वे 5 अगस्त, 1965 के पूर्व थे और दोनों पक्ष युद्ध-विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

- (3) दोनों देशों के परस्पर सम्बन्ध एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर आधारित रहेंगे।
- (4) दोनों देश एक-दूसरे के विरुद्ध होने वाले प्रचार को निरूत्साहित करेंगे और दोनों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की वृद्धि करने वाले प्रचार को प्रोत्साहन देंगे।
- (5) दोनों देशों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध पुनः सामान्य रूप से स्थापित किये जायेंगे।
- (6) दोनों देश युद्धबन्दियों का प्रत्यावर्तन करेंगे।

यद्यपि इस समझौते के कारण भारत को वह सब प्रदेश पाकिस्तान को बापस देने पड़े तथापि यह समझौता निश्चय रूप से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में एक शान्तिपूर्ण मोड़ आने का प्रतीक बन गया। समझौते पर हस्ताक्षर करने के तुरन्त बाद प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री का वहीं देहावसान हो गया।

26.2.8 भारत-पाक युद्ध, 1971 तथा शिमला समझौता- पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। शेख मुजीब के नेतृत्व में बंगलादेश में स्वायत्तता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पूर्वी पाकिस्तान पूर्णतया मुजीब के साथ था। याहाँ खाँ ने बंगालियों पर अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। पूर्वी बंगाल में घोर अत्याचारों से घबराकर बंगाली घर बाहर, सामान छोड़ जान बचाने हेतु भारत की सीमा में प्रवेश करने लगे। 10 हजार शरणार्थी प्रतिदिन भारत आने लगे। शरणार्थियों की संख्या भारत में 1 करोड़ तक पहुँच गयी। इसी समय 2 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तानी वायुयानों ने भारत के हवाई अड्डों पर भीषण बमबारी कर दी। 4 दिसम्बर, 1971 को भारतीय सेना ने जवाबी हमला किया। उसने बंगला देश को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता दे दी। इसके साथ ही भारत-पाकिस्तान के बीच भीषण संघर्ष प्रारम्भ हुआ। 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका में एक सैनिक समारोह में जनरल नियाजी ने भारत के ले. जनरल जगजीतसिंह अरोड़ा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। बंगलादेश स्वतंत्र हो गया तथा भारत ने एक तरफा युद्ध-विराम कर दिया।

28 जून, 1972 को शिमला में दोनों देशों के मध्य वार्ता होना तय हुआ। 3 जुलाई, 1972 को दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के निम्नलिखित मुख्य उपबन्ध थे –

(1) दोनों सरकारों ने यह निश्चय किया कि दोनों देश परस्पर संघर्ष को समाप्त करते हैं जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ उत्पन्न हुआ था।

(2) दोनों ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक-दूसरे के प्रति घृणित प्रचार नहीं करेंगी।

(3) स्थायी शान्ति कायम करने की प्रक्रिया का सिलसिला आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत हैं कि भारत और पाकिस्तान की सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जायेंगी। दोनों देशों के बीच कटुतापूर्ण संबंधों में नई शान्ति का बातावरण बना।

26.2.9 भारत विरोधी नीति- भारत-पाक सम्बन्धों में कटुता और वैमनस्य कई बार पाकिस्तान के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उत्पन्न हो जाता है। धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य को पाकिस्तान के शासक जान-बूझकर बनाये रखना चाहते हैं। वे साम्प्रदायिक विष को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बेलनों और संगठनों में भी अभिव्यक्त करते रहे। सितम्बर, 1963 में हजरत बाल-काण्ड को लेकर पाकिस्तान ने कश्मीर तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगे कराने का व्रयास किया। वह आतंकवादियों के प्रशिक्षण के अड्डे संचालित कर रहा है। इन आतंकवादियों ने भारत के अनेक स्थानों को अपना लक्ष्य बनाया। इन आतंकवादियों ने हजारों निर्देश लोगों की हत्याएँ की। भारतीय संसद पर आक्रमण करके भारतीय जनमानस को उद्भेदित किया। दोनों देशों में कटुता तथा संघर्ष का बातावरण चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। वर्तमान में जनरल मुशर्रफ तो भारत के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की बात करते हैं, लेकिन व्यवहार में, आतंकवाद को प्रोत्साहन देने तथा भारत विरोधी दुष्प्रचार में लगे हुए हैं।

26.2.10 पाकिस्तान की सीटों, सेण्टों की सदस्यता- भारत-पाक सम्बन्धों में कटुता पैदा करने वाली एक प्रमुख समस्या पाकिस्तान की गुटीय और शस्त्रों की होड़ की नीति थी। वस्तुतः पाकिस्तान ने सीटों (1955) और सेण्टों (1955) जैसे सैनिक संगठनों का सदस्य बनकर शीत-युद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया। दूसरे, पाकिस्तान ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए भारत विरोधी प्रचार का सहारा लेकर, अमरीका से ही नहीं, बल्कि सेण्टों शक्तियों, विशेषकर ईरान से प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता

प्राप्त की। पश्चिमी शक्तियां भी इस उप-महाद्वीप में पाकिस्तान को भारत के बराबर बनाये रखना चाहती है। वे समझती हैं कि यदि भारत को शान्ति का समय मिल गया तो वह महान शक्ति बन जायेगा। अतः अमरीका ने भारत के विरोध पर भी पाकिस्तान को अस्त्र-शस्त्र दिये।

26.3 भारत-पाक सम्बन्ध : रिश्तों को सुधारने के प्रयत्न

भारत-पाक सम्बन्धों को सामान्य बनाने के भी प्रयत्न किये जाते रहे हैं। ताशकन्द समझौता तथा शिमला समझौता कुछ इसी प्रकार के प्रयत्न थे। 1974 में जो त्रि-पक्षीय समझौता हुआ उससे युद्धबन्दियों की समस्या का समाधान हुआ। 17 दिसम्बर, 1985 को प्रधानमंत्री राजीव गांधी और राष्ट्रपति जिया उल हक के मध्य एक छ: सूत्री समझौता हुआ जिसमें तय किया गया कि वे एक-दूसरे के परमाणु ठिकानों पर हमला नहीं करेंगे। 31 दिसम्बर, 1988 को दोनों देशों के मध्य तीन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण समझौता दोनों देशों के बीच एक दूसरे के परमाणु संस्थानों पर हमला नहीं करने से सम्बद्ध है। 17 फरवरी, 1999 को भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने दिल्ली लाहौर बस सेवा प्रारम्भ की। 14 जुलाई, 2001 को प्रधानमंत्री वाजपेयी और पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ के बीच आगरा शिखर वार्ता सम्पन्न हुई। परन्तु इसी बीच 13 दिसम्बर, 2001 का संसद भवन परिसर में आतंकी हमले से भारत एवं पाकिस्तान के सम्बन्धों में गम्भीर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। हमले में पाकिस्तान समर्थित लश्कर-ए-ताजिबा व जैश-ए-मोहम्मद का हाथ होने के प्रमाण मिलने के बाद भारत ने पाकिस्तान के प्रति काढ़ा रुख अपनाया।

पाकिस्तान से सम्बन्ध सुधारने की दिशा में एक बार फिर अपनी ओर से पहल करते हुए 22 अक्टूबर, 2003 को भारत ने 12 सूत्री नए प्रस्तावों की घोषणा की। पाकिस्तान के प्रधानमंत्री जमाली ने ईद के दिन से जम्मू-कश्मीर में नियन्त्रण रेखा पर एक तरफा संघर्ष विराम की घोषणा कर भारत से सकारात्मक जवाब देने की मंशा जताई। भारत ने नियन्त्रण रेखा पर संघर्ष विराम की पाक की पेशकश मंजूर करते हुए सियाचिन क्षेत्र में संघर्ष विराम की पेशकश की। दोनों देशों के बीच 1 जनवरी, 2004 से वायु सम्पर्क खुलने पर सहमति बनी। दोनों देशों में बस सेवा बहाल हो गई है। जम्मू-कश्मीर में नियन्त्रण रेखा पर गोलाबारी बन्द है। सीमा पर ऐसी शान्ति कई वर्षों बाद बनी है। लेकिन कब तक यह स्थिति बनी रहेगी, यह एक प्रश्न चिह्न है ?

26.4 सारांश

संक्षेप में दोनों देशों को अपने द्विपक्षीय तनावगृही सम्बन्धों को छोड़ते हुए विकास पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। दोनों देशों को अपने शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों के मूल्य आसियान, राष्ट्रमण्डल, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् जैसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर चुकानी पड़ रही है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज मुशर्रफ की भारत यात्रा से दोनों देशों के बीच संबंधों को सामान्य बनाने में सहायता अवश्य मिली है। लेकिन इस बारे में अभी भी बहुत करना शेष है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद के प्रमुख मुद्दों का विवेचन कीजिए?
2. सन् 1947 से भारत-पाक सम्बन्धों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। इनके सम्बन्धों में कौन-कौनसे प्रमुख चिह्नचिङ्गहट के प्रश्न हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान की विदेश नीति को स्पष्ट करिए।
2. भारत-पाक सम्बन्धों का वर्णन करिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पाकिस्तान अपना स्वतन्त्रता दिवस किस दिन मनाता है?
2. शिमला समझौता किन देशों के बीच हुआ?
3. लाहौर घोषणा का सम्बन्ध किससे है?

अध्याय-27

भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

संरचना

- 27.0 उद्देश्य
- 27.1 प्रस्तावना
- 27.2 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध
 - 27.2.1 भारतीय प्रवासियों की समस्या
 - 27.2.2 कच्छदीप टापू का मसला
 - 27.2.3 श्रीलंका की जातीय (तमिल) समस्या
- 27.3 सारांश

27.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारत-श्रीलंका के बदलते सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- भारत-श्रीलंका सम्बन्धों की ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- भारत-श्रीलंका सम्बन्धों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अध्ययन कर सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

श्रीलंका भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित एक छोटा राष्ट्र है। सांस्कृतिक दृष्टि से श्रीलंका का भारत के साथ बहुत प्राचीन सम्बन्ध है। श्रीलंका के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। हिन्द महासागर में भारत के समीप होने के कारण सैनिक एवं सामरिक दृष्टि से श्रीलंका का भारत के लिए अत्यधिक महत्व है। भारत और श्रीलंका एक-दूसरे के पड़ोसी देश हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध पड़ोसियों के सम्बन्धों से अधिक ज़हरे हैं। श्रीलंका भारतीय उपमहाद्वीप का ही एक अंग है, अतः इसका राजनीतिक महत्व ही नहीं बल्कि औद्योगिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्व भी है। वैसे भी भारत एवं श्रीलंका के सम्बन्ध सदियों पुराने हैं। मौर्य सम्प्राट अशोक के युग में भी श्रीलंका और भारत के बीच गहरे सम्बन्ध थे। फिर भी भारत और श्रीलंका में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होने पर भी समय-समय पर कुछ घटनाएं घटित होती रही हैं जिससे दोनों के बीच मतभेद उभरकर सामने आये। इन मतभेदों के कारण दोनों देशों के संबंधों में कटुपूर्ण सम्बन्ध बने।

27.2 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में निरन्तर उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। दोनों देशों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी श्रीलंका में भारतीय प्रवासियों की समस्या (तमिल समस्या) और पाक जलडमरुमध्य में स्थित कच्छदीप टापू के सम्बन्ध में दोनों देशों में तनाव रहा है।

27.2.1 भारतीय प्रवासियों की समस्या- भारत और श्रीलंका के मध्य विवाद का प्रमुख कारण भारतीय प्रवासियों को लेकर उत्पन्न हुआ। श्रीलंका के अधिकांश भारतीय प्रवासी चाय और रबड़ की खेती पर काम करवाने के लिए लाये गये थे। ये श्रमिक सस्ते थे और इनमें से अधिकांश दक्षिण भारत के थे। 1948 में श्रीलंका के स्वतन्त्र होने तक यह ब्रिटिश नागरिकों के रूप में समान अधिकारों एवं मताधिकार का लाभ उठाते थे परन्तु शीघ्र ही, 1948 के श्रीलंका नागरिकता अधिनियम एवं संसदीय अधिनियम (1949) के द्वारा

इन्हें मताधिकार से वंचित कर दिया गया। नागरिकता प्राप्त करने के लिए उन्हें यह प्रमाणित करना पड़ता था कि उनके माता-पिता या वे स्वयं श्रीलंका में जन्मे थे और 1939 से लगातार श्रीलंका में ही निवास कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीलंका सरकार का विचार सम्भवतः यह था कि कम-से-कम भारतीयों को श्रीलंका की नागरिकता प्राप्त हो सके। प्रवासी भारतीय श्रमिकों को, जिनके श्रम से श्रीलंका ने आर्थिक उन्नति की और यूरोपीय पूंजीपतियों के कोष भेरे अब श्रीलंका से बहिष्कृत करने का प्रयास किया जा रहा था। समस्या और भी अधिक गम्भीर तब हो गयी जब श्रीलंका सरकार ने प्लाणटेशन लेबर एवं विदेशी व्यावसायिक संगठनों का राष्ट्रीयकरण करने की नीति अपनाई। अशिक्षित भारतीय श्रमिकों के साथ यह अन्याय था अतएव भारत सरकार के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया।

श्रीलंका में भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम 1954 में 'नेहरू कोटलेवाला समझौता' हुआ था। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि जो भारतीय श्रीलंका की नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं उनके नाम वहाँ दर्ज कर लिए जायें और जो अपनी भारतीय नागरिकता नहीं छोड़ना चाहते वे भारत लौट जायें। इस समझौते में गैर-कानूनी भारतीय प्रवासियों को भारत लौट जाने के लिए कहा गया था और भविष्य में भारतीयों के लिए श्रीलंका में प्रवेश पर रोक लगा दी गई थी। इस समझौते को पूर्णतः लागू नहीं किया गया। अतः 1954 में नेहरू-कोटलेवाला भेंट में यह निश्चय किया गया कि "राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों" की संख्या कम कर दी जाये, पंजीकरण किया में शीघ्रता लाई जाय और दो वर्ष की अवधि में इस कार्य को पूरा किया जाय। श्रीलंका की सरकार ने इस समझौते का ईमानदारी से पालन नहीं किया और भारतीय मूल के बहुत सारे व्यक्तियों को नागरिकता विहीन बना दिया।

राज्यविहीन नागरिकों की स्थिति पर दोनों सरकारों में मूलभूत अन्तर था। श्रीलंका सरकार इन्हें तब तक भारतीय नागरिक कहती थी जब तक वह उन्हें अपना नागरिक न मान ले। भारत सरकार के दृष्टिकोण से केवल वे ही व्यक्ति भारतीय नागरिक थे, जिनके पास सदैव से भारतीय पासपोर्ट अथवा अनुमति-पत्र थे और जिन्होंने भारतीय उच्चायुक्त के ऑफिस में अपने को पंजीकृत करा लिया था शेष व्यक्ति राज्यविहीन थे। इसी प्रकार बड़ी संख्या में राज्यविहीन व्यक्तियों की समस्या उत्पन्न हो गयी। इससे भारत और श्रीलंका के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो गयी। 1956 के भाषा विवाद से यह कटुता और बढ़ गयी। परन्तु भण्डारनायके के प्रधानमन्त्रित्व (1956-59) में भारत और श्रीलंका सम्बन्धों में सुधार हुआ। भण्डारनायके नेहरू के प्रशंसक और मित्र थे, वे गुटनिरपेक्षता की नीति में विश्वास करते थे और भारत को श्रीलंका का एक बड़ा मित्र राष्ट्र मानते थे।

27.2.2 कछ्ढीव टापू का मसला- भारत श्रीलंका के बीच दूसरा मामला कछ्ढीव से सम्बन्धित रहा है। कछ्ढीव भारत और श्रीलंका के समुद्री तटों के बीच 200 एकड़ का एक छोटा-सा द्वीप है, जिसमें नागफंनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं उगता है। यहाँ जनसंख्या नहीं के बराबर है और आस-पास मछुआरे मछली अवश्य पकड़ते हैं। दोनों देश इस भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जताते थे। विवाद इसलिए और भी बढ़ गया क्योंकि इस द्वीप के आस-पास तेल के काफी बड़े भण्डार होने की आशा की जाती थी। भारत ने एक महान् पड़ोसी देश की परम्परा का निर्वाह करते हुए इस छोटे-से द्वीप के कारण दोनों देशों के बीच विवाद को लम्बा खींचना उपयुक्त नहीं समझा। 28 जून, 1974 को दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कछ्ढीव टापू पर भारत ने श्रीलंका की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया।

27.2.3 श्रीलंका की जातीय(तमिल) समस्या- 1982-2001 में भारत-श्रीलंका सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला मुख्य मुद्दा श्रीलंका का तमिल अल्पसंख्यक समुदाय है। श्रीलंका की 17.13 मिलियन की आबादी में 74 प्रतिशत सिंहली, 13 प्रतिशत तमिल, 6 प्रतिशत भारत मूल के तमिल और शेष अन्य लोग हैं। तमिल श्रीलंका के जाफना प्रायद्वीप में रहते हैं। तमिल लोग धर्म से हिन्दू कहलाते हैं और सिंहली बौद्ध। अनेक कारणों से श्रीलंका के तमिलों में असुरक्षा, अविश्वास और आतंक की भावना विद्यमान रही है। जयवर्द्धने छी सरकार ने तमिलों के विरुद्ध घोर भेदभावपूर्ण नीतियां अपनायी। आतंकवादियों के दमन के नाम पर निर्दोष लोगों की सामूहिक हत्या की जाने लगी। 1977 के बाद चार बड़े दंगे एवं 1983-85 का नरसंहार आदि ने तमिल नूंवशियों को बाध्य कर दिया कि या तो वे समुद्र में कूद पड़ें या समुद्र पार कर भारत आ जायें।

श्रीलंका के तमिलों के वर्तमान आन्दोलन का मूल कारण वहुसंख्यक सिंहलियों द्वारा की गयी भेदभाव की नीति है। एक तरफ देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सिंहली शासक वर्ग का एकाधिकार है और दूसरी तरफ बौद्ध धर्म को देश का राष्ट्रीय धर्म बना दिया गया है और सिंहली भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिया गया है। दूसरी तरफ श्रीलंका के तमिल समुदाय ने अपने

आपको (Tulh) 'तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट' नाम के राजनीतिक संगठन में संगठित कर रखा है और इसके माध्यम से समय-समय पर वह अपने असन्तोष को अभिव्यक्त भी करता रहता है। तमिलों के कुछ उग्रवादी संगठन 'ईलम' नाम के पृथक राष्ट्र के निर्माण की बात करते हैं परन्तु तमिलों का प्रमुख संगठन 'तुलफ' (Tulh) स्वायत्तता की ही मांग करता है। यह संगठन श्रीलंका को विभाजित नहीं करना चाहता परन्तु यह तमिलों के लिए एक स्वतन्त्र देश के नागरिकों की तरह सम्मानित जीवन अवश्य प्राप्त करना चाहता है। यही मुद्दा तमिल आन्दोलन का मूल आधार है।

श्रीलंका के तमिल अल्पसंख्यक समुदाय की समस्या उसका आन्तरिक मामला है। और भारत श्रीलंका के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। भारत 'ईलम' (पृथक तमिल राज्य) की धारणा का समर्थक नहीं है, वह संगठित और अखण्ड श्रीलंका ही बनाये रखना चाहता है। तथापि अनेक कारणों से वहां पर होने वाली घटनाओं के प्रति भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक था। भारत की चिन्ता का मूल कारण जयवर्द्धने सरकार द्वारा तमिलों के विरुद्ध घोर भेदभावपूर्ण नीतियां अपनाना और आतंकवादियों के दमन के नाम पर निर्दोष लोगों की सामूहिक हत्या करना है।

जुलाई 1983 में तमिल आतंकवादियों ने 13 सैनिक मार डाले। इस पर श्रीलंका की सिंहली सेना यागल हो उठी और सैकड़ों निर्दोष तमिलों को गोलियों से भून डाला। सरकारी जेलों में बन्दी तमिलों की नृशंस हत्या कर दी गयी। उनके घर और व्यापारिक प्रतिष्ठान जला दिये गये श्रीलंका के ये अत्याचार इतने बिकराल थे कि स्वयं श्रीलंका को यह आशंका होने लगी कि भारत उस पर आक्रमण कर सकता है। उसने इसके विरुद्ध अमरीका, ब्रिटेन, पाकिस्तान और बंगलादेश से सैनिक सहायता का आश्वासन मांगा। जबकि भारत की इस प्रकार की कोई कार्यवाही करने की इच्छा नहीं रही। श्रीलंका सरकार समस्या का समाधान सैनिक शक्ति के बल पर निकालने का प्रयत्न करती रही जबकि भारत बातचीत के माध्यम से समस्या का हल करने की सलाह देता रहा है। श्रीलंका सरकार ने तमिल विद्रोहियों का सफाया करने के लिए जनवरी, 1987 में जाफना की आर्थिक नाकेबन्दी की, मई, 1987 में श्रीलंका की सेना ने जाफना पर चौतरफा हमले भी किये। भारत ने तमिल नरसंहार पर 'दुःख' जाहिर किया और 'जातीय संहार की भर्तसना की। भारतीय कूटनीति अचानक संघर्ष की मुद्रा में आ गयी और भारत ने 1 जून, 1987 को मानवीय आधार पर जाफना की पीड़ित जनता के लिए राहत सामग्री भेजने की घोषणा की। भारतीय नौकाएं भारतीय रेडक्रॉस के झण्डे के नीचे राहत सामग्री लेकर 3 जून, 1987 को जाफना की ओर रवाना हुई। परन्तु श्रीलंका के नौ सैनिक बेडे ने नौकाओं को श्रीलंका की जल सीमा में प्रवेश नहीं दिया। यह भारत के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। अतः भारत ने 5 जून, 1987 को खाद्य सामग्री और दवाएं जाफना प्रायद्वीप पर विमान से गिराने का निर्णय किया। श्रीलंका ने भारत की हवाई राहत की तीव्र आलोचना की। इसे श्रीलंका की सीमा और सम्प्रभुता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के खुले उल्लंघन की संज्ञा दी। हवाई राहत का एक अभियान यह निकला कि इसने श्रीलंका की जातीय समस्या को भारत-श्रीलंका समस्या में परिवर्तित कर दिया।

राजीव जयवर्द्धने समझौता- 29 जुलाई, 1987 को भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने के बीच कोलम्बो में 29 जुलाई, 1987 को एक 18 सूत्री समझौता हुआ। चूंकि यह समझौता कोलम्बो में हुआ इसीलिए इसे 'कोलम्बो समझौता' भी कहते हैं। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्न हैं :-

1. उपद्रवग्रस्त उत्तरी प्रान्त में 48 घण्टों के भीतर युद्ध-विराम।
2. लापल उग्रवादियों द्वारा 72 घण्टों में हथियार डालना।
3. उत्तरी प्रान्त में यह तय करने के लिए कि क्या लोग उत्तरी प्रान्त के साथ विलय चाहते हैं, वर्ष के अन्त तक जनमत संग्रह करना, जनमत संग्रह के समय भारतीय निर्वाचन आयोग का एक सदस्य उपस्थित रहेगा।
4. प्रान्तीय परिषदों के लिए अगले तीन माह में चुनाव और हर हालत में दिसम्बर तक चुनाव।
5. एकीकृत उत्तर पूर्वी प्रान्तीय परिषद् के चुनावों के लिए भारतीय पर्यवेक्षण आमन्त्रित किये जायेंगे।
6. उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के लिए एक गवर्नर, मन्त्रिपरिषद् व विधान परिषद् का गठन।
7. भारत सरकार इस समझौते के कार्यान्वयन की गारन्टी देगी। भारतीय क्षेत्र का प्रयोग किसी ऐसी गतिविधि के लिए नहीं किया जायेगा, जो श्रीलंका की एकता व अखण्डता को हानि पहुँचाने वाली हो।

8. भारतीय नौ सेना और तटरक्षक दल श्रीलंका के अधिकारियों के साथ इस बात के लिए सहयोग करेंगे कि तमिल उग्रवादियों की गतिविधियों को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करें।
9. भारत, श्रीलंका के उन नागरिकों को बापस भेज देगा, जो आतंकवादी गतिविधियों में लिस पाये जायेंगे।
10. भारत में श्रीलंका के शरणार्थियों को श्रीलंका सरकार बापस ले लेगी।
11. श्रीलंका में गिरफ्तार राजनीतिक लोगों को छोड़ दिया जायेगा और उन्हें क्षमा कर दिया जायेगा।
12. भारत, श्रीलंका की सेनाओं को इस समझौते के कार्यान्वयन हेतु जब कभी आवश्यक हो, प्रशिक्षण सुविधाएं तथा सैनिक साज-सामान देगा।

राजीव-जयवर्द्धने समझौते को 'बेमिसाल' और ऐतिहासिक समझौता कहा गया। राजीव गांधी के अनुसार यह '20वीं सदी का सबसे बड़ा समझौता है।' यह समझौता श्रीलंका की एकता और अखण्डता की गारन्टी देता है। समझौता 'तमिल होमलैण्ड' का जिक्र किये बिना पूर्वी और उत्तरी प्रान्तों का तमिलों के 'आदतन आवास' का क्षेत्र स्वीकार करता है। जहां उनकी अपनी निर्वाचित प्रान्तीय परिषद् होगी, अपना गवर्नर, मुख्यमंत्री और मन्त्रिमण्डल होगा। समझौता दक्षिण एशिया में शान्ति स्थापित करने और विदेशी हस्तक्षेप को नेस्तनाबूद करने का प्रयत्न था।

इस समझौते को दोनों देशों के नेताओं के साहस और सूझाबूझ का परिणाम कहना समीचीन होगा समझौता भारत की कूटनीतिक सफलता थी।

श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना - राजीव-जयवर्द्धने समझौते के अन्तर्गत 'भारतीय शान्ति सेनाएं' श्रीलंका भेजी गयी। भारतीय सेना के चौथे और 54 वें डिवीजन के 50 हजार जवान जाफना में फैल गये। शान्ति सेना का उद्देश्य के प्रभाकरन के नेतृत्व वाले तमिल मुक्ति चीतों के गढ़ जाफना को घेरकर उन्हें आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना था। मुक्ति चीतों ने राजीव-जयवर्द्धने समझौता स्वीकार नहीं किया। जाफना को मुक्त करने में आई सारी कठिनाइयों के बावजूद इस उपलब्धि को शान्ति सेना के एक अधिकारी ने 'एक वाहियात लड़ाई और वह भी दूसरों के लिए लहौ गयी' बताया। भाजपा नेता जसवन्तसिंह के अनुसार पहली बार भारतीय सेना को एक ऐसी कार्यवाही में लगा दिया गया जहां उन्हें पता ही नहीं चल रहा कि वे अपनी जान की जोखिम क्यों उठा रही हैं? लगभग 1,100 जवान और अधिकारी मारे गये और तीस हजार घायल हुए। भारतीय जवानों का मानना था कि वह एक शान्ति सेना ने होकर विद्रोहियों से लड़ने वाली सेना दिखलायी पड़ने लगी थी। जयवर्द्धने ने अपनी कूटनीति से भारतीय सेना को तमिल उग्रवादियों से भिड़ा दिया। भारतीय शान्ति सेनाएं श्रीलंका में उस दिन तक रहीं जब तक वहां की सरकार उनकी आवश्यकता समझती थी। प्रेमदासा ने राष्ट्रपति बनने के साथ ही भारत सरकार से शान्ति सेना की वापसी का अनुरोध किया। अतः जनवरी, 1989 से भारतीय शान्ति सेना की वापसी श्रीलंका से शुरू हो गयी। यह वापसी कई चरणों में हुई।

केन्द्र में विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार की स्थापना के साथ भारत की श्रीलंका नीति में परिवर्तन आया। राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने 'शान्ति सेनाओं की वापसी' और 'श्रीलंका के तमिलों की सुरक्षा' के मुद्दों को एक-दूसरे से अलग करके जातीय समस्या को हल करने का उत्तरदायित्व श्रीलंका पर डाल दिया। भारतीय शान्ति सेना तमिलों में आम सहमति का निर्माण करने में नितान्त असफल रही। सर्वप्रथम भारत ने एल.टी.टी. ई. के विरुद्ध अन्य तमिल आतंकवादियों के संगठनों को हथियारों की आपूर्ति की। तत्पश्चात् तमिल क्षेत्रों में 'तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट' तथा पीपुल्स लिबरेशन ऑर्गेनाइजेशन ऑफ तमिल ईलम' के साथ राजनीतिक प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ करने का प्रयास किया। जब भारत राजनीतिक एवं सैनिक दृष्टि से लिट्रे को नियन्त्रण में लाने में असफल रहा और जब उसे यह अनुभव होने लगा कि उत्तरी पूर्वी प्रान्तीय परिषद् के चुनाव में और अधिक विलम्ब होने से भारत-श्रीलंका समझौता निष्प्रभावी होता जा रहा है तो इसने ईलम, पीपुल्स रिवोल्यूशनरी फ्रण्ट को लिट्रे के विकल्प के रूप में खड़ा करने का प्रयास किया। इस प्रकार तमिल समस्या का निराकरण करने के स्थान पर भारत ने तमिलों के विभिन्न वर्गों में मतभेदों को और उभार दिया। तमिल क्षेत्रों के बाहर भारतीय सेना की गतिविधियों ने सिंहली-बौद्ध राष्ट्रवाद को उभारने में अहम् भूमिका निभाई।

एल.टी.टी.ई. का एलिफेंट दर्जे पर कब्जा और भारत का सैनिक हस्तक्षेप से इन्कार- अप्रैल-मई 2000 में कभी खत्म न होने वाला जातीय संघर्ष श्रीलंका में फिर तेज हो गया। पांच साल पहले श्रीलंका की सेना ने खूंखार तमिल चीतों (एल.टी.टी.ई.) को

उत्तरी जाफना वाली उनकी मांद से खदेड़ दिया था। लेकिन मई-जून 2000 में एल.टी.टी.ई. ने अलग तमिल राष्ट्र के अपने 20 साल पुराने खूनी अभियान में अब तक का सबसे बड़ा हमला करके लस्त-पस्त श्रीलंकाई सैनिकों को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। जाफना की तरफ एल.टी.टी.ई. के बढ़ने और सैन्य ठिकानों पर भारी हमले के कारण राष्ट्रपति चन्द्रिका कुमार तुंगा को मजबूरन इमरजेंसी जैसी स्थिति की घोषणा करनी पड़ी। एल.टी.टी.ई. के पश्च में सबसे अनूठा बदलाव सामरिक महत्व के एलिफेंट दर्दा गैरिसन पर 27 अप्रैल, 2000 को कब्जे से आया। एलिफेंट दर्दा जाफना प्रायद्वीप का प्रवेशद्वार है और उसकी सुरक्षा के लिए अति महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी बीच श्रीलंका सरकार अपने सैनिकों के लिए अस्त-शस्त्र की तेजी से खरीदारी करने लगी। उसने 17 साल बाद इजरायल से राजनीतिक सम्बन्ध जल्दबाजी में बहाल करके उससे तत्काल पांच 'केफिर' लड़ाकू विमान भेजने की गुजारिश की।

भारत ने सैनिक हस्तक्षेप या हथियार बेचने से मना कर दिया। भारत के विदेश मन्त्री जसवन्तसिंह ने सैन्य दखल अथवा किसी भी तरह की सैनिक सहायता से स्पष्ट इन्कार करते हुए राजनीतिक हल के जरिए स्थायी शान्ति बहाल करने में श्रीलंका का भारत के पूरे समर्थन का भरोसा दिलाया।

श्रीलंका की राष्ट्रपति श्रीमती चन्द्रिका कुमारतुंगे की फरवरी 2001 में सम्पन्न चार दिन की भारत यात्रा के दौरान श्रीलंका की लिट्टे समस्या के मामले में दोनों देशों के बीच जहां बेहतर समझबूझ विकसित हुई वहीं दक्षेस के बैठकों के सम्बन्ध में चल रहे गतिरोध को तोड़ने में भी मदद मिली है। दिसम्बर, 2001 में सम्पन्न संसदीय चुनावों के बाद नव निर्वाचित प्रधानमंत्री विक्रम सिंधे ने पहली विदेश यात्रा भारत की ही की है। भारतीय नेताओं के साथ (22-24 दिसम्बर) उनकी वार्ताएं श्रीलंका की तमिल समस्या के समाधान पर ही मुख्य रूप से केन्द्रित रही। नार्वे की मध्यस्थता से श्रीलंका सरकार व तमिल विद्रोहियों के संगठन 'लिट्टे' के मध्य एक अनिश्चितकालीन युद्ध विराम समझौता 23 फरवरी, 2002 से प्रभावी हो गया है। 22 फरवरी को हुए संघर्ष विराम के इस समझौते को सबसे पहले भारत व जापान ने अपना सार्वजनिक समर्थन दिया। श्रीलंका में शान्ति की उम्मीद जगाने वाला युद्ध विराम लगभग 16 महीनों के उत्तर-चढ़ाव के बाद अब संकट की स्थिति में पहुंच गया है। हाल ही टोक्यो में आयोजित दाता देशों के सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की अनेक अपीलों के बावजूद लिट्टे (लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम) अनुपस्थिति रहा। इस प्रमुख विद्रोही संगठन को शान्ति वार्ता में लौटने में अब प्रतिष्ठित विदेशी प्रतिनिधि भी असरदार सिद्ध नहीं हो रहे हैं। सच बात तो यह है जब से लिट्टे ने शान्ति वार्ता से आने को अस्थाई तौर पर अलग करने की घोषणा की है, श्रीलंका में शान्ति स्थापना की सम्भावना निरन्तर घूमिल पड़ती रही है।

27.3 सारांश

श्रीलंका में विगत अनेक वर्षों से चल रहे गृहयुद्ध से अशानि एवं अस्थिरता का जन्म हुआ है। गृहयुद्ध के दौरान हो रही मुठभेड़ों में सैनिकों के साथ बड़ी संख्या में तमिल विद्रोही भी मारे जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में भारत ने श्रीलंका के समक्ष अपने इस विश्वास को दोहराया है कि श्रीलंका की एकता और अखण्डता बरकरार रखते हुए ही जातीय समस्या का बातचीत द्वारा स्थायी राजनीतिक समाधान किया जा सकता है। वर्तमान में दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य ही हैं। लेकिन तमिल समस्या का समाधान अनिर्णीत ही है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत-श्रीलंका सम्बन्धों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. 1970 से भारत-श्रीलंका सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. राजीव-जयवर्द्धने समझौता कब सम्पन्न हुआ?

भारत-इजरायल सम्बन्ध

संरचना

- 28.0 उद्देश्य
- 28.1 प्रस्तावना
- 28.2 भारत-इजरायल सम्बन्ध
 - 28.2.1 खाड़ी युद्ध
 - 28.2.2 इस्लामिक संघ के निर्माण की सम्भावना
 - 28.2.3 बदलती अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति
 - 28.2.4 खाड़ी युद्ध में संयमपूर्ण व्यवहार
 - 28.2.5 तकनीक एवं आर्थिक सहयोग की सम्भावना
- 28.3 भारत व इजरायल के पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध
- 28.4 सारांश

28.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित इजरायल के साथ भारत के सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- भारत ने लम्बे समय तक इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित क्यों नहीं किये ? का अध्ययन कर सकेंगे,
- पश्चिमी एशिया समस्या के मूलभूत कारणों को जान सकेंगे,
- वर्तमान भारत-इजरायल सम्बन्धों का अध्ययन कर सकेंगे।

28.1 प्रस्तावना

इजरायल मध्यपूर्व (पश्चिमी एशिया) में स्थित है और तीन ओर से अरब राज्यों से घिरा हुआ है। इस राज्य में प्राचीन फिलिस्तीन का थोड़ा सा भाग है। 29 नवम्बर 1947 को राष्ट्र संघ ने फिलिस्तीन का विभाजन करके एक भाग यहूदियों को और दूसरा भाग अरबों को दे दिया। 15 मई, 1848 को यहूदियों ने अपने भाग को इजरायल राज्य के नाम से घोषित कर दिया। पिछले 40 वर्षों से अधिक समय तक द्विपक्षीय सम्बन्ध ठण्डे पड़े रहने के पश्चात् भारत ने इजरायल के साथ पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करके पश्चिम एशिया में एक नए राजनीतिक युग का सूत्रपात किया।

फिलिस्तीन भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित एक छोटा-सा ऐतिहासिक राज्य था जिसकी राजधानी यरूशलम थी। यह विश्व के महान् ऐतिहासिक स्थलों में से एक है तथा विश्व के दो प्रमुख धर्मों- यहूदी तथा ईसाई धर्मों का जन्म-स्थान भी है। इस्लाम धर्म के अनुयायी भी इसे पवित्र स्थान मानते हैं। पूर्वी यूरोप के राज्यों में यहूदियों पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों के कारण भारी संख्या में यहूदियों का फिलिस्तीन में प्रवेश हुआ। वास्तव में, यह यहूदी फिलिस्तीन के ही मूल निवासी थे जो विश्व के विभिन्न राज्यों में जाकर बस गए थे। इन अत्याचारों ने विश्व भर के यहूदियों में जागृति उत्पन्न कर दी। उन्होंने एक पृथक् स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना के उद्देश्यों से यहूदीवाद या जियोनिज्म नाम से एक आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसी संकल्पना के अनुरूप यहूदी फिलिस्तीन में आकर बसने लगे। इससे अरबों तथा यहूदियों में शत्रुता और संघर्ष बढ़ता चला गया। अब तक अरबों और इजरायलियों के बीच चार बड़े पैमाने पर युद्ध 1948, 1956, 1967 तथा 1973 में हो चुके हैं। परिणामस्वरूप इजरायल ने पूरे फिलिस्तीन तथा उसके बाहर के कुछ

क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। इजरायल ने इन क्षेत्रों पर अपना कब्जा कायम रखा तथा युद्ध में अधिकृत क्षेत्रों पर यहूदी बसित्याँ बसाता चला जा रहा है। लेकिन 2005ई. में इजरायल ने फिलिस्तीन से यहूदी बसित्यों से खाली करने का निर्णय लिया है। इससे देश के कटुरपंथी नाराज हुए हैं।

28.2 भारत-इजरायल सम्बन्ध

भारत ने इजरायल को सितम्बर 1950 में मान्यता तो प्रदान कर दी परन्तु वहाँ अपना कोई राजनयिक मिशन नहीं खोला था। इजरायल ने भारत में अपने हितों की देखभाल के लिए मुम्बई में 1951 में अपना वाणिज्य दूतावास खोला था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर भारत ने लम्बे समय तक इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित क्यों नहीं किये? इसके प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसके लिए पण्डित नेहरू की आदर्शवादिता, भारत द्वारा इजरायल को आक्रमणकारी मानने तथा उसे फिलिस्तीनियों के साथ अन्याय करने वाले देश के रूप में मानने, भारत के अरब राष्ट्रों में निहित व्यापारिक तथा राजनयिक हित, इजरायल द्वारा जीते हुए अरब प्रदेशों को खाली करने से इन्कार करने, इजरायल द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों को नहीं मानने तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमर्यादित तथा अनियन्त्रित आचरण करने तथा भारत की आन्तरिक मुस्लिम राजनीति के दबाव जैसे कारण उत्तरदायी रहे हैं।

उपर्युक्त इन सभी कारणों से एक ऐसी स्थिति का जन्म हुआ, जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से भारत के लिए यह आवश्यक हो गया कि इजरायल के विरुद्ध अरबों के संघर्ष में अरब देशों के साथ दिखाई दे। अनेक अवसरों पर इजरायल ने भारत का समर्थन किया, भारत से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की किन्तु हम इजरायल को अछूत मानते रहे। परन्तु पिछले वर्षों में अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने भारत को अपनी विदेशी नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया। संक्षेप में, ये घटनाएँ अग्रलिखित हैं-

28.2.1 खाड़ी युद्ध - इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना खाड़ी युद्ध रहा है जिसमें अरब देशों की एकता को समाप्त कर दिया। कुछ अरब देश जैसे, सीरिया तथा मिस्र इराक के विरुद्ध अमरीकी नेतृत्व में लड़ने वाली सेनाओं के साथ रहे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इजरायल स्वयं बहुराष्ट्रीय सेनाओं का पक्षधर था। सद्विम हुसैन ने कुवैत पर इराक के कब्जे की स्थिति को इजरायल द्वारा फिलिस्तीनी क्षेत्र पर कब्जा करने की स्थिति के समतुल्य घोषित किया था। पश्चिम एशिया की भू-राजनीति में सम्भवतः यह पहला अवसर था जब फिलिस्तीनी समस्या अरब देशों को एकता के सूत्र में बांधे रहने वाली सिद्ध न हो सकी। शक्तिशाली इराक के सम्भावित खतरे से भयभीत अरब देश अपने-अपने हितों एवं क्षेत्रीय अखण्डताओं को प्राथमिकता देने में जुट गए।

28.2.2 इस्लामिक संघ के निर्माण की सम्भावना- इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण एवं सकारात्मक कारण कटुरपंथी मुस्लिम गुटों- पाकिस्तान, ईरान मध्य एशिया के गणराज्यों द्वारा 'इस्लामिक संघ' के निर्माण की सम्भावना थी हालांकि इस संघ का निर्माण अखबारी चर्चा का विषय ही था फिर भी भारत को हानि पहुंचाने की इसकी शक्ति एवं सम्भावनाओं की अनेदखी नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में, इजरायल भारत का महत्वपूर्ण मित्र सिद्ध हो सकता है। दोनों देशों की लोकतान्त्रिक प्रभावाएँ और उदार सभ्यता जैसी समानताएँ उनकी मित्रता को प्रगाढ़ बना सकती हैं।

28.2.3 बदलती अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति- खाड़ी युद्ध के बाद की स्थिति ने फिलिस्तीन का पक्ष लेना तथा इजरायल से सम्बन्ध सामान्य करना दो विरोधाभासी कार्य नहीं समझे जाने लगे। अरबों को रूष किए बिना इजरायल से सम्बन्धों के सामान्यीकरण में कोई कठिनाई नहीं समझी जाने लगी। इसी विचारधारा के अनुरूप चीन और सऊदी अरब ने इजरायल के साथ सम्बन्ध सामान्य किए तथा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किए।

28.2.4 खाड़ी युद्ध में संयमपूर्ण व्यवहार- इराक द्वारा इजरायल पर बार-बार 'स्कड' मिसाइलों से हमले किए गए। इजरायल के संयमपूर्ण व्यवहार ने इसके पूर्व अपराधों का कुछ सीमा तक प्रायश्चित-सा कर दिया। इससे विश्व के अन्य देश यह सोचने लगे कि अपनी छवि को धूमिल किए बिना अब इजरायल से सम्बन्ध सामान्य किए जा सकते हैं।

28.2.5 तकनीक एवं आर्थिक सहयोग की सम्भावना- इजरायल ने कृषि, विशेषकर बीरानी भूमि पर कृषि की तकनीक में भारी विशेषज्ञता प्राप्त कर ली है। इस क्षेत्र में वह भारत की उपयोगी सहायता कर सकता है। स्वास्थ्य परियोजनाओं में भी इजरायल

काफी विकसित देश है। दोनों देशों के मधुर सम्बन्धों के कारण द्विपक्षीय व्यापार और आर्थिक सहयोग बढ़ सकता है। दोनों देश परमाणु अप्रसार संघ (NPTEL) की समीक्षा के समय महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं। दोनों ही देश परमाणु अप्रसार संघ के कुछ उपबन्धों को भेदभावपूर्ण मानकर हस्ताक्षर करने से दूढ़ता से मना करते आए हैं। वैसे भी भारत के बारे में इजरायलियों की राय अच्छी है क्योंकि भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जिसमें यहूदियों के साथ कभी भी अत्याचार नहीं हुए हैं। उपर्युक्त कारणों के कारण दोनों देशों के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए तैयार हुए।

28.3 भारत व इजरायल के पूर्ण राजनीयिक सम्बन्ध

इजरायल के प्रति भारत के रूख में परिवर्तन के संकेत 16 दिसम्बर, 1991 को उस समय परिलक्षित हुए जब संयुक्त राष्ट्र संघ में यहूदीवाद जियोनिज्म (Zionism) को रंग भेद या रेसिज्म (Racism) मानने वाले 1975 के संयुक्त राष्ट्र प्रस्ताव को समाप्त करने के लिए भारत ने इजरायल के पक्ष में मतदान किया। भारत-इजरायल सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया की चरम परिणति 29 जनवरी, 1992 को उस समय हुई जब भारत के विदेश सचिव ने इजरायल के साथ पूर्ण राजनीयिक सम्बन्ध स्थापित करने के भारत सरकार के निर्णय की घोषणा की। विदेश सचिव के अनुसार भारत और इजरायल के बीच सीधी टेलीफोन सेवा भी प्रारम्भ कर दी गई। भारत ने तेल अबीब में तथा इजरायल ने नई दिल्ली में अपने-अपने दूतावास खोले। इजरायल के साथ पूर्ण राजनीयिक सम्बन्धों का स्थापित होना भारत की अब तक की परम्परागत विदेश नीति में एक अति महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक परिवर्तन है।

भारत और इजरायल के बीच सरकारी और मन्त्री स्तर पर कई यात्राओं का आदान-प्रदान हुआ। मई, 1993 में इजरायल के विदेश मन्त्री शीमोन पेरेस ने जनवरी, 1992 में राजनीयिक सम्बन्ध स्थापित होने के बाद भारत की ग्रहत्वपूर्ण राजनीतिक यात्रा की। इस यात्रा के दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, संस्कृति तथा पर्यटन के तीन करारों पर हस्ताक्षर किए गए। इजरायल के साथ द्विपक्षीय सहयोग के लिए कृषि और उससे सम्बन्धित क्षेत्रों, जल प्रबन्धन और ऊर्जा, पर्यटन, संस्कृति तथा व्यापार आशाजनक क्षेत्रों के रूप में उभरे। इजरायल सरकार के आमन्त्रण पर प्रधानमंत्री के प्रमुख सचिव श्री ब्रजेश मिश्र ने 2-4 सितम्बर, 1999 तक इजरायल का दौरा किया। 14-18 जून, 2000 को भारत के गृहमंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी और 30 जून, 2000 को विदेशी मंत्री श्री जसवंतसिंह इजरायल की यात्रा पर गए। गृहमंत्री की यात्रा के दौरान दोनों पक्षों ने आतंकवाद के प्रतिरोध हेतु एक कार्यसमूह गठित करने का फैसला किया। विदेशमंत्री की यात्रा के दौरान दोनों पक्षों ने दीर्घकालीन सहयोग की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए एक संयुक्त आयोग स्थापित करने का निर्णय लिया। इससे पूर्व 31 मई, 2000 को राज्यसभा की उपसभापति एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघ की अध्यक्ष श्रीमती नजमा हेपतुल्ला ने इजरायल की संसद नेसेट को सम्बोधित किया। इजरायली सांसदों के समक्ष अपने सम्बोधन में श्रीमती हेपतुल्ला ने तनावग्रस्त उस क्षेत्र में शान्ति स्थापना का आह्वान किया। इससे दोनों देशों के सम्बन्धों में सुदृढ़ता आई। वर्तमान में दोनों देशों ने विभिन्न आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा सैनिक समझौतों पर हस्ताक्षर किये हैं। दोनों देशों के संबंध मधुर हैं। दोनों देशों में सहयोग की विपुल संभावनाएँ हैं।

28.4 सारांश

भारत ने पश्चिमी एशिया में शान्ति प्रयत्नों का सदैव समर्थन किया है। इजरायल तथा फ़िलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे तथा इजरायल और जोर्डन के बीच समझौते का भारत ने स्वागत किया। भारत इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति का पक्षधर है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- भारत-इजरायल सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
- भारत-इजरायल सम्बन्धों में बदलाव क्यों आया? कारण सहित उत्तर दीजिए।

अति लघूतरात्मक प्रश्न

- भारत ने इजरायल को कब मान्यता प्रदान की?
- भारत ने इजरायल के साथ पूर्ण राजनीयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा कब की?

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण एशिया

संरचना

- 29.0 उद्देश्य
- 29.1 प्रस्तावना
- 29.2 दक्षिण एशिया को झकझोरने वाली समस्याएं
 - 29.2.1 भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर समस्या
 - 29.2.2 1962 में भारत पर चीन का आक्रमण
 - 29.2.3 श्रीलंका में तमिल अप्रवासियों की समस्या
 - 29.2.4 हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा
 - 29.2.5 अफगान संकट
- 29.3 सारांश

29.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत दक्षिण एशिया की राजनैतिक गतिविधियों पर विचार विमर्श किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- दक्षिण एशिया का संक्षिप्त इतिहास जान सकेंगे,
- दक्षिण एशिया को उद्वेलित करने वाली समस्याओं को समझ सकेंगे,
- दक्षिण एशिया की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन कर सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सामाज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का अन्त हुआ और विश्व क्षितिज पर कई “नए राज्य” और साथ ही साथ नई व्यवस्थाएं उभरीं। प्रजातन्त्र, समाजवाद, निरंकुशवाद की अवधारणाएं नये आयामों के साथ सामने आईं। इन नई उभरती राज-व्यवस्थाओं में राजनैतिक गतिविधियों की प्रक्रिया कठिनाइयों से भरी हुई थी पर साथ ही साथ इसमें एक प्रकार की नवीनता भी थी। दूसरे विश्व युद्ध के बाद दक्षिण एशिया अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र-बिन्दु रहा है। दक्षिण एशिया के देश भारत के निकटतम पड़ोसी हैं। भारत के अतिरिक्त ये देश हैं : पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, मालदीव नेपाल और भूटान। अफगानिस्तान को भी दक्षिण एशिया का भाग माना जा सकता है। क्योंकि उसके हित बहुत कुछ भारत और पाकिस्तान के साथ जुड़े हुए हैं।

नेपाल की, छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिण एशिया द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अंग्रेजों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में था। दो सौ वर्ष के अंग्रेजी शासन ने विरासत के रूप में इस क्षेत्र के राष्ट्रों के लिए लगभग एकसी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएं छोड़ी। शिक्षा, कानून, व्यापार, चिकित्सा, औद्योगिक पद्धतियों आदि की दृष्टि से दक्षिण एशिया के राष्ट्रों में अभूतपूर्व समानता पायी जाती है। भौगोलिक और आर्थिक रूप से इन प्रदेशों में परिपूरक तत्त्व विद्यमान हैं, लेकिन इसकी उपेक्षा करके इस क्षेत्र के राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतियोगिता में लगे हुए हैं। कुछ लोग भारत को दक्षिण एशिया की प्रधान शक्ति मानते हैं, पर साम्भवतः उसे ब्रेष्ट शक्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि भारत पाकिस्तान से इतना अधिक शक्तिशाली नहीं है कि उसे अपनी इच्छानुसार अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर सके।

भारत और पाकिस्तान इस प्रदेश के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र हैं। पाकिस्तान को छोड़कर अन्य सब देशों ने गुटनिरपेक्ष विदेश नीति अपनाने का प्रयत्न किया था। अब तो पाकिस्तान भी निर्गुट आन्दोलन में शामिल हो गया है। औपनिवेशिक शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त

करने की इच्छा तथा पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों के सम्बन्धों में इस स्वतन्त्रता को बनाये रखने की अभिलाषा इस प्रदेश की सर्वाधिक प्रबल राजनीतिक शक्ति रही है।

जहाँ तक इस क्षेत्र की राजनैतिक गतिविधियों का सम्बन्ध है इन सभी देशों ने विभिन्न रूपों में राष्ट्र निर्माण की दिशा में प्रयास किए हैं। प्रत्येक देश को इन प्रयासों में कम और अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

29.2 दक्षिण एशिया को झकझोरने वाली समस्याएं

भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से समन्वयकारी तत्त्व विद्यमान होने के बावजूद इस क्षेत्र के देशों में सहयोग की इच्छा की अपेक्षा पारस्परिक अविश्वास की भावना अधिक प्रबल है। इस क्षेत्र के देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशतः द्विपक्षीय आधार पर निर्मित हुए हैं, बहुपक्षीय आधार पर नहीं। क्षेत्रीय सहयोग का अभी तक विकास नहीं हुआ है, फिर भी 'सार्क' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। दक्षिण एशियाई देशों के आपसी सम्बन्ध मधुर होते हुए भी विवादों से ग्रस्त रहे हैं। कश्मीर को लेकर भारत-पाक विवाद, तमिल प्रवासियों को लेकर भारत-श्रीलंका विवाद, फरवरी का विवाद को लेकर भारत-बंगलादेश सम्बन्ध कटूतापूर्वक रहे हैं। लगभग एक दशक तक अफगानिस्तान में सोवियत उपस्थिति और पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रों की आपूर्ति ने दक्षिण एशिया के द्वार पर नवशीत-युद्ध की दस्तक दी।

दक्षिण एशिया को झकझोरने वाली कतिपय प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं :

29.2.1 भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर समस्या- भारत और पाकिस्तान में कश्मीर विवाद सबसे अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण समस्या है। 1947 से पूर्व कश्मीर एक देशी रियासत था। इसका क्षेत्रफल 1,34,400 वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या 40 लाख थी इनमें से लगभग 77 प्रतिशत मुसलमान और 20 प्रतिशत हिन्दू थे। 1947 के बाद कश्मीर के महाराजा हरिसिंह ने स्वतन्त्र रहने का निश्चय किया तथा भारत और पाकिस्तान से यथास्थिति करार करने की प्रार्थना की। पाकिस्तान ने 14 अगस्त, 1947 को कश्मीर से यथास्थिति करार कर दिया। परन्तु उसने करार का पालन नहीं किया और कबायली लोगों की सहायता से कश्मीर पर आक्रमण करा दिया। इस पर महाराजा हरिसिंह ने भारत से सहायता मांगी और कश्मीर को भारत में शामिल करने की प्रार्थना की।

27 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। भारतीय सेनाएं तुरन्त कश्मीर की सहायता के लिए भेज दी गयीं। भारत ने सुरक्षा परिषद् से शिकायत की कि पाकिस्तान कश्मीर में कबायली आक्रान्ताओं को सहायता दे रहा है। सुरक्षा परिषद् में अमेरिका और ब्रिटेन ने पाकिस्तान का साथ दिया। फरवरी, 1954 से तो अमरीका पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया। आज भी कश्मीर समस्या विवाद का विषय बनी हुई है।

29.2.2 1962 में साम्यवादी चीन का भारत पर आक्रमण- 20 अक्टूबर, 1962 को चीन ने भारत पर बड़े सुनियोजित ढंग से आक्रमण किया। जिस आकस्मिक ढंग से भारतीय सीमाओं पर चीन ने आक्रमण किया था उसी आकस्मिक ढंग से उसने 21 नवम्बर, 1962 को एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा कर दी। चीन के भारत पर आक्रमण के दो उद्देश्य थे :

1. अपनी शक्ति को प्रदर्शित करना,
2. भारत की चिर्बिलता को प्रदर्शित करना तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपमानित करना।

चीन को यह आशा थी कि युद्ध की स्थिति में सोवियत संघ उसका साथ देगा और भारत में आन्तरिक दंगे होंगे। परन्तु चीन की ये कामनाएं सफल नहीं हो सकी। अमरीका, ब्रिटेन और उसके बाद फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रेलिया, कनाडा ने तेजी से भारत को सैनिक सहायता दी। सोवियत संघ तटस्थ रहा और उसने चीन पर युद्ध बन्द करने के लिए दबाव डाला। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण का 'सामान्य स्थानीय मामले' का रूप देने का प्रयास किया। युद्ध-विराम के बाद, श्रीलंका की तत्कालीन प्रधानमंत्री भण्डासनायके से प्रेरणा पाकर छ: राष्ट्रों (श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र, घाना) के प्रतिनिधियों ने भारत-चीन विवाद को हल करने के लिए 19 जनवरी, 1963 को कोलम्बो प्रस्ताव प्रकाशित किये। पिछले कुछ वर्षों से भारत-चीन सम्बन्धों में सामान्य स्थिति रही है, दोनों देशों में सीमा विवाद का समाधान करने के लिए वार्ताओं के कई दौर सम्पन्न हुए हैं तथा द्विपक्षीय व्यापार के सम्बन्धों में समझौते हुए हैं।

29.2.3 श्रीलंका में तमिल अप्रवासियों की समस्या- श्रीलंका भारत के दक्षिण में स्थित एक छोटा द्वीप है जो सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के साथ जुड़ा हुआ है। श्रीलंका में भारतीय प्रवासियों की समस्या को लेकर दोनों देशों में तनाव रहे हैं। श्रीलंका में भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में 1949 में नेहरू-कोटलेवाला समझौता तथा 1964 में शास्त्री-भण्डारनायके समझौता हुआ, किन्तु 1982-90 में यह मामला भारत-श्रीलंका सम्बन्धों को प्रभावित करने की दृष्टि से अहम् मसला बन गया।

श्रीलंका की डेढ़ करोड़ की आबादी में 74 प्रतिशत श्रीलंका के तमिल, 6 प्रतिशत भारत मूलक तमिल और शेष अन्य लोग हैं। तमिल श्रीलंका के उत्तर में जाफना प्रान्त में रहते हैं। तमिल समुदाय ने मुख्य रूप से अपने को 'तुल्फ' (तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट) नाम के राजनीतिक संगठन में संगठित कर रखा है और समय-समय पर वह इसके माध्यम से अपने असन्तोष की अधिव्यक्ति भी करता रहता है। श्रीलंका के तमिलों के वर्तमान आन्दोलन का मूल कारण बहुसंख्यक सिंहलियाँ द्वारा की गयी भेदभाव की नीति है। बौद्ध धर्म को देश का राष्ट्रीय धर्म बना दिया गया और सिंहली भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिया गया जबकि बहुसंख्यक तमिल हिन्दू धर्म को मानने वाले हैं और उनकी मातृभाषा तमिल है। तमिलों के कुछ उग्रवादी संगठन पृथक् राष्ट्र के निर्माण की बात करते हैं तो तुल्फ स्वायत्ता की मार्ग कर रहा है।

श्रीलंका के तमिल अल्पसंख्यक समुदाय की समस्या उसका आन्तरिक मामला है। भारत श्रीलंका के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता है। फिर भी श्रीलंका का पड़ोसी देश होने के कारण वहाँ पर होने वाली घटनाओं से भारत का चिनित होना स्वाभाविक है, विशेषकर उस स्थिति में जब श्रीलंका तमिल उग्रवादियों को सबक सिखाने के लिए इजराइल की खुफिया संस्था 'मोसाद' को श्रीलंका की सेनाओं और पुलिस को प्रशिक्षण देने के लिए भाड़े पर रखती है अथवा जब श्रीलंका भारत के दो प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों (चीन और पाकिस्तान) के साथ सांठगांठ करता है और उसके द्वारा दिये गये हथियारों या प्रशिक्षित किये गये सैनिकों द्वारा जाफना को कुचलता है।

तमिल समस्या का समाधान करने हेतु भारत प्रारम्भ से ही बातचीत का मार्ग अपनाता रहा है। जुलाई, 1983 में जी. पार्थसारथी भारतीय प्रधानमंत्री के विशेष दूत के रूप में कोलम्बो में बातचीत करते रहे। श्रीलंका सरकार समस्या का समाधान सैनिक शक्ति के आधार पर करना चाहती थी। अतः जनवरी, 1987 में जाफना की आशिक नाकेबन्दी की गयी, मई 1987 में श्रीलंका की थलसेना और वायुसेना ने जाफना पर चौतरफा हमले भी किये। भारत ने तमिल नरसंहार पर दूःख व्यक्त किया और जून 1987 में मानवीय आधार पर जाफना की पीड़ित जनता के लिए राहत सामग्री भेजने की घोषणा की। 29 जुलाई, 1987 को राजीव-जयवर्द्धने समझौता हुआ। इस समझौते के तहत भारत ने श्रीलंका को उसकी एकता, सम्प्रभुता तथा क्षेत्रीय अखण्डता की रक्षा करने की गारन्टी दी। भारतीय शान्ति सेना को समझौता लागू कराने के लिए श्रीलंका भेजा गया। 18 सितम्बर, 1989 को कोलम्बो में भारत और श्रीलंका के मध्य हुए समझौते के तहत शान्तिसेना ने अपनी आक्रामक फौजों का वार्यवाही को स्थगित कर दिया। भारत ने अपनी सेना को श्रीलंका से वापस बुला लिया।

29.2.4 हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा विश्व राजनीति में हिन्द महासागर का विशिष्ट महत्त्व है। भौगोलिक दृष्टि से हिन्द महासागर 10, 400 किलोमीटर लम्बे और 1, 600 किलोमीटर चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। इस विशाल जल क्षेत्र में सामरिक दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण द्वीप मेडागास्कर, मारीशस, अण्डमान, निकोबार, मालद्वीप आदि स्थित हैं। हिन्द महासागर एशिया, अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के तटों को छूता है। इसके अतिरिक्त, मलकका जलडमरुमध्य तथा स्वेज नहर के माध्यम से प्रशान्त और अन्ध या अटलांटिक महासागर से भी इसका सम्बन्ध है। भारत के लिए हिन्द महासागर का अत्यधिक महत्त्व है। भारत के समस्त जलमार्ग हिन्द महासागर में होकर ही गुजरते हैं। हिन्द महासागर ही भारत को दक्षिण-पूर्वी एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से जोड़ता है। दूसरे महायुद्ध से पूर्व हिन्द महासागर के अधिकांश तटवर्ती क्षेत्रों पर ब्रिटेन का नियन्त्रण था तथा हिन्द महासागर को ब्रिटेन की झील के नाम से 'युकारा जाता था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों से ब्रिटेन का प्रभुत्व समाप्त होने लगा, किन्तु कालान्तर में हिन्द महासागर में शक्ति-प्रदर्शन से इस क्षेत्र के सभी देशों के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा हो गया।

संयुक्त राज्य अमरीका ने डियागो गार्फिया पर नौ-सैनिक अड्डा बनाने के लिए करोड़ों डॉलरों खर्च किये। 1971 से 1978 के मध्य अमरीका ने अपने नौ-सैनिक जहाजों द्वारा हिन्द महासागर में 38 बार घुसपैठ की 1978 के बाद से अमरीका के पांच गश्ती जहाजों ने हिन्द महासागर में स्थायी रूप से चक्रकर लगाना प्रारम्भ कर दिया। सोवियत संघ भी हिन्द महासागर में सक्रिय रहा। सोवियत संघ ने अपना एक स्थायी अड्डा भी इस क्षेत्र में कायम कर लिया जो कि अणु शक्ति-सम्पन्न विध्वंसकों से लैस थे तथा इसमें पनडुब्बी एवं 20

जहाज भी थे। री यूनियन द्वीप पर फ्रांस का अधिकार है, इसलिए फ्रांस भी कभी-कभी इस क्षेत्र में घुसपैठ करता रहता है। हाल ही में चीन भी हिन्द महासागर में रुचि लेने लगा है। भारत भी अपनी नौ सेना को इस हस्तक्षेप की आशंका को देखते हुए सुदृढ़ कर रहा है।

इस प्रकार इसे महाशक्तियों की सीनाजोरी ही कहा जायेगा कि वे तटवर्ती देशों की मांग की उपेक्षा करके हिन्द महासागर को अशान्त क्षेत्र बनाने में लगे हुए हैं। महाशक्तियों पर हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों के आग्रह का कोई प्रभाव नहीं हुआ और अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ही खुले समुद्रों में अबाध प्रवेश के अपने अधिकार का दुरूपयोग करते हुए हिन्द महासागर में अपनी-अपनी शक्ति का विस्तार करने में लगे रहे। वर्तमान में इस क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका का ही प्रभावी हस्तक्षेप है।

29.2.5 अफगान संकट- दूसरे विश्व युद्ध के बाद सोवियत सरकार की दक्षिण-पश्चिमी एशिया में विस्तारवादी नीतियों पर अंकुश रखने की ब्रिटिश भूमिका अमरीका ने निभानी प्रारम्भ की। कुछ समय तक मुकाबले की होड़ बराबर रही। रसिया ने काबुल में एक हवाई अड्डा बनाया तो अमरीकियों ने कन्धार में। रसिया ने काबुल में विशाल अन्न भण्डार बनाया तो अमरीकियों ने उसमें गेहूं भर दिये। लेकिन पर्याप्त अमरीकी योगदान के बावजूद 60 के दशक के अन्तिम दौर में सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ने लगा। चूंकि उस समय अमरीका वियतनाम युद्ध में उलझा था, इसलिए उसने आर्थिक सहायता में कमी कर दी। लेकिन 1970 के दशक के अन्त तक सोवियतसंघ ने काबुल को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बढ़ाकर 1.5 अरब डॉलर तक कर दी। सोवियत संघ ने होनहार अफगान अधिकारियों को सोवियत संघ में प्रशिक्षण देना आरम्भ किया। अफगानिस्तान में साम्यवादियों ने पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी संगठित की और सशस्त्र सेनाओं में भी अपना प्रभाव बढ़ाया। पी.डी.पी. नेता और तत्कालीन विदेशमन्त्री हफ्फोज उल्लाह अमीन ने 1978 में सीना तानकर कहा था, “मैं 1966 से सेना के भीतर गुप्त रूप से काम कर रहा था 1973 के शुरू से ही मैं थलसेना और बायुसेना में तीन-सदस्यीय कम्युनिस्ट इकाइयों को संगठित करने में लगा था।”

अप्रैल, 1978 में इन प्रयत्नों का सुपरिणाम सामने आया। अमीन के नेतृत्व में हुई क्रान्ति के जरिये काबुल के रेडियो स्टेशन और राष्ट्रपति भवन पर कब्जा कर लिया गया और राष्ट्रपति मोहम्मद दाऊद की सरकार का तख्ता उलट दिया गया। अमीन के नेतृत्व में पी.डी.पी. सरकार ने सत्ता संभाल ली और नूर मोहम्मद तराकी को राष्ट्रपति बना दिया गया। डॉ. के.पी. मिश्र के शब्दों में, “सोवियत संघ ने अर्थात् एक महाशक्ति ने अफगानिस्तान में ‘प्रमुखता अधिकार’ के आधार पर हस्तक्षेप किया है जिससे दक्षिण एशिया के सभी गण्डों की स्वतन्त्रता और अखण्डता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।” उसके बाद अफगानिस्तान में गृहयुद्ध तथा आन्तरिक असान्ति की स्थिति बनी रही। ऐसी स्थिति में मुल्ला उमर के नेतृत्व में तालिबान का शासन कायम हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका में हुए बम विस्फोट के बाद अमरीकी कार्यवाही के कारण तालिबान शासन का अन्त हुआ। वर्तमान में यहां अमरीकी समर्थित हामिद करजई की सरकार सत्ता में है।

29.3 सारांश

दक्षिण एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का विश्लेषण तीन परिवर्त्यों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है—प्रथम, भारत-पाकिस्तान शक्ति प्रतिस्पर्धा, द्वितीय, दक्षिण एशिया की राजनीति में बड़ी शक्तियों का हस्तक्षेप तथा तृतीय, उपर्युक्त दोनों परिवर्त्यों को प्रभावित करने के लिए छोटी शक्तियों (राष्ट्रों) की प्रभावक भूमिका। वर्तमान में इस क्षेत्र में चीन की उपस्थिति क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्त्व है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिणी एशिया का महत्व बताइये ?
2. दक्षिणी एशिया में प्रमुख विवादास्पद मुद्दों का उल्लेख कीजिए ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दक्षिणी एशिया को इक्झोरने वाली प्रमुख समस्याओं का वर्णन कीजिये ?
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण एशिया में महाशक्तियां क्यों रुचि लेती रही हैं ? कारण बताइये।

अध्याय - 30

1968 के बाद परमाणु नीति

संरचना

- 30.0 उद्देश्य
- 30.1 प्रस्तावना
- 30.2 परमाणु अप्रसार की दिशा में किए गए प्रयत्न
 - 30.2.1 अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध, 1963
 - 30.2.2 परमाणु अप्रसार सन्धि, 1968
 - 30.2.3 साल्ट-प्रथम समझौता
 - 30.2.4 साल्ट-द्वितीय समझौता
 - 30.2.5 मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि
 - 30.2.6 स्टार्ट-प्रथम सन्धि
 - 30.2.7 स्टार्ट-द्वितीय सन्धि
 - 30.2.8 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि
 - 30.2.9 अमरीका-रूस में परमाणु शस्त्र कटौती सन्धि
- 30.3 सारांश

30.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत 1968 के बाद परमाणु नीति एवं पूर्ण निःशास्त्रीकरण की दिशा में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रयासों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- परमाणु अप्रसार सन्धि की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- आणविक निःशास्त्रीकरण की दिशा में किए गए प्रयासों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- अभी तक की निरस्त्रीकरण सन्धियों पर भारत की भूमिका और विचार के बारे में चर्चा कर सकेंगे।

30.1 प्रस्तावना

वर्तमान में अधिकांश राष्ट्र हथियारों की बे-रोक होड़ में लगे हुए हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व, जो महाशक्तियों के नेतृत्व में दो अलग-अलग गुटों में बंट गया था, उसके कारण इन दोनों गुटों में हथियारों की होड़ में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

अगस्त, 1945 के आरम्भ में अमरीका के पास केवल दो परमाणु बम थे और हिरोशिमा तथा नागासाकी में उसके प्रयोग के साथ ही अमरीका का परमाणु बमों का भण्डार खाली हो गया था, लेकिन 29 अगस्त, 1949 को परमाणु बम की जानकारी और भण्डारण के क्षेत्र में अमरीकी एकाधिकार उस समय समाप्त हुआ, जब सोवियत संघ ने अपना पहला सफल परमाणु बम परीक्षण किया। इस तरह परमाणु शस्त्रों की दौड़ या प्रतियोगिता चल पड़ी। 1952 में ब्रिटेन, 1960 में फ्रांस और 1964 में चीन भी परमाणु शस्त्रों की दौड़ में शामिल हुए। 1974 में भारत ने भी पोखरण में आणविक विस्फोट किया। अभी तक कुल सात देश आणविक

परीक्षण कर चुके हैं— अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन, भारत और पाकिस्तान। सर्वाधिक आणविक हथियार भी अमरीका और रूस के पास ही हैं।

इस दिशा में तीसरा देश जो तीव्रता से वृद्धि कर रहा है, चीन है। इन सात देशों के अतिरिक्त आठ देश ऐसे हैं जिनके पास परमाणु हथियार बनाने की क्षमता है, वे हैं— कनाडा, जर्मनी, इजरायल, इटली, जापान, दक्षिणी अफ्रीका, स्वीडन व स्विट्जरलैण्ड। लगभग एक दर्जन देश ऐसे हैं जो अगले पांच-छः वर्षों में ही अपना परमाणु बम बना सकते हैं। उत्तरी कोरिया तथा ईरान भी परमाणु हथियारों की हौड़ में हैं।

आज परमाणु विज्ञान के बारे में इतना अधिक साहित्य बाजार में आ गया है कि साधन और सुविधा मिलने पर कोई भी प्रतिभाशाली वैज्ञानिक बम बना सकता है। इस समय विश्व में लगभग साठ हजार आणविक हथियार तैयार हैं। इसकी क्षमता का यदि अध्ययन करें तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि इन हथियारों से वर्तमान विश्व को एक-दो बार नहीं, बरन् पूरे एक दर्जन बार नष्ट किया जा सकता है। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि अब तक जितने नाभिकीय परीक्षण हो चुके हैं और उनसे जितनी भी रेडियोधर्मिता फैल चुकी है वही अन्तोगत्वा मानव जाति के लिए घातक सिद्ध होगी। परमाणु हथियारों के रूप में ऐसा सर्वव्यापी संकट उत्पन्न हो गया कि जिसने समूची मानव जाति को महाविनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।

30.2 परमाणु अप्रसार की दिशा में किए गए प्रयत्न

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद आणविक शक्ति में विभिन्न राष्ट्रों की बढ़ती हुई रूचि के कारण आणविक शस्त्रों के प्रसार का खतरा निरन्तर बढ़ने लगा। विशेषज्ञों ने विश्वास प्रकट किया कि जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न है आणविक शस्त्र बनाने वाले राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि होने से विश्व में तनाव एवं असुरक्षा के वातावरण में वृद्धि होगी। परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को सीमित करने तथा उनके प्रयोग एवं परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में विश्व की दो शाहाशकियों—सोवियत संघ और अमरीका के मध्य बहुत लम्बी वार्ताओं के उपरान्त कठिपय समझौते हुए जो इस प्रकार है :

30.2.1 अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध, 1963- 14 जुलाई 1963 को अमरीका, ब्रिटेन और पूर्व सोवियत संघ के बिदेशमन्त्रियों क्रमशः हैरिमन लार्ड हेलशम और अन्द्रे ग्रोमिको की मास्को में वार्ताएं आरम्भ हुईं। मास्को में वार्तालाप के फलस्वरूप वायुमण्डल में अणुशक्ति परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने के सन्दर्भ में एक सन्धि की शब्दावली पर सहमति हो गयी। 10 अक्टूबर, 1963 को सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसे अंशिक परीक्षण निषेध सन्धि कहा जाता है। फ्रांस तथा चीन गणराज्य ने इस सन्धि को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। सन्धि की प्रस्तावना में हस्ताक्षर कर्ता राष्ट्रों ने अपना प्रमुख उद्देश्य “संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के अनुसार कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के सब प्रकार के तथा पूर्ण निःशास्त्रीकरण के बारे में समझौता करने में शीघ्रता से सफलता पाना, अणु-शस्त्रों सहित सब तरह के शस्त्रों के परीक्षण तथा उत्पादन को समाप्त करने की दृष्टि से शस्त्रों की होड़ को समाप्त करना तय किया।”

आणविक शस्त्रों के बिस्पोट के सब प्रकार के परीक्षणों को समाप्त करने के लिए सब राष्ट्रों ने अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति को प्रकट की तथा रेडियो क्रियाशील घटार्थों द्वारा मनुष्य के चारों ओर के वायुमण्डल को विषाक्त न होने देने के विषय में बहुत अधिक बल दिया। इस सन्धि की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीं -

- (1) बाह्य आकाश, वायुमण्डल और जल के भीतर आणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायें।
- (2) सन्धि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र की सरकार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक-तिहाई राष्ट्र प्रस्ताव के पक्ष में हो तो संशोधनों पर विचार हो सकता है।
- (3) सन्धि का कोई काल निश्चित नहीं किया गया अर्थात् सन्धि अनिश्चित काल के लिए है।
- (4) सन्धि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकता है। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षर कर्ता देश इस सन्धि पर अपनी संसद या राष्ट्रीय परिषद् का समर्थन प्राप्त करेगा और ऐसे समर्थन को सोवियत संघ, अमरीका व ग्रेट-ब्रिटेन के पास जमा कराना पड़ेगा।

इस सन्धि में भूमि के अन्दर किये जाने वाले (भूमिगत) अणु परीक्षणों को समिलित नहीं किया गया था। फिर भी इस सन्धि को निःशास्त्रीकरण के इतिहास में विशेष महत्त्व है। कम-से-कम यह निःशास्त्रीकरण की दिशा में ‘प्रथम मील का पत्थर’ था।

30.2.2 परमाणु अप्रसार सन्धि 1968- द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अणु शक्ति का तेजी से विकास हुआ विश्व में कई हजार वैज्ञानिक एवं तकनीशियन इस नये कार्य में प्रशिक्षित किये गये। अणु क्षेत्र में इस तकनीकी विकास की प्रक्रिया से परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग की दृष्टि से बहुत प्रगति हुई। दुर्भाग्यवश, अणु शस्त्र बनाने का कार्यक्रम अणु के शान्तिपूर्ण कार्यक्रम की तुलना में अन्त तक गुप्त रहता है। इस प्रकार अणु शक्ति में समस्त विश्व की बढ़ती हुई रूचि के कारण आणविक शस्त्रों के जमा होने से खतरा बढ़ता जा रहा है। यह चिन्ता 1959 के बाद से संयुक्त राष्ट्र महासभा में स्वीकृत हुए बहुत-से प्रस्तावों से सुस्पष्ट है जिसमें अणु शस्त्रों के और अधिक विस्तार को रोकने के लिए समझौते के प्रयास के लिए कहा गया।

1967 में प्रकाशित विशेषज्ञों के प्रतिवेदन में कहा गया था कि अणु शस्त्र बनाने वाली वर्तमान पांच महाशक्तियों के अतिरिक्त विश्व में सात अन्य राष्ट्र भी ऐसे हैं जो रचनात्मक कार्यों में प्रयुक्त अपने साधनों के अतिरिक्त आणविक शस्त्रीकरण को भी विकसित कर सकते हैं। विशेषज्ञों ने विश्वास प्रकट किया कि जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न है अणु शस्त्र बनाने वाले सभी को संख्या में वृद्धि होने पर वर्तमान आणविक शस्त्रागारों का विस्तार होने से समस्त विश्व में अधिक तनाव एवं असुरक्षा के बातावरण में वृद्धि होगी। विशेषज्ञों की यह मान्यता थी कि सुरक्षा की समस्या का निदान आणविक शस्त्र रखने वाले देशों की संख्या बढ़ाने से नहीं हो सकता एवं न ही आणविक शस्त्र रखने वाले वर्तमान राष्ट्रों की शक्ति से इसे पाया जा सकता है।

सोवियत संघ और अमरीका द्वारा अगस्त 1967 में अलग-अलग, परन्तु एक जैसी संधियों के प्रारूप प्रस्तुत किये गये जिसमें अणु शस्त्रों के और अधिक संग्रहीत न करने के लिए जोर दिया गया था। 12 जून, 1968 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने भारी बहुमत से उक्त प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर दी। 1 जुलाई, 1968 को उक्त सन्धि हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत की गयी एवं उसी दिन अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा 50 से अधिक राष्ट्रों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये और यह सन्धि 5 मार्च, 1970 से प्रभावशाली हो गयी।

उक्त सन्धि के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि कोई भी अणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र अकेले या मिलकर अपने शस्त्र किसी भी अन्य राष्ट्रों को नहीं देंगे। अणु-शक्ति सम्पन्न देशों को आयुध वाले राष्ट्रों से किसी भी प्रकार के आणविक अस्त्र प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय आणविक शक्ति संस्था के साथ वार्तालाप के उपरान्त किये जाने वाले समझौते के अन्तर्गत गैर-अणु शस्त्र वाले देशों द्वारा संरक्षण मानकर चलने की व्यवस्था है। जिससे सन्धि के अन्तर्गत उत्तरदायित्वों को पूरा करने की व्यवस्था का मूल्यांकन हो सके। सन्धि में यह भी व्यवस्था है कि गैर-अणु शक्ति वाले देशों की बिना किसी भेदभाव के कम मूल्य पर आणविक विस्फोटों के शान्तिपूर्ण उपयोग के द्वारा प्राप्त बड़े लाभ मिल सकेंगे।

सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक राष्ट्र, आणविक शस्त्रों की होड़ को समाप्त करने एवं आणविक निःशस्त्रीकरण को प्रभावशाली बनाने के लिए अपने उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए बाध्य है। यदि उक्त सन्धि के कारण किसी राष्ट्र के सर्वोच्च हितों का हनन होता हो एवं उसके कारण कोई असाधारण घटनाएं हो रही हों तो वे सन्धि से अलग हो सकने के लिए स्वतन्त्र हैं। सन्धि में यह व्यवस्था है कि 'सन्धि के लागू होने के 25 वर्ष के उपरान्त एक सम्मेलन बुलाकर उक्त सन्धि को अनिश्चित काल तक जारी रखने अथवा किसी अतिरिक्त निश्चित अवधि के लिए उसे बढ़ाने पर निर्णय लिया जायेगा।'

संयुक्त राष्ट्र के तत्कालीन महासचिव ऊर्थांट ने उक्त सन्धि के सन्दर्भ में अपनी टिप्पणी में कहा था कि आणविक महायुद्ध के खतरे को सीमित करने में सहयोग करने के अतिरिक्त "यह सन्धि विकासशील राष्ट्रों के लिए नये अवसर प्रदान करेगी क्योंकि अस्त्रों के उत्पादन तथा अधिग्रहण को त्वचाने के उपरान्त ये राष्ट्र अपनी सामग्री एवं धन के बहुत बड़े अपव्यय के भार से मुक्त होकर, उपलब्ध साधनों को अधिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक प्रगति में लगा सकते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि "इस सन्धि ने विशेषकर आणविक शस्त्रों महादेशों के ऊपर एक नया एवं गम्भीर उत्तरदायित्व डाल दिया है। जिसके कारण आणविक अस्त्रों की होड़ को समाप्त करने, आणविक निःशस्त्रीकरण तथा सब प्रकार के एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में सन्धि स्थापित करने के उपायों के बारे में वार्तालाप चलाया जा सकता है।"

सन्धि के प्रारूप पर सबसे अधिक आपत्ति फ्रांस, इटली, पश्चिमी जर्मनी और भारत को थी। भारत ने आणविक अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। भारत के अनुसार यह सन्धि भेदभावपूर्ण है, असमानता पर आधारित है और एकपक्षीय एवं अपूर्ण है। भारत को अपनी इस नीति के कारण परमाणु क्लब के सदस्यों की कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। भारत का मानना है कि आणविक आयुधों के प्रसार को रोकने और पूर्ण निःशस्त्रीकरण के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किये जाने चाहिए। भारत ने अभी तक इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। पाकिस्तान ने भी ऐसा ही किया है।

30.2.3 साल्ट-प्रथम समझौता- 4 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दस-वर्षीय अणु आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किये गये विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध व्यवस्था की परिधि में नहीं आयेंगे।

30.2.4 साल्ट-द्वितीय समझौता- 1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस सन्धि का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी।

30.2.5 मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि- वाशिंगटन शिखर सन्धि पर 8 दिसम्बर, 1987 को रीगन और गोबाच्योव के हस्ताक्षर हो गये। सन्धि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। इस सन्धि से कुल मिलाकर 1,139 परमाणु हथियार नष्ट किये जाने हैं। इन हथियारों की मारक क्षमता 50 किलोमीटर से 5 हजार किलोमीटर है। यह सभी प्रक्षेपास्त्र भूमि से मार करने वाले हैं। इस सन्धि का महत्व इस बात में नहीं है कि इससे कितनी विनाशक सामग्री खत्म हुई है। इसके विपरीत इसका महत्व गुणात्मक है। विश्व में इस बात का विश्वास उत्पन्न हुआ है कि इन महाशक्तियों में अपने विनाशकारी अस्त्रों को खत्म करने का साहस तो उत्पन्न हुआ है।

30.2.6 स्टार्ट-प्रथम सन्धि- 31 जुलाई, 1991 को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोबाच्योव के शिखर सम्मेलन में 'सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक सन्धि' स्टार्ट-प्रथम पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियाँ अपने परमाणु शस्त्रों में स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गयी। यह सन्धि पहला बड़ा औपचारिक समझौता है, जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

30.2.7 स्टार्ट-द्वितीय सन्धि- 30 जनवरी, 1993 को अमरीकी राष्ट्रपति बुश और रूसी राष्ट्रपति येल्त्सिन ने मास्को में ऐतिहासिक सन्धि स्टार्ट-द्वितीय पर हस्ताक्षर किये। यह परमाणु हथियारों में कटौती सम्बन्धी पहली सन्धि का अगला चरण था जिस पर जुलाई, 1991 में राष्ट्रपति बुश एवं मिखाइल गोबाच्योन ने हस्ताक्षर किये थे। इस सन्धि का उद्देश्य दोनों देशों में परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना था - यानी वर्तमान लगभग 20, 000 को कम करके 6,500 रखना है (अमरीका के 3,500 और रूस के 3,000)। इस प्रकार अमरीका के शस्त्रागार में परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही रह जायेगी जितनी 1960 में थी और रूसी हथियारों की संख्या उतनी ही रह जायेगी, जितनी 1970 में थी। राष्ट्रपति येल्त्सिन ने इस सन्धि को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में बहुत बड़ी उपलब्धि बताया।

30.2.8 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि- सी.टी.बी.टी. अर्थात् व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से लायी गयी सन्धि या समझौता है जिसका 1993 में भारत, अन्य देशों के अलावा अमरीका के साथ सह-प्रस्तावक था, लेकिन 1995 में उसने यह कहते हुए कि यह सन्धि सार्वभौमिक परमाणु निरस्त्रीकरण के समयबद्ध कार्यक्रम से जुड़ी हुई नहीं है, सह-प्रस्तावक बनने से ही इंकार कर दिया।

अगस्त 1996 में जेनेवा में इस विवादास्पद सन्धि के मसौदे पर विचार चलता रहा। इस बहुचर्चित सन्धि में परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने तथा इस पर अमल की जांच के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था है। भारत ने सी.टी.बी.टी. के प्रस्तावित मसौदे पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि प्रस्तावित मसौदे में परमाणु निःशस्त्रीकरण का कोई प्रावधान नहीं रखा गया। भारत का दूसरा विरोध यह था कि यह सन्धि बहुत ही संकीर्ण है और यह केवल नए विस्फोट रोकने की बात करती है, पर नए तकनीकी विकास एवं नए परमाणु शस्त्रों के विषय में मौन है। सन्धि का स्वरूप परमाणु राष्ट्रों की तकनीकी उपलब्धता को बरकरार रखकर उनके हितों की रक्षा करने के लिए अधिक है न कि सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए। इस सन्धि पर 24 सितम्बर, 1996 से हस्ताक्षर प्रारम्भ हुए थे। अब तब कुल मिलाकर 154 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किए हैं जिनमें से 45 ने इसका विधिवत् अनुमोदन भी कर दिया है।

किन्तु सन्धि के प्रभावी होने के लिए विश्व के उन सभी 44 देशों द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना आवश्यक है जिनके पास परमाणु शस्त्र अथवा परमाणु विद्युत संयन्त्र अथवा परमाणु क्षमता उपलब्ध है। विविध परमाणु क्षमताओं वाले इन 44 राष्ट्रों में से अभी

तक 26 ने ही सन्धि का अनुमोदन किया है जबकि तीन देशों भारत, पाकिस्तान व उत्तर कोरिया ने इस पर अभी तक हस्ताक्षर भी नहीं किए हैं। परमाणु शक्ति के रूप में घोषित पांच राष्ट्रों- अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन ने यद्यपि सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर कर दिए हैं, किन्तु इनमें से केवल ब्रिटेन व फ्रांस ने ही सन्धि की पुष्टि की है।

सी.टी.बी.टी. के भविष्य को बड़ा आघात अक्टूबर 1999 में उस समय लगा जब रिपब्लिकनों के वर्चस्व वाली अमरीकी सीनेट ने इसका अनुमोदन नहीं किया। 100 सदस्यों वाली सीनेट में इसका पुष्टि के लिए मतदान (13 अक्टूबर, 1999) में इसे 48 के मुकाबले 51 मतों से अस्वीकार कर दिया गया। सी.टी.बी.टी के कार्यान्वयन की प्रगति के मूल्यांकन के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक विशेष सम्मेलन का आयोजन 6-8 अक्टूबर, 1999 को विएना में किया गया। इस सम्मेलन में 92 देशों के 400 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा सम्मेलन का आयोजन सन्धि के उस प्रावधान के तहत किया गया था जिसमें कहा गया है कि सन्धि को हस्ताक्षर के लिए उपलब्ध कराए जाने की तिथि (24 सितम्बर, 1996) से तीन वर्ष के भीतर यदि बिविध परमाणु क्षमताओं वाले सभी 44 राष्ट्रों द्वारा इस सन्धि का अनुमोदन नहीं किया गया तो संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष सम्मेलन में आगे की कार्यवाही के लिए विचार किया जाएगा। तीन दिन चले इस सम्मेलन में भारत, पाकिस्तान व उत्तर कोरिया से सन्धि पर हस्ताक्षर करने व उसका अनुमोदन करने की अपील की गई ताकि सन्धि को लागू किया जा सके।

30.2.9 अमरीका-रूस में परमाणु शस्त्र कटौती सन्धि- मई, 2002 में अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने रूस की यात्रा की और रूस के साथ मित्रता मजबूत करने के लिए परमाणु शस्त्रों में कटौती के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। सन्धि की शर्तों के अनुसार अमरीका और रूस दोनों मिलकर साढ़े चार हजार के करीब परमाणु हथियार कम करेंगे। सन्धि के अनुसार परमाणु हथियारों में कटौती का लक्ष्य 2021 तक पूरा कर लिया जाएगा, यानी इसे लागू करने के लिए दोनों देशों के पास एक दशक का समय है।

30.3 सारांश

यद्यपि हथियारों की होड़ ही तनाव और युद्ध का मुख्य कारण है। लेकिन कोई भी देश हथियारों पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाने को राजी नहीं है। हथियारों का भण्डार बढ़ाना राज्यों की राजनीतिक और आर्थिक विवशता है। परिणामस्वरूप निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रभावहीन साबित हो रहे हैं।

दोनों विश्व युद्धों के बीच और शीत युद्ध के दौरान शांति स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण के प्रयास हथियारों की होड़ या ज्यादा परिष्कृत और घातक हथियारों के उत्पादन को रोकने में असफल रहे हैं। बस्तुतः शीत युद्ध की समाप्ति के बाद पहली बार अणु मुक्त विश्व की ओर प्रयासों को गति दी है।

अभ्यास प्रश्नावली

निवन्धात्मक प्रश्न

1. “निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियन्त्रण आज पहले की अपेक्षा और अधिक आवश्यक है।” वर्णन कीजिए।
2. 1968 के बाद परमाणु नीति के सन्दर्भ में उठाये गये कदम का उल्लेख कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. परमाणु अप्रसार सन्धि का महत्व बताइये ?
2. व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि भेदभावपूर्ण क्यों है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-
 - साल्ट-प्रथम ○ साल्ट-द्वितीय

इकाई- 31

भारत एवं सार्क

संरचना

- 31.0 उद्देश्य
- 31.1 प्रस्तावना
- 31.2 सार्क का उद्भव एवं उद्देश्य
- 31.3 सार्क की संरचना एवं कार्य
 - 31.3.1 शिखर सम्मेलन
 - 31.3.2 मन्त्रि परिषद्
 - 31.3.3 स्थायी समिति
 - 31.3.4 तकनीकी समितियाँ
 - 31.3.5 कार्य समिति
 - 31.3.6 सचिवालय
 - 31.3.7 वित्तीय प्रावधान
- 31.4 सार्क शिखर सम्मेलन
- 31.5 सार्क की उपलब्धियाँ और भारत
- 31.6 सारांश

31.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत क्षेत्रीय संगठनों और क्षेत्रीय एकीकरण की भावना के उदय तथा उनकी भूमिका का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- क्षेत्रीय संगठनों अथवा समूहों के उद्भव उद्देश्य अथवा कार्य संरचना को समझ सकेंगे,
- क्षेत्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भूमिका का सिंहावलोकन कर सकेंगे,
- क्षेत्रीय सहयोग के लिए बने दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन-दक्षेस (सार्क) की प्रकृति, संरचना एवं भावी योजना को समझ सकेंगे ।

31.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से सबसे महत्त्वपूर्ण विकासों में से एक यह है कि विकसित एवं विकासमान देशों में क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण की एक बाढ़ सी आयी हुयी है। इस विकास को यूरोप में यूरोपियन समाज (ई.सी.) और यूरोपीय अखण्डता की प्रक्रिया से बढ़ी सफलता मिली है। क्षेत्रीय संगठनों का विश्व के दूसरे भागों में भी विकास हुआ है। विशेषकर एशिया अफ्रीका और लेटिन अमरीका में। तृतीय विश्व में क्षेत्रीयता की अपूर्व उत्पत्ति इस तथ्य को महत्व प्रदान करती है कि क्षेत्रीय सहयोग, आर्थिक विकास, निर्भरता, सुरक्षा और विवादों को सुलझाने की प्रबल समस्याओं के समाधान का एक अधिक सार्थक मार्ग है।

दूसरे शब्दों में, यह प्रवृत्ति एक निरन्तर बढ़ती हुई समझ को महत्व प्रदान करती है कि मानवता के समक्ष जो निर्णायक समस्याएँ हैं उन्हें विभिन्न स्तरों पर जैसे उप-क्षेत्रीय स्तर, क्षेत्रीय स्तर और महाद्वीपीय स्तर दक्षिण-दक्षिण स्तर आदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से अर्थक प्रभावशाली ढंग से हल किया जा सकता है। एशिया में क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय संगठनों का विकास एक नवीन प्रवृत्ति है।

1970 के अंत तक सात दक्षिणी एशिया के राष्ट्रों (बंगलादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका) में द्विपक्षीय या बहुपक्षीय आर्थिक व्यवहार था, पर क्षेत्रीय व्यवस्था जैसी कोई चीज का प्रस्ताव उसके सामने नहीं था। इसलिए दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन दक्षेस (सार्क) साउथ एशियन एसोसियेशन ऑफ रीजनल कोपरेशन- दक्षेस (सार्क) की 8 दिसम्बर, 1985 में स्थापना हुई। यह दक्षिण एशिया के सात पड़ोसी देशों की विश्व राजनीति में क्षेत्रीय सहयोग की पहली शुरूआत है। 'सार्क' की स्थापना के अवसर पर दक्षिण एशिया के इन नेताओं ने आपसी सहयोग बढ़ाने और तनाव समाप्त करने पर जोर दिया गया। उन्होंने यह भी कहा कि इस नए संगठन के जन्म से इन सात देशों के बीच सद्भावना, भाई-चारा और सहयोग का नया युग प्रारंभ होगा। उन्होंने 'क्षेत्रीय सहयोग संघ' के जन्म को 'युगान्तरकारी घटना', 'नए युग का शुभारम्भ' तथा 'सामूहिक सूझबूझ और राजनीतिक इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति' बताया।

31.2 सार्क का उद्भव एवं उद्देश्य

दक्षेस (सार्क) के निर्माण की पहल बंगलादेश के राष्ट्रपति जिया-उर-रहमान ने की जिन्होंने पड़ोसी देशों में 1977-80 में अपनी राजकीय यात्राओं के अवसर पर इस क्षेत्र के लोगों के सामान्य हित के लिए सहयोग को सघटित करने का विचार रखा। नवम्बर 1980 में दक्षिणी एशिया में क्षेत्रीय सहयोग विषय पर बंगलादेश ने एक दस्तावेज तैयार किया जो इन देशों में भेजा गया। इस दस्तावेज में उस व्यापक सम्भावना की ओर सधनरूप से ध्यान दिलाया गया, जो क्षेत्रीय सहयोग के लिए प्राप्त था। साथ ही उन लाभों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया जो सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से क्षेत्र के देशों को छाप होते थे। इस क्षेत्र के देशों के मध्य प्रारम्भिक विचार-विमर्श में इस बात पर जोर दिया गया कि प्रस्तावित क्षेत्रीय सहयोग आपसी विश्वास एवं एक दूसरे को समझाने में ही सहायक नहीं हो किन्तु सार्वभौमिक एकता, क्षेत्रीय अखण्डता, एक दूसरे के काम में अहस्तक्षेप तथा पारस्परिक लाभ के सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से आधारित हो। यह कल्पना की गयी कि यह सहयोग आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में धीरे-धीरे आगे विकसित होंगे। प्रारम्भ में इसने 11 क्षेत्रों को परिचिह्नित किया है। यह क्षेत्र आज भी 'सार्क' देशों के बीच सहयोग का आधार हैं।

अप्रैल 1981 में इस संगठन के विदेश सचिवों को एक बैठक बंगलादेश के दस्तावेज पर विचार करने के लिए बैठक हुई थी। विदेश मन्त्रियों की पहली बैठक नयी दिल्ली में सन् 1983 में हुई थी। इसी बैठक में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग की पहली औपचारिक घोषणा हुई। विदेश मन्त्रियों की बैठक जुलाई, 1984 में मालदीव और 1985 में भूटान में हुई। उसके बाद ही दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना हुई और इसका संवैधानिक स्वरूप निश्चित किया गया।

दक्षेस (सार्क) के मुख्य उद्देश्य जो इसके चार्टर में उल्लिखित हैं, निम्नलिखित है :

1. दक्षिण एशिया क्षेत्र की जनता के कल्याण एवं उनके जीवन-स्तर में सुधार करना।
2. दक्षिण एशिया के देशों की सामूहिक आत्म निर्भरता में वृद्धि करना।
3. क्षेत्र के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास में तेजी लाना।
4. आपसी विश्वास, सूझबूझ तथा एक-दूसरे की समस्याओं का मूल्यांकन करना।
5. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्र में सक्रिय सहयोग एवं पारस्परिक सहायता में वृद्धि करना।
6. अन्य विकासशील देशों के साथ सहयोग में वृद्धि करना तथा
7. सामान्य हित के मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग मजबूत करना।

ये उद्देश्य एक गैर राजनीतिक स्पर्श को तथा निम्न स्तर पर सहयोग की भावना को प्रतिबिम्बित करते हैं।

31.3 दक्षेस (सार्क) की संरचना एवं कार्य

अनुच्छेद 3 के अनुसार प्रतिवर्ष एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। यह सर्वोपरि नीति निर्माण करने वाला अंग है। अतः चार्टर के अन्तर्गत 'सार्क' की निम्नलिखित संस्थाओं का उल्लेख किया गया है :

31.3.1 शिखर सम्मेलन- राज्य या सरकारों के सर्वोच्च व्यक्तियों का सम्मेलन प्रति वर्ष होता है। यह सर्वोपरि नीति निर्माण करने वाला अंग है तथा साधारणतया साल में एक बार शिखर स्तर पर इसकी बैठक होती है। पहला शिखर सम्मेलन बंगलादेश की राजधानी ढाका में (7-8 दिसम्बर, 1985), दूसरा सम्मेलन भारत के बंगलौर नगर में (16-17 नवम्बर, 1986), तीसरा शिखर सम्मेलन नेपाल (1987) में, चौथा शिखर सम्मेलन पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद (1988) में, पांचवां शिखर सम्मेलन मालद्वीप की राजधानी माले (1990) में, छठा शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो (1991) में, सातवां शिखर सम्मेलन बंगलादेश की राजधानी ढाका (1993) में, आठवां शिखर सम्मेलन भारत की राजधानी नई दिल्ली (1995) में, नौवां शिखर सम्मेलन मालद्वीप की राजधानी माले (1997) में, दसवाँ शिखर सम्मेलन कोलम्बो (1998) में, चारहवाँ शिखर सम्मेलन काठमांडू (2002) में तथा बारहवाँ शिखर सम्मेलन पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद (2004) में आयोजित किया गया। 2005 ई. में बंगला देश की राजधानी ढाका में शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ।

31.3.2 मन्त्रिपरिषद्- अनुच्छेद 4 के अनुसार यह सदस्य देशों के विदेश मन्त्रियों की परिषद् है। इसकी विशेष बैठक आवश्यकतानुसार कभी भी हो सकती है। परन्तु छह माह में एक बैठक होना आवश्यक है। इसके कार्य हैं— संघ की नीति निर्धारित करना, सामान्य हित के मुद्दों के बारे में निर्णय करना, सहयोग के नए क्षेत्र खोजना आदि।

31.3.3 स्थायी समिति- अनुच्छेद 5 के अनुसार यह सदस्य देशों के सचिवों की समिति है। इसकी बैठकें आवश्यकतानुसार कभी भी हो सकती हैं परन्तु वर्ष में एक बैठक का होना अनिवार्य है। इसके प्रमुख कार्य हैं— सहयोग के कार्यक्रमों को मॉनिटर करना, अन्तर-क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ निर्धारित करना, अध्ययन के आधार पर सहयोग के नए क्षेत्रों की पहचान करना।

31.3.4 तकनीकी समितियाँ- इनकी व्यवस्था अनुच्छेद 6 में की गयी है। इनमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये अपने-अपने क्षेत्र में कार्यक्रम को लागू करने, उनमें समन्वय पैदा करने और उन्हें मॉनिटर करने के लिए उत्तरदायी हैं। ये स्वीकृत क्षेत्रों में क्षेत्रीय सहयोग के क्षेत्र और सम्भावनाओं का पता लगाती हैं। यह स्थायी समिति को समय-समय पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। इसकी बैठक जब चाहे हो सकती है।

31.3.5 कार्य समिति- अनुच्छेद 7 में कार्यकारी समिति की व्यवस्था की गयी है। इसकी स्थापना स्थायी समिति द्वारा की जा सकती है। इसका काम योजनाओं का क्रियान्वयन है। इसमें सभी सदस्य राज्य नहीं होते हैं पर दो से अधिक की उपस्थिति हो सकती है।

31.3.6 सचिवालय- अनुच्छेद 8 में सचिवालय का प्रावधान है। इसकी स्थापना दूसरे सार्क सम्मेलन (बंगलौर) के बाद 16 जनवरी, 1987 को की गयी। 17 जनवरी, 1987 से काठमांडू सचिवालय ने कार्य करना शुरू कर दिया है। महासचिव का कार्यकाल 2 वर्ष रखा गया है। तथा महासचिव का पद सदस्यों में क्रमबार से घूमता रहता है। महासचिव कार्यक्रमों के क्रियान्वयन व समन्वय पर नियन्त्रण एवं देखभाल रखता है तथा दक्षेस (सार्क) के विभिन्न अंगों द्वारा आयोजित होने वाली बैठकों की आवश्यकता की पूर्ति करता है।

31.3.7 वित्तीय प्रावधान- सार्क के कार्यों के लिए प्रत्येक सदस्य के अंशदान को ऐच्छिक रखा गया है। कार्यक्रमों के व्यय को सदस्य देशों में बांटने के लिए तकनीकी समिति की सिफारिशों का सहारा लिया जाता है। सचिवालय व्यय को पूरा करने के लिए सदस्य देशों के अंशदान को निम्न प्रकार निर्धारित किया गया है—भारत 32 प्रतिशत, पाकिस्तान 25 प्रतिशत, नेपाल, बंगलादेश एवं श्रीलंका प्रत्येक का 11 प्रतिशत और भूटान एवं मालद्वीप प्रत्येक का 5 प्रतिशत।

31.4 सार्क शिखर सम्मेलन

सार्क वार्षिक शिखर सम्मेलन

प्रथम	1985	ढाका	(बंगलादेश)
द्वितीय	1986	बंगलौर	(भारत)
तृतीय	1987	काठमाण्डू	(नेपाल)
चतुर्थ	1988	इस्लामाबाद	(पाकिस्तान)
पंचम	1990	माले	(मालदीव)
षष्ठ	1991	कोलम्बो	(श्रीलंका)
सप्तम्	1993	ढाका	(बंगलादेश)
अष्टम्	1995	नई दिल्ली	(भारत)
नवम्	1997	माले	(मालदीव)
दसवाँ	1998	कोलम्बो	(श्रीलंका)
ग्यारहवाँ	2002	काठमाण्डू	(नेपाल)
बारहवाँ	2004	इस्लामाबाद	(पाकिस्तान)
तेरहवाँ	2005	ढाका	(बंगलादेश)

31.4.1 प्रथम शिखर सम्मेलन- सार्क का पहला शिखर सम्मेलन बंगलादेश की राजधानी ढाका में 7-8 दिसम्बर, 1985 में हुआ जिसमें दक्षिण एशिया के 7 देशों ने विभिन्न समस्याओं और भाई-चारे तथा सहयोग के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार-विमर्श एवं विश्लेषण किया।

31.4.2 द्वितीय शिखर सम्मेलन- सार्क का द्वितीय शिखर सम्मेलन बंगलौर में 16-17 नवम्बर, 1986 को सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में निश्चित किया गया कि सार्क का सचिवालय काठमाण्डू में स्थापित होगा जिसके प्रथम महासचिव श्री अब्दुल हसन नियुक्त किए गए। सहयोग के क्षेत्र में नशीले पदार्थों की तस्करी रोकने, पर्यटन के विकास, रेडियो-दूरदर्शन प्रसारण कार्यक्रम विपदा प्रबन्ध पर अध्ययन सम्मिलित किए गए और क्रियान्वयन हेतु एक समयबद्ध कार्यक्रम की घोषणा की गयी।

31.4.3 तृतीय शिखर सम्मेलन- सार्क का तीन-दिवसीय तृतीय शिखर सम्मेलन नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में 4 नवम्बर, 1987 को समाप्त हुआ। आतंकवाद की समस्या पर भी सभी राष्ट्रों ने खुलकर विचार किया। आतंकवाद निरोधक समझौता उस सम्मेलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। खाद्य सुरक्षा भण्डार की स्थापना एवं पर्यावरण की समस्या पर भी विचार-विमर्श हुआ।

31.4.4 चतुर्थ शिखर सम्मेलन- सार्क (दक्षेस) का चतुर्थ शिखर सम्मेलन (29-31 दिसम्बर, 1988) क्षेत्रीय सहयोग के नूतन दिशा-संकेत इंगित करता है। 'इस्लामाबाद घोषणा पत्र' में दक्षेस 2000 एकीकृत योजना पर विशेष जोर दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत शताब्दी के अन्त तक क्षेत्र की एक अरब से अधिक आबादी को आवास व शिक्षा देने का प्रावधान है। इसमें मादक-द्रव्यों के खिलाफ संघर्ष का आह्वान किया गया। घोषणा पत्र में परमाणु निरस्त्रीकरण पर बल देते हुए सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नया माहौल बनाने का स्वागत भी किया गया। घोषणा पत्र में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थीक व्यवस्था कायम करने की दिशा में फिर से बातचीत शुरू करने का आह्वान किया गया। विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने पर आह्वान करते हुए घोषणा-पत्र में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ के सदस्य देशों में क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया गया।

31.4.5 पांचवाँ शिखर सम्मेलन- 23 नवम्बर, 1990 को मालदीव की राजधानी माले में 5वाँ दक्षेस शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में भारत के प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर, पाकिस्तान के प्रधानमंत्री मियां नवाज शरीफ व नेपाल के प्रधानमंत्री भट्टराई शामिल हुए। मालदीव के राष्ट्रपति गयूम को दक्षेस का नया अध्यक्ष बनाया गया। शिखर सम्मेलन की समाप्ति पर सदस्य देशों के शासनाध्यक्षों ने माले घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। इन दक्षिण एशियाई देशों ने आर्थिक क्षेत्र में आपसी सहयोग मजबूत करने के लिए संयुक्त उद्योग स्थापित करने तथा क्षेत्रीय परियोजनाओं हेतु सामूहिक कोष गठित करने का निर्णय किया। सम्मेलन के नेताओं ने विकासशील देशों के लिए अधिक दिनों तक खाद्य जुटाने के सम्बन्ध में जैव-प्रौद्योगिकी के महत्त्व तथा चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं पर बल दिया और इस क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने का आहान किया। घोषणा पत्र में आत्म-निर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया।

31.4.6 छठा शिखर सम्मेलन- 21 दिसम्बर, 1991 को कोलम्बो में छठा सार्क शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। श्रीलंका के राष्ट्रपति सार्क के नए अध्यक्ष बनाए गए। सम्मेलन में निम्नलिखित बातों पर सहमति व्यक्त की गई।

1. क्षेत्र में आतंकवाद को रोकने के लिए व्यापक सहयोग और सदस्य देशों में सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जाए।
2. निःशस्त्रीकरण की सामान्य प्रवृत्ति का स्वागत इस आशा से किया गया कि उससे सैन्य झड़ियों को विश्व के अन्य भागों में संयम बरतने के लिए प्रेरणा मिलेगी।
3. मानव अधिकारों के प्रश्न को केवल संकीर्ण और विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से न देखकर आर्थिक और सामाजिक पहलू के साथ सम्बद्ध करके देखा जाए।
4. सार्क के सदस्य देशों के बीच व्यापार के उदारीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके संस्थागत ढांचे के बारे में समझौता किया जाए।
5. गरीबी उन्मूलन के लिए सार्क समिति की स्थापना की जाए।
6. 2000 ई. तक क्षेत्र के सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा की सुविधा प्रदान करायी जाए।

31.4.7 सातवाँ शिखर सम्मेलन- दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन सार्क का दो-दिवसीय शिखर सम्मेलन 10 अप्रैल, 1993 को बंगलादेश (ঢাকা) में प्रारम्भ हुआ। बंगलादेश की प्रधानमंत्री बেगम खालिदा जिया ने श्रीलंका के राष्ट्रपति प्रेमदासा से संगठन की अध्यक्षता का कार्यभार लिया।

सम्मेलन में सार्क के सातों सदस्य देशों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। आतंकवाद के खिलाफ संयुक्त अभियान का आहान, आपसी आर्थिक सहयोग का घोषणा पत्र स्वीकार करने और दक्षिण एशिया वरीयता व्यापार समझौते की स्वीकृति के साथ सार्क सम्मेलन सम्पन्न हुआ। भारत के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव तथा भारत के दक्षिण एशियाई पड़ोसियों ने अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार को धीरे-धीरे उदार बनाने सम्बन्धी ढाका घोषणा-पत्र को स्वीकार किया और कहा कि दक्षेस देशों के बीच रियायती व्यापार के विनियम के लिए पहले दौर की वार्ता आरम्भ करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए। दक्षिण एशियाई वरीयता व्यापार समझौता को मंजूरी दिए जाने से दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

31.4.8 आठवाँ शिखर सम्मेलन- 3-4 मई 1995 को सार्क का आठवाँ शिखर सम्मेलन भारत की राजधानी नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। आतंकवाद एवं गरीबी के खिलाफ युद्ध की घोषणा दिल्ली घोषणा पत्र का मुख्य स्वर था। इस शिखर सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि सात देशों के राष्ट्राध्यक्षों ने दक्षिण एशिया अधिमान्य व्यापार समझौता लागू करना स्वीकार कर लिया। घोषणा पत्र में वर्ष 1995 को 'दक्षेस गरीबी उन्मूलन वर्ष' तथा 1996 को 'दक्षेस साक्षरता वर्ष' भी घोषित किया गया है।

31.4.9 नौवाँ शिखर सम्मेलन- दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) का नौवाँ शिखर सम्मेलन 12-14 मई, 1997 को मालदीव की राजधानी माले में सम्पन्न हुआ। शिखर सम्मेलन का उद्घाटन मालदीव के राष्ट्रपति मैमून अब्दुल गयूम ने किया। सम्मेलन की समाप्ति के अवसर पर सर्वसम्मति से जारी संयुक्त घोषणा पत्र में यह स्वीकार किया गया कि दक्षिण एशियाई क्षेत्र में शांति एवं स्थिरता का माहौल बनाए तथा इस क्षेत्र के त्वरित सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए अच्छे पड़ोसी सम्बन्धों का होना आवश्यक

है। इसके लिए राजनीतिक स्तर पर अनौपचारिक वार्ताओं के महत्व को घोषणा पत्र में स्वीकार किया गया है। घोषणा पत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि संगठन के तीन या अधिक सदस्य देशों के हित की विशिष्ट परियोजनाओं को प्रोत्साहित करने की बात इसमें स्वीकार की गई है। भारत के प्रधानमंत्री श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने दक्षिण एशियाई देशों के इस संगठन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने व सदस्य देशों के बीच आर्थिक सम्पर्क घनिष्ठ करने के लिए 'दक्षिण एशियाई स्वतन्त्र व्यापार' की परिणति 'दक्षिण एशियाई आर्थिक समुदाय' में करने का आह्वान किया।

31.4.10 दसवां शिखर सम्मेलन- 29-31 जुलाई, 1998 को कोलम्बो में दसवें सार्क शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ। शिखर सम्मेलन ने व्यापार और निवेश के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिए। दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार से सम्बन्धित करार अथवा सन्धि पर बातचीत आरम्भ करने के लिए सार्क के सभी सात देशों के विशेषज्ञों का एक समूह गठित किया जाएगा। इस करार में व्यापार मुक्त करने के लिए बाध्य अनुसूचियों का उल्लेख होगा और इसे 2001 तक अन्तिम रूप दे दिए जाने और सही स्थिति में ले आने की सम्भावना है। कोलम्बो में सार्क नेता जनसंघ्या की बढ़ोत्तरी को रोकन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, बाल कल्याण और महिलाओं के विकास के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रीय लक्ष्य निर्धारित करते हुए सार्क के लिए सामाजिक चार्टर तैयार करने पर सहमत हुए।

31.4.11 ग्यारहवाँ शिखर सम्मेलन- सार्क का बहुपर्याक्षित ग्यारहवाँ शिखर सम्मेलन 5-6 जनवरी, 2002 को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन मूलतः नवम्बर 1999 में प्रस्तावित था, किन्तु पाकिस्तान में नवाज शरीफ की निर्वाचित सरकार का तख्ता पलट जाने से वहां जनरल मुशर्रफ के नेतृत्व में सैन्य सरकार के सत्तारूप होने के कारण उस समय नहीं हो सका। इस सम्मेलन का आयोजन अन्ततः ऐसे समय में हुआ जब भारत एवं पाकिस्तान के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव की स्थिति चरम अवस्था में थी। सम्मेलन की समाप्ति पर जारी 11 पृष्ठों के 56 सूत्रीय 'काठमाण्डू घोषणा पत्र' में आतंकवाद की समाप्ति के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की गयी। 'दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र' का मसौदा-2002 के अन्त तक तैयार करने की इच्छा भी व्यक्त की गयी।

31.4.12 बारहवाँ शिखर सम्मेलन- 12वाँ सार्क शिखर सम्मेलन 4-6 जनवरी, 2004 तक इस्लामाबाद में आयोजित किया गया। यह सम्मेलन आशा से अधिक सफल रहा। इसमें द्विपक्षीय मुद्दे, कश्मीर विवाद, आदि तो नहीं उठे, लेकिन आपसी व्यापार की बातें अवश्य की गई। सारी बातचीत क्षेत्र में शान्ति, स्थायित्व, विकास और समृद्धि के केन्द्र में रखकर की गई। साफ्टा पर सहमति बनी और सार्क सामाजिक चार्टर को स्वीकृति प्रदान की गई। घोषणा पत्र में स्पष्ट कहा गया है कि हर तरह के आतंकवाद को समाप्त करने की जरूरत है। और इसके लिए सभी सदस्य देश सार्क चार्टर एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के प्रति वचनबद्ध हैं। काफी समय तक अधर में लटके रहे साफ्टा के प्रस्ताव पर रजामंदी सार्क को एक प्रमुख दूसरी उपलब्धि है। इस समझौते के तहत सार्क देश जनवरी 2006 से मुक्त व्यापार के क्षेत्र में कदम रखेंगे। घोषणा पत्र में सार्क सोशल चार्टर पर हस्ताक्षर किए जाने का स्वागत किया गया तथा इसे ऐसी ऐतिहासिक घटना बताया गया जिससे दक्षिण एशिया के करोड़ों लोगों के जीवन पर दूरगमी प्रभाव पड़ेंगे।

31.4.13 तेरहवाँ शिखर सम्मेलन 2005 ई. - यह सम्मेलन 2005 बंगलादेश की राजधानी ढाका में आयोजित किया गया। इसमें भारतीय प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहनसिंह सहित इस संगठन के अन्य राष्ट्राध्यक्षों ने भाग लिया। इसमें आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प व्यक्त किया गया।

31.5 सार्क को उपलब्धियाँ और भारत

यद्यपि सार्क के गठन के बीस वर्ष पूरे हो चुके हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रीय संगठनों की तरह यह भी उतना सफल नहीं हो सका है जितना इसे होना चाहिए था। सार्क के एजेंडे में जिन मुद्दों पर आम सहमति थी, न केवल उनकी प्रगति बहुत धीमी रही है बल्कि असंतोषजनक भी रही है। सार्क के लक्ष्यों व उद्देश्यों के कार्यान्वयन में सहयोग व समन्वयक की भी भावी कमी रही है। मौजूदा स्थिति के कारणों की खोज करना कोई कठिन काम नहीं है। पूरा क्षेत्र जातीय तनावों से ग्रस्त है- कहीं तमिलों व सिंहली के बीच तनाव है तो कहीं आसमियों व बंगलादेशियों के बीच तो कहीं हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच। इन सभी तनावों में भारत, जो कि इस क्षेत्र मुख्य शक्ति है, लिस रहता आया है। यही नहीं, सदस्य राज्यों के बीच इतिहासजन्य पारस्परिक अविश्वास, गलत धारणा व नासमझी रही है। भारत

में पाकिस्तान के तनावों के बारे में कौन नहीं जानता। तमिलों के सवाल पर भारत व श्रीलंका के संघर्ष तथा नेपाल का भारत पर उसके आतंरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के आरोप तनाव के अन्य कारण रहे हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भारत की विशालता से क्षेत्र के दूसरे देश इस शंका से पीड़ित रहते हैं कि कहीं वह उन पर अपना प्रभुत्व न कायम कर ले। हालांकि दक्षिण एशिया पर वर्तमान में कोई बाहरी संकट नहीं है, तथापि पाकिस्तानी आतंकवादियों का सीमापार से भारत में आना-जाना पहले पंजाब में और अब कश्मीर में असल क्षेत्रीय सहयोग के मार्ग में बाधा पहुँचाता रहा है। इसकी वजह से दोनों देशों के बीच लगातार तनाव बना रहा है, मुठभेड़, सैनिक चेतावनी या छायायुद्ध तथा आतंकवाद की वारदातें भी होती रही हैं।

31.6 सारांश

प्रस्तुत अध्याय में क्षेत्रीय संगठनों, एकीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति तथा गत्यात्मकता का सार्के के विशेष सन्दर्भ में अध्ययन करने का प्रयास किया है। यह व्यापक रूप से स्वीकृत तथ्य है कि क्षेत्रीय संगठनों को किसी भी व्यावहारिक विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत एक सक्रिय भूमिका का निर्वहन करना है। आर्थिक विकास की समस्याओं का सामना करने, विकसित उत्तरी देशों के मुकाबले में छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों की सौदेबाजी की। शक्ति में वृद्धि तथा उत्तरी राष्ट्रों पर उनकी निर्भरता में कमी करने के प्रयोजन से क्षेत्रीय एकीकरण को है। वास्तव में यहां छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों के मध्य, विशेष रूप से भी तृतीय विश्व के देशों में क्षेत्रीय सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता है।

सातों देशों के बीच यद्यपि वैचारिक विभिन्नता एवं सुरक्षा के विवादास्पद नए-पुराने उलझाव हैं पर आर्थिक विकास एवं सहयोग की विपुल सम्भावनाएँ हैं। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन की स्थापना ऐसे समय में हुई है जबकि इसके कुछ सदस्य देशों के आपसी सम्बन्ध सामान्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ पड़ोसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध उत्तार चढ़ाव के हैं। लेकिन राजनीतिक विग्रह के बावजूद आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग से आगे बढ़ा जा सकता है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्के के कार्य एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. सार्के की स्थापना के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए बताइए कि यह इन्हें प्राप्त करने में कहां तक सफल रहा है ?
3. “दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्के) की स्थापना ने दक्षिण एशिया के राज्यों में पारस्परिक सहयोग के नये युग का सूत्रपात किया है।” इस कथन को ध्यान में रखते हुए दक्षिण एशिया के क्षेत्र में भारत की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सार्के की स्थापना के क्या उद्देश्य थे ?
2. सार्के की संस्थागत संरचना का उल्लेख कीजिए।
3. क्षेत्रीय सहयोग कायम करने में सार्के बहुत सफल क्यों नहीं हुआ है ?
4. सार्के को किस प्रकार शक्तिशाली बनाया जा सकता है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सार्के सचिवालय कहां स्थित है ?
2. दक्षिण एशियाई देशों का क्षेत्रीय संगठन बनाने का विचार किसने दिया ?
3. सार्के के सदस्य देश कौन-कौनसे हैं ?

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अहिंसा एवं शान्ति

संरचना

- 32.0 उद्देश्य
- 32.1 प्रस्तावना
- 32.2 अहिंसा के आधारभूत तत्त्व
 - 32.2.1 अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप
 - 32.2.2 अहिंसा : एक शाश्वत धर्म
 - 32.2.3 अहिंसा से आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण
 - 32.2.4 लोकतन्त्र और अहिंसा
- 32.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति
- 32.4 सारांश

32.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मानव जाति के जाँचित उद्देश्यों को प्राप्त करने एवं मानव जाति के अनुरक्षण के सन्दर्भ में अहिंसा एवं शान्ति का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- विश्व शान्ति के आनंदोलनों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- विश्व शान्ति और अहिंसा के उपक्रम समझ सकेंगे,
- शान्ति व सहयोग के प्रसंगों की विस्तृत व्याख्या एवं परीक्षण कर सकेंगे।

32.1 प्रस्तावना

अहिंसा और शांति मानव जाति की शाश्वत अभिलाषा रही है। इसे जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों में रखा जाता है। “हर कीमत पर शान्ति”, “सबसे बेकार किस्म की शान्ति भी सबसे न्यायपूर्ण युद्ध से अच्छी होती है।” युद्ध कभी अच्छा नहीं होता न शांति कभी बुरी। उपर्युक्त उद्धरणों से शांति का महत्व रेखांकित होता है। शान्ति की नई परिभाषा है युद्ध और तनाव की अनुपस्थिति। शांति दो या अधिक देशों के बीच सौहार्द, सामर्जस्य और समझौते के रूप में भी परिभाषित की जाती है। शत्रुता हिंसा या युद्ध का विलोम है, शान्ति। शान्ति युद्ध से मुक्ति की अवस्था भी है।

अहिंसा और शान्ति केवल दर्शन ही नहीं है, अपितु यह एक आचरण है। वह एक शाश्वत धर्म है, वह मात्र संकटकालीन स्थिति से उबरने का उपाय ही नहीं है। अहिंसा में असीम शक्ति है। उस शक्ति का जागरण तभी सम्भव हो सकता है, जब उसका बोध हो, शोध हो, प्रशिक्षण हो और प्रयोग हो। इस दिशा में मानव की जीवन हमारी यात्रा उसकी आत्मा के भीतर से शुरू हो।

आज अहिंसा विवशता या बाध्यता की स्थिति में ही मान्य हो रही है इसलिए उसके बारे में अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग नहीं हो रहे हैं? विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें युद्ध के लिए प्रशिक्षण और शोध की व्यवस्था करती हैं वैसे अहिंसा, अहिंसक समाज रचना और विश्व शान्ति के लिए प्रशिक्षण और शोध की व्यवस्था नहीं करती। क्या इस एकपक्षीय व्यवस्था से हिंसा को प्रोत्साहन और अहिंसा के मूल पर कुठारघात नहीं हो रहा है? हमारा सामूहिक संकल्प हो कि सरकारें युद्ध के प्रशिक्षण की भाँति अहिंसा के प्रशिक्षण का दायित्व भी अपने ऊपर लें। संयुक्त राष्ट्र संघ जो विश्व शान्ति के लिए उत्तरदायी है उसका भी सहज-दायित्व बनता है कि वह अहिंसा के प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्था का संचालन करे।

32.2 अहिंसा के आधारभूत तत्त्व

अशान्ति और हिंसा तथा शान्ति और अहिंसा-ये दो युगल हैं। जैसे अशान्ति और हिंसा को कभी अलग-अलग नहीं देखा जा सकता, वैसे ही शान्ति और अहिंसा को विभक्त नहीं किया जा सकता। भेद हमारी उपयोगिता है। बांटना, विभक्त करना सुविधा है। इस उपयोगिता और सुविधा को हमने वास्तविक मान लिया और उसके आधार पर मानव-जाति को टुकड़ों में बांट दिया। जाति और रंगभेद के आधार पर मानव-मानव में एक घृणा की दीवार खड़ी हो गई। हिनता और उच्चता का एक अभेद्य किला बन गया। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इस जाति और रंगभेद के कारण हिंसा को निरंतर बढ़ावा मिल रहा है। मनुष्य में हीनता और अहं की ग्रन्थि सहज ही होती है। यह जातिवाद और रंगवाद इन दोनों ग्रंथियों को खुलकर खेलने का मौका दे रहा है। मनुष्य-जाति का एक बहुत बड़ा भाग हीनता की ग्रंथि से ग्रस्त है तो दूसरा भाग अहं की ग्रंथि से सूर्ण है। क्या जातिवाद को समाप्त नहीं किया जा सकता?

जाति काल्पनिक है। उसे समाप्त करने की बात सोच भी लें पर रंगभेद, एक यथार्थ है। वह केवल कल्पना नहीं है। उसकी समाप्ति होने पर भी हिंसा की समस्या सुलझेगी नहीं। इसलिए अहिंसा की दिशा में हमारी यात्रा भीतर या अन्तर से प्राप्त हो। जातिभेद और रंगभेद के होने पर भी हिंसा न भड़के, घृणा को अपना पंजा फैलाने का अवसर न मिले, ऐसा कुछ सोचना है और वह भीतरी यात्रा से ही सम्भव है। इतिहास साक्षी है कि जितने घृणा के बीज बोए गए, उतने प्रेम के बीज नहीं बोए गए। यदि आज हम इस ऐतिहासिक यथार्थ को बदलने की दिशा में चले तो हमारा नई दिशा में प्रस्तान होगा।

वर्तमान विश्व में आर्थिक और भौतिक विकास की एकांगी अवधारणा ने हिंसा के आचरण को बढ़ावा दिया है। इन दशकों में अहिंसा के प्रति जो आकर्षण बढ़ा है, वह हिंसा से उत्पन्न समस्या के कारण बढ़ा है। हत्या, आत्म, संहारक शस्त्रों का निर्माण, हिंसक संघर्ष और युद्ध ये हिंसक समस्याएं समाज की शान्ति को भंग कर रही है। सबको लग रहा है: वर्तमान की अशान्ति को मिटाने का सबसे सुन्दर समाधान अहिंसा है। अहिंसा प्रशिक्षण की आधारभूमि है, व्यक्ति, और प्रयोग भूमि है, समाज। अतः अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति का मौलिक आधार है, अहिंसानिष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण। उसकी प्रयोग भूमियां चार हैं-

○ परिवारिक जीवन ○ सामाजिक जीवन ○ राष्ट्रीय जीवन ○ अन्तर्राष्ट्रीय जीवन।

अहिंसा प्रशिक्षण के आधारभूत तत्त्व हैं- हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवन-शैली परिवर्तन एवं व्यवस्था परिवर्तन। दूसरी तरफ राज्य-सत्ता की अपनी उपयोगिता है। उसे समाप्त करने की बात सोची नहीं जा सकती। यदि सोची जाय तो वह कितनी व्यावहारिक हो सकती है, यह प्रश्नचिह्न ही है। किन्तु राज्य-सत्ता के साथ हिंसा की वृद्धि हो रही है, वह आज की जटिल समस्या है। शस्त्रीकरण को राज्यसत्ता का अनिवार्य सुरक्षा कवच माना गया है और माना जा रहा है। आज जिस गति से संहारक-शस्त्रों का विकास हो रहा है, उससे पूरी मानव जाति संतप्त है। नि: शस्त्रीकरण की चर्चा चल रही है।

यह कॉन्फ्रेन्स जन-प्रतिनिधियों की है, राज्य सत्ता के प्रतिनिधियों की नहीं है। शस्त्रीकरण की शक्ति राज्यसत्ता के हाथ में है। क्या जन-प्रतिनिधियों की बात पर राज्य सरकारें ध्यान देंगी? शक्ति-संतुलन को विश्व शान्ति का आधार माना जा रहा है। उस स्थिति में राज्य सरकारें जन-प्रतिनिधियों की बात पर कैसे ध्यान देंगी? यह बात सहज ही तर्कसंगत लगती है, पर इस तर्क के समाने निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जन-शक्ति शस्त्रीकरण की शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली है। अहिंसा में आस्था रखने वाले यदि अपनी बात जनता तक पहुँचा सकें, उनकी आस्था और लगन अदम्य हो तो एक न एक दिन राज्य सरकारों को उनकी बात पर ध्यान देने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। सही बात यह है कि अहिंसा में विश्वास रखने वाले लोग विश्व में वातावरण का निर्माण करने में सफल नहीं हुए हैं जिससे वे राज्यसत्ता के शासक-तर्फ को प्रभावित कर सकें। हमें अहिंसा के मूलभूत आधार तत्त्वों को नहीं भूलना चाहिए।

32.2.1 अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप- अहिंसा-प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते हैं- सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। उन सबकी चर्चा में प्रशिक्षण की बात भी मुख्य है। इस दृष्टि से यहाँ कुछ ऐसे बिन्दुओं को उल्लिखित किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार भी नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले निम्नलिखित पांच बिन्दु हैं-

- आत्मा का अस्तित्व
- आत्मा की स्वतन्त्रता
- आत्मा की समानता
- जीवन की सापेक्षता
- सह-अस्तित्व

आत्मा है। प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतन्त्र है। गणित की भाषा में आत्मा अनन्त है। उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं। पर स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक सीमित नहीं है। विश्व में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का सिद्धान्त प्रकृति के प्रत्येक कण पर लागू होता है। कहीं पर वृक्ष का एक पत्ता भी टूटकर गिरता है तो उसका प्रभाव पूरी सृष्टि पर पड़ता है। “मैं रहूंगा या वह रहेगा”, अहिंसा की परिधि में इस चिन्तन को स्थान नहीं मिल सकता। “मैं भी रहूंगा, तुम भी रहेगे। यह भी रहेगा, वह भी रहेगा।”— इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है।

32.2.2 अहिंसा : एक शाश्वत धर्म- अहिंसा शाश्वत धर्म है। पर हम उसे शाश्वत धर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे हैं। जब-जब मानव-समाज पर खतरे के बादल मंडराते हैं तब भयभीत दशा में अहिंसा की बात याद आती है और उसके विकास के लिए हमारा प्रयत्न प्रारम्भ होता है। इस प्रकार हमने अहिंसा को संकटकालीन स्थिति से उबरने का उपाय मान लिया है। इसलिए अहिंसा का स्वतन्त्र विकास नहीं हो रहा है। हिंसा निषेधात्मक प्रवृत्ति है। वह विधायक जैसी बनी हुई है। अहिंसा की प्रवृत्तिविधायक है, पर वह निषेधात्मक जैसी बनी हुई है। हिंसा का निषेध अहिंसा है-

इस शब्द रचना से ही एक भ्रान्ति पैदा हो गई है। इस भ्रान्ति ने हिंसा को पहले नम्बर में और अहिंसा को दूसरे नम्बर में रखने की धारणा बना दी। इस धारणा से अभिभूत आदमी यह मानकर चल रहा है कि हिंसा जीवन के लिए अनिवार्य है, अहिंसा अनिवार्य नहीं है। जिस दिन अहिंसा की अनिवार्यता समझ में आती है, हिंसा का चक्रव्यूह अपने आप टूट जाता है।

32.2.3 अहिंसा से आध्यात्मिक- वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण- भारतीय दर्शन के अनुसार देशातीत होना ही अहिंसा है, यही शान्ति है। इसके लिये सीमा और सन्तुलन शब्दों पर जोर देना आवश्यक है। जब तक इच्छा के परिमाण पर विचार नहीं होगा अहिंसा की बात करना ही व्यर्थ है। भौतिक संग्रह और अर्थिक विषमता आज की मुख्य समस्या है। व्यक्तिगत स्वामित्व असीम हो रहा है। व्यक्तिगत स्वामित्व का न होना व्यावहारिक नहीं है, किन्तु व्यक्तिगत स्वामित्व का असीम होना अन्याय है।

एक तरफ तो अहिंसक समाज रचना की बात कर रहे हैं दूसरी ओर हमारी शिक्षा केवल बौद्धिक व्यक्ति पैदा कर रही है। भावात्मक शिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा में अहिंसा के विकास के लिये कोई स्थान ही नहीं है। जब तक हमारी शिक्षा में बौद्धिक व्यक्तित्व के साथ-साथ भावनात्मक व्यक्तित्व के विकास की बात नहीं जुड़ेगी, अहिंसा की बात व्यर्थ हो जायेगी।

32.2.4 लोकतन्त्र और अहिंसा- विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण हम बहुत निकट आ गए हैं। विश्व की दूरियाँ कम हो गई हैं। पहले हम व्यक्ति की बात सोचते थे, फिर समाज की। वर्तमान में हम विश्व की बात सोचते हैं। यह क्रमिक विकास व्यक्ति से समाज और समाज से विश्व बहुत महत्वपूर्ण है। हम यथार्थ को न भुलाएँ। चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है। व्यक्ति की चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है और सामूहिक चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है। व्यक्ति की चेतना का परिष्कार किए बिना विश्व शान्ति का सपना पूर्ण नहीं हो सकता है। शान्ति की बात व्यवस्था के साथ चले तो व्यक्ति को गौण किया जा सकता है। व्यवस्था का कमजोर या शक्तिशाली पहलू है - नियन्त्रण। उसके बिना व्यवस्था नहीं चलती है। नियन्त्रण के साथ शान्ति की पौध पनप नहीं सकती। चाहे पहले करें या चाहे अन्त में, व्यक्ति-व्यक्ति में सामूहिक चेतना को जगाना ही विश्व शान्ति का मूल मंत्र है।

नियन्त्रण की अवधारणा के साथ सैनिक शासक और तानाशाह पनपते रहे हैं। हम राजतन्त्र से लोकतन्त्र तक पहुंचे हैं। इस विजययात्रा का मूल्य कम नहीं है। इससे अगली यात्रा शान्तितन्त्र की होनी चाहिए। अब राजनीतिक प्रणाली का प्रमाण लोकतन्त्र से शान्तितन्त्र की दिशा में होना चाहिए। उसी अवस्था में हम विश्व शान्ति की कल्पना कर सकते हैं। अहिंसा का प्रशिक्षण लोकतन्त्र के लिए अपरिहार्य है।

32.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति

सेंट साइमन की पुस्तक ‘यूरोपीयन समाज का पुनर्गठन’ के प्रकाशन के साथ-साथ शांति संगठनों का गठन प्रारम्भ हुआ। पहले शांति संगठन की स्थापना अमरीका में हुई। प्रारम्भिक दौर के शांति संगठनों के बहस के मुद्दे थे : उचित और अनुचित युद्ध, हिंसा की आवश्यकता और उपनिवेशवाद आदि। धीरे-धीरे दासता, नारी-मुक्ति, सार्वजनिक शिक्षा एवं मानवाधिकार जैसे सामाजिक मुद्दे शांति संगठनों की बहस का विषय बनते गए। धीरे-धीरे राष्ट्रीय शांति संगठनों को एक अन्तर्राष्ट्रीय शांति संगठन की आवश्यकता अनुभव होने

लगी। 19 वीं शताब्दी के मध्य के आस-पास अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलनों में राष्ट्रों के एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के गठन और झगड़ों के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना पर बहस होती रही थी। इन सम्मेलनों में औपनिवेशिक लोगों की स्वतंत्रता पर भी चर्चाएं हुईं। व्यक्तिवादियों ने इस बात का पक्ष लेना प्रारम्भ किया की कि राज्यों के बीच मुक्त व्यापार के सिद्धान्त के आधार पर शांति की स्थापना की जा सकती है। इन संगठनों पर अधिकांशतः जनतांत्रिक उदारवादियों का वर्चस्व था जिन्होंने बहुत से क्रान्तिकारी निर्णय लिए किन्तु उन्हें लागू करने में असफल रहे।

1870 में मार्क्सवाद के अनुयायियों ने “फर्स्ट इंटरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन (कामगारों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्) की स्थापना की। फर्स्ट इंटरनेशनल की मान्यता में मजदूर वर्ग के आन्दोलन का उद्देश्य निहित है, सामाजिक परिवर्तन जो कि विश्व शान्ति स्थापना की अनिवार्य शर्त है। फर्स्ट इंटरनेशनल ने एक ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया, जिसके अनुसार : “युद्ध का भार मुख्य रूप से मजदूर वर्ग पर पड़ता है। युद्ध मजदूरों को उनकी आजीविका के साधन से ही नहीं बेदखल करता बल्कि एक दूसरे का खून बहाने को भी बाध्य करता है।

सशस्त्र क्रान्ति से उत्पादन शक्तियाँ कमजोर होती हैं। यह मजदूरों से शांति के लिए व्यर्थ श्रम की मांग करती है जो कि आम जन के कल्याण की आवश्यक शर्त है। इसे नई व्यवस्था में नए तरीके से संपादित करना होगा। एक ऐसी व्यवस्था में जिसमें एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का सिलसिला समाप्त हो जाए। मार्क्सवादी शांति आन्दोलनों ने शांति आन्दोलन में एक नया आयाम और जोड़ा और आन्दोलन के नेतृत्व से आदर्शवादियों को हटाकर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया।”

20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर शांति संगठनों की बाढ़ सी आ गई। लेकिन ये संगठन 1914 में प्रथम विश्व युद्ध को रोकने में असफल रहे। युद्ध के दौरान इनमें से कई संगठन ने अपना ओड़ज़ीवादी सार्वभौमिक सिद्धान्त छोड़कर राष्ट्रीय युद्ध के पक्ष में जुट गए। युद्ध के बाद शांति, लेनिन के शांति के सूत्र और राष्ट्रपति बिल्सन के 14 सूत्र आदि प्रस्ताव विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किए गए। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध को नहीं रोका जा सका। यह युद्ध अत्यन्त भयावह था। इस युद्ध में पहली बार परमाणु बम जैसे भयंकर प्रलयंकारी हथियारों का प्रयोग हुआ। इस युद्ध का विश्व पर भयंकर प्रभाव पड़ा। युद्ध की समाप्ति के साथ एक नए युग की शुरूआत हुई— परमाणु युग की।

नए युग ने नई आशंकाओं को जन्म दिया। यदि परमाणु युद्ध छिड़ा तो मानव सभ्यता का विनाश अवश्यभावी है। ऐसा डर लोगों के मन में बैठ गया है। परमाणु युद्ध की आशंका के भय ने शांति की नई अवधारणाओं को जन्म दिया और शान्ति आन्दोलन में नई बहसें चल पड़ी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तो शांति आन्दोलन ने विश्व शांति संगठन (वर्ल्ड पीस कॉंसिल) के तत्वावधान में एक जनान्दोलन का रूप ले लिया। विश्व के तमाम देशों में संगठन ने अपना सांगठनिक जाल फैलाया। ये संगठन विश्व शान्ति के आदर्शों का प्रचार करते थे। इस आन्दोलन में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक, दर्शनिक और कलाकार शामिल हुए। आज वर्तमान में विश्व समस्त शान्ति संगठन विश्व शान्ति की समर्थन करते हैं और विश्व शांति के मुद्दों और इससे जुड़े विषयों पर शोध को प्रोत्साहित करते हैं।

32.4 सारांश-

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मानव संहार और विनाश ने एक बार पुनः अहिंसा एवं शान्ति के प्रयासों को गति दी। 1945 के बाद द्विधुक्षीय विश्व तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाओं और शान्ति की आशाओं पर निर्मित हुआ, “मानव मस्तिष्क में आमूल परिवर्तन करने के उद्देश्य से निर्मित संयुक्त राष्ट्र संघ ने निःशस्त्रीकरण को भावी युद्ध की सम्भावना रोकने का महत्वपूर्ण मार्ग माना। अतः आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध की सम्भावनायें घटी हैं बढ़ी नहीं और अहिंसा एवं शान्ति को महत्व दिया जा रहा है।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अहिंसा एवं शान्ति पर लेख लिखिये।
2. अहिंसा के आधारभूत तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लोग शान्ति की कामना क्यों करते हैं?
2. अहिंसा एवं विश्व शान्ति बनाए रखने के क्या कदम उठाए गए हैं?

पंचशील एवं शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति

संरचना

- 33.0 उद्देश्य
- 33.1 प्रस्तावना
- 33.2 पंचशील के सिद्धान्त
- 33.3 पंचशील सिद्धान्तों के समक्ष चुनौतियाँ
 - 33.3.1 कोरा आदर्श मात्र
 - 33.3.2 सिद्धान्तों की कार्यान्वयन के लिए मर्शीनरी का अभाव
 - 33.3.3 पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज
 - 33.3.4 प्रतिपादकों द्वारा सिद्धान्तों की अवहेलना करना
- 33.4 शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति
- 33.5 सारांश

33.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत पंचशील सिद्धान्तों एवं शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप :

- शान्तिपूर्ण सहजीवन की नीति समझ सकेंगे,
- पंचशील के सिद्धान्तों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

33.1 प्रस्तावना

भारत सदैव ही विश्व-शान्ति का समर्थक रहा है। उसने यह अनुभव किया कि युद्ध और संघर्ष नवोदित राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है। 15 अगस्त 1945 में के.एम. पण्डिकर ने कहा था, “भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।” शान्तिपूर्ण नीति की घोषणा करते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि “हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटिय होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति भी स्थिति बचाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम उसे रोकने में समर्थ हो सकें।” अतः अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटाने के लिए भारत शान्तिमय साधनों, द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय वार्ताओं व समझौतों, मध्यस्थिता, पंच-निर्णय या विवाचन आदि पर बल देता है। भारत की यह धारणा रही है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सह-अस्तित्व की भावना का विकास हो। यदि सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो आणविक शस्त्रों से विश्व का हानि विनाश हो जायेगा। इसी कारण भारत ने अधिक-से-अधिक देशों के साथ मैत्री संधियाँ और शान्ति समझौते किये। इन संधियों में- भारत-नेपाल, भारत-इराक मैत्री संधि, भारत-जापान शान्ति संधि, भारत-मिस्र शान्ति संधि, भारत-सेवियत मैत्री संधि, भारत-बंगलादेश मैत्री संधि, उल्लेखनीय हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि “विश्व में आज अलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है। हम दूसरों से अलग रहकर जिन्दा नहीं रह सकते। हमें या तो सहयोग करना चाहिए अथवा युद्ध। हम शान्ति चाहते हैं। अपना वश चलते हम दूसरे राष्ट्र के साथ लड़ाई नहीं चाहते।” भारत प्रारम्भ से ही विश्व शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता है। यही कारण है कि जब 1963 में आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि हुई तो भारत वह पहला देश था। जिसने अविलम्ब इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिये।

33.2 पंचशील के सिद्धान्त

पंचशील का शाब्दिक अर्थ है “आचरण के पाँच सिद्धान्त” पंचशील के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम उच्चारण महात्मा बुद्ध ने किया

था। बुद्ध ने इन्हें पाँच व्रतों के रूप में अभिव्यक्त किया था। ये व्रत थे अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्माचर्य, सत्य भाषण और मद्यत्याग। महात्मा बुद्ध के इन पाँच व्रतों का सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण अर्थात् व्यवहार से था। आधुनिक समय में इण्डोनेशिया के डॉ. सुकर्ण ने 1 जून, 1945 को अपनी विदेश नीति के सम्बन्ध में पांज्यशिला के सिद्धान्तों की स्थापना की थी। पाँच सिद्धान्त थे— राष्ट्रवाद, मानवता में विश्वास, स्वाधीनता, सामाजिक न्याय और ईश्वर विश्वास। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने में जिन पाँच सिद्धान्तों का निर्माण अप्रैल, 1945 में तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच हुए समझौते में किया गया उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पंचशील के सिद्धान्तों के नाम से जाना जाता है।

28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ -एन-लाई तथा भारत के प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'पंचशील' में अपना विश्वास व्यक्त किया। एशिया के प्रायः सभी देशों ने 'पंचशील' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। अप्रैल 1955 में 'बाण्डुंग सम्मेलन' में इन 'पंचशील' के सिद्धान्तों को पुनः विस्तृत रूप प्रदान किया गया। 'बाण्डुंग सम्मेलन' के बाद विश्व के अधिसंघ राष्ट्रों ने 'पंचशील' सिद्धान्त को मान्यता दी और उसमें आस्था प्रकट की। 14 सितम्बर, 1959 को 82 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्र महासभा ने भारत द्वारा प्रस्तुत किये गये 'पंचशील' के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पंचशील को सम्पूर्ण विश्व की मान्यता प्राप्त हो गयी। पंचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए निःसन्देह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं। 'पंचशील' के सिद्धान्त आपसी विश्वासों के सिद्धान्त हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "यदि इन सिद्धान्तों को सभी देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओं का निदान मिल जायेगा।" पंचशील के पाँच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. सभी राष्ट्र एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करें।
2. कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण न करे और दूसरों की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे। किसी राज्य की सीमा को कोई दूसरा राज्य भंग न करे।
3. कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।
4. प्रत्येक राज्य एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे तथा पारस्परिक हित में सहयोग प्रदान करे अर्थात् सभी देश समान हैं, न कोई बड़ा है और न कोई छोटा।
5. सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करें तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्ण रहें तथा अपनी पृथक-पृथक सत्ता एवं स्वतन्त्रता बनाये रखें।

अतः पंचशील के सिद्धान्तों का सम्बन्ध राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों, सह-अस्तित्व के प्रश्नों और विश्वशान्ति से है।

33.3 पंचशील सिद्धान्तों के समक्ष चुनौतियाँ

पंचशील सिद्धान्त के सम्बन्ध में इतिहास का निर्णय कुछ दूसरे ही प्रकार का है। यद्यपि यह सत्य है कि पंचशील के सिद्धान्त अत्यन्त उच्च और श्रेष्ठ आदर्श हैं। परन्तु वे आदर्शवादी, कपोल कल्पित अव्यावहारिक और भारतीय कूटनीति की विफलता के मूल कारण सिद्ध हुए हैं। पंचशील में इसके सिद्धान्तों का पालन करनाए के लिए किसी उपयुक्त व्यवस्था या संस्था का विधान नहीं था। इस सम्बन्ध में पंचशील बहुत कुछ ऐसा 1928 में केलॉग-ब्रिआं पैक्ट के समान था। केलॉग-ब्रिआं पैक्ट के द्वारा विश्व के अधिकांश राज्यों ने युद्ध के परित्याग की घोषणा की थी, परन्तु उन्होंने व्यवहार में अपने वचन का पालन नहीं किया। इसी प्रकार पंचशील को स्वीकार करने वाले राज्यों ने भी व्यवहार में उन्हें "पवित्र आकांक्षाएं ही समझा और उनका अनेक बार उल्लंघन किया। स्वयं चीन के प्रधानमंत्री जिस समय इन सिद्धान्तों की घोषणा कर रहे थे, उस समय भी चीन भारतीय क्षेत्र पर अधिकार करके पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहा था।

33.3.1 कोरा आदर्शमात्र— पंचशील के सिद्धान्त कोरे आदर्श हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय जगत के ठोस, व्यावहारिक तथा यथार्थ सम्बन्धों में महत्व कम है। यथार्थ परिस्थितियों में इनका अनुसरण करना कठिन है। इनकी तुलना 1815 के पवित्र संघ तथा 1927 के केलॉग-ब्रिआं पैक्ट से की गई है, इन्हें 'व्यर्थ' भी कहा जाता है क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में इन्हें पहले ही उल्लिखित किया गया है।

33.3.2 सिद्धान्तों की कार्यान्वयिता के लिए उपयुक्त मशीनरी का अभाव— पंचशील सिद्धान्तों के निर्माताओं ने इनकी कार्यान्वयिता के लिए कोई संस्था स्थापित नहीं की और न ही कोई ऐसी व्यवस्था की कि आक्रमण, हस्तक्षेप या अतिक्रमण की घटनाएँ घटित ही न हों। इन सिद्धान्तों में इस बात की व्यवस्था ही नहीं की कि यदि युद्ध हो तो उसे कैसे दूर किया जा सकता है? अतः इनकी उपयोगिता संदिग्ध है।

33.3.3 पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज- जिस पृष्ठभूमि में इन सिद्धान्तों की रचना की गई वह पाप पूर्ण थी। सिद्धान्तों की रचना राष्ट्रों की स्वायत्ता और अखण्डता की रक्षा के लिए की गई थी ताकि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। किन्तु तिब्बत की स्वायत्ता के अपहरण का चीन द्वारा अपहरण किया गया।

33.3.4 प्रपिपादकों द्वारा सिद्धान्तों की अवहेलना करना- पंचशील के सिद्धान्त भारतीय राजनीति की हार सिद्ध हुए हैं। भारतीय राजनीति इस तथ्य को नहीं समझ सकी कि जब चीन 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नामे लगा रहा था तो वह भीतर ही भीतर भारत पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। चीन ने पहले 1959 में तिब्बत को हड़प लिया और फिर 1962 में भारत पर और 1979 में वियतनाम पर आक्रमण कर इन सिद्धान्तों की कब्र खोद दी। अन्य राष्ट्रों ने इन सिद्धान्तों को मानते हुए भी इनकी अवहेलना की। रूस ने पंचशील के सिद्धान्तों को मान्यता देने के पश्चात् 1956 में हंगरी में, 1968 में चैकोस्लोवाकिया में और 1979 में अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने 1956 में मिस्र पर आक्रमण करके इन सिद्धान्तों की कब्र खोद दी, अमरीका ने 1983 में ग्रेनेडा में, लीबिया और निकारागुआ में तथा 1989 में पनामा जैसे लातीन अमरीकी देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके इनके खोखलेपन को सिद्ध कर दिया है।

33.4 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत शान्ति का देवदूत माना जाता है। उसकी यह धारणा रही है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचाराधाराओं में सह-अस्तित्व की भावना का विकास पैदा हो। यदि सहअस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता है तो आणविक शस्त्रों से सम्पूर्ण विश्व का विनाश हो जायेगा। इसी कारण भारत ने प्रारम्भ से ही विश्व शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण को परम आवश्यक माना। यही कारण है कि जब 1963 में आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि हुई तो भारत बहुत पहला देश था जिसने अविलम्ब इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु भारत ने 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि पर इसलिए हस्ताक्षर नहीं किये ब्योंकि महाशक्तियाँ इस प्रकार की सन्धि द्वारा विश्व में परमाणु शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहती हैं और छोटे और अल्पविकसित राष्ट्रों को अपनी दया पर निर्भर बनाना चाहती है।

33.5 सारांश-

पंचशील के सिद्धान्तों में कमियों के बाद भी इसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशेष महत्व है। इन सिद्धान्तों ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की जड़ पर कुठाराधात किया है। इन्होंने "शीत युद्ध के कोहरे" को हटाने का प्रयास किया है। इन्होंने इस बात पर बल दिया है कि किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र को कम शक्तिशाली राष्ट्रों पर राजनीतिक सैनिक या आर्थिक शर्तें नहीं लादनी चाहिए। ये राष्ट्रों के प्रादेशिक और आर्थिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों पर कुठाराधात करते हैं।

ये सिद्धान्त शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा दूसरे देशों में कठपुतली सरकारों के निर्माण, विद्रोहात्मक कार्यों और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और अखण्डता में हस्तक्षेप की निन्दा करते हैं। पंचशील के सिद्धान्तों में सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति और कार्यान्वयन विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित कर सकती है। इस सिद्धान्त के आधार पर परस्पर विरोधी विचाराधारा वाले राष्ट्र एक-दूसरे से सहयोग कर रहे हैं। इस सिद्धान्त के विकास ने राष्ट्रों के पारस्परिक वैमनस्य में शैथिल्य की स्थिति का विकास किया है।

यह सत्य है कि पंचशील के सिद्धान्तों में आदर्श भाव अधिक है परन्तु राष्ट्रों के जीवन में आदर्शों का उतना ही महत्व है जितना कि व्यक्ति के जीवन में।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिये ?
- शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की वर्तमान में क्या प्रासंगिकता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- पंचशील सिद्धान्त का जन्म कब और किसने किया ?
- क्या भारत की विदेश नीति में पंचशील सिद्धान्तों को अपनाया गया है ?

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ—341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातक (तृतीय वर्ष)

विषय : राजनीति शास्त्र

ढितीय पत्र : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

संवर्ग

- संवर्ग-1 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 1945 के बाद प्रमुख विकास शीत युद्ध, देतॉ (तनाव शिथिलीकरण) शीतसुद्धोतरकाल गुटनिरपेक्षता आन्दोलन, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, उत्तर-दक्षिण, दक्षिण-दक्षिण संवाद, यूरोपीय आर्थिक समुदाय।
- संवर्ग-2 संयुक्त राष्ट्र : संगठन, भूमिका का मूल्यांकन निरस्त्रीकरण : प्रयास, समस्याएँ, मूल्यांकन, सी.टी.बी.टी., एन. पी. टी., स्टार्ट।
- संवर्ग-3 संयुक्त राज्य अमेरिका, साम्यवादी चीन गणतन्त्र, रूस तथा पाकिस्तान की विदेश नीतियाँ।
- संवर्ग-4 भारत की विदेश नीति, अमरीका, चीन, पाकिस्तान, श्रीलंका, दक्षिण अफ्रीका, पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण एशिया के सन्दर्भ में उद्देश्य एवं समस्याएँ, 1968 के बाद परमाणु नीति।
- संवर्ग-5 भारत एवं सार्क। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अहिंसा एवं शान्ति का प्रयोग, पंचशील एवं शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रयास एवं चुनौतियाँ।

विशेषज्ञ समिति

1. प्रो. पी.सी. भाटी
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. प्रो. रमेश दाधीच
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
3. प्रो. बेला भणोत
बीकानेर
4. डॉ. धर्मचंद जैन
भीलवाड़ा
5. डॉ. जुगल दाधीच
लाडनूँ

लेखक

डॉ. जुगलकिशोर दाधीच

संपादक

प्रो. धर्मचन्द जैन

कापाराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 800

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offset,
G1/232, RIICO Industrial Area, Heerawala Ext., Konota, Jaipur (Raj.)

विषय - सूची

क्र. सं.	इकाई	पृष्ठ-संख्या
1.	द्वितीय विश्व युद्धोत्तर : विकास	01—08
2.	शीत युद्ध	09—22
3.	देतान्त	23—30
4.	गुटनिरपेक्ष आन्दोलन	31—44
5.	नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था	45—49
6.	उत्तर-दक्षिण संवाद	50—56
7.	दक्षिण-दक्षिण संवाद	57—60
8.	यूरोपीय आर्थिक समुदाय	61—63
9.	संयुक्त राष्ट्र संघ : उद्देश्य तथा सिद्धान्त	64—73
10.	महासभा : संगठन एवं भूमिका	74—79
11.	सुरक्षा परिषद्	80—85
12.	न्यास परिषद्	86—90
13.	आर्थिक और सामाजिक परिषद्	91—95
112.	सचिवालय	96—99
15.	अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय	100—103
16.	संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य एवं उपलब्धियाँ	104—120
17.	निःशास्त्रीकरण : प्रयास और समस्याएँ	121—130
18.	अणु अप्रसार सन्धि, स्टार्ट और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि	131—133
19.	संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति	134—159
20.	साम्यवादी चीन की विदेश नीति	160—168
21.	रूस की विदेश नीति	169—174
22.	पाकिस्तान की विदेश नीति	175—180
23.	भारत की विदेश नीति	181—196
24.	भारत-अमेरिका सम्बन्ध	197—203
25.	भारत-चीन सम्बन्ध	204—208
26.	भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध	209—213
27.	भारत-श्रीलंका सम्बन्ध	214—218
28.	भारत-इजरायल सम्बन्ध	219—221
29.	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण एशिया	222—225
30.	1968 के बाद परमाणु नीति	226—230
31.	भारत एवं सार्क	231—237
32.	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अहिंसा एवं शान्ति	238—241
33.	पंचशील एवं शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति	242—244